कृष्ण और मानव सम्बन्ध

कृष्ण और मानव-सम्बन्ध

लेखक
हरीन्द्र दवे
अनुवादक
भानुशंकर मेहता

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रस्तावना

१९८० की जन्माष्टमी के समय यह पुस्तक प्रगट हो ऐसा संकल्प मैंने प्रकाशन संस्था के मुख्य कार्यवाहक श्री अरविन्दभाई पंड्या ने और संस्था के प्रतिनिधि श्री चंद्रकांत याज्ञिक ने किया था। परन्तु श्री कृष्ण का संकल्प कुछ और ही था। अस्तु, 'समर्पण' के संपादक, प्रकाशक और मुझसे हुई असंख्य पूछताछ के बावजूद यह पुस्तक समय से उपलब्ध नहीं करायी जा सकी। परन्तु कृष्ण की कथा के प्रकाशन के लिए कोई क्षण कभी भी विलम्ब का नहीं होता।

इस दौर में कृष्ण ने मेरे प्रकाशक के इस पुस्तक की शुद्धि के लिए सावधानी रखने वाले श्री बालुभाई पारेख तथा मुद्रक श्री डाह्याभाई पटेल के धैर्य की ठीक-ठीक परीक्षा ली है। कलाकार दिनेश शाह ने जल्दी से मुखपृष्ठ का चित्र बनाया और मित्र-मण्डली ने अन्त में प्रकाशन जल्द कराने में मदद की। पीछे के पृष्ठ पर अनोखी सिद्धि प्राप्त करनेवाले तथा मौलाना आजाद की कृति 'गुबारे खातिर' का हिन्दी अनुवाद करनेवाले श्री मदनलाल जैन ने अपने मरोड़दार अक्षरों में 'भारत सावित्री' के श्लोक लिख दिये हैं। अब जब ४७६ पृष्ठ मुद्रित होकर पड़े हैं, तब सब लोगों ने यह भगीरथ काम कितनी संपन्नता से पार लगाया है इसका ख्याल आता है। इन सबका ऋण स्वीकार करता हूँ।

'अनुकथन' (पृष्ठ ३६६) में कितना ही ऋण स्वीकार स्वतः हो गया है। फिर भी याद आये उन ऋणों को स्वीकार करने का अवसर लेता हूँ। सुरेश और घनश्याम तो इस लेखन के साथ संलिप्त हैं ही परन्तु जिस श्रृंखला के उपक्रम में यह व्याख्यान दिया गया था उसका, भगिनी सेवा मन्दिर, कुमारिका स्त्री मण्डल (विले पारले) की ओर से संयोजिका श्रीमती सुनिताबहन शेठ ने इस व्याख्यान में गहरी रुचि ली थी उनका कृतज्ञ भाव से स्मरण करता हूँ। यह कृति लिखी जा रही थी तब श्री मुकुन्दराय पाराशर्य, श्री महाशंकर रावल, श्री लल्लूभाई पटेल, डॉ० भनोज भाई व्यास आदि ने सूचनाएँ या प्रोत्साहन दिये उनका भी मेरे लिए बड़ा मूल्य है। 'आप अब खराब लिखेंगे तभी फोन करूँगा' ऐसा प्रोत्साहन के रूप में कहते अरविंद दलाल तथा कुछ भी तनिक-सा अच्छा लगे तो फौरन फोन करते विपिन पारिख की ऊष्मा की महिमा इस यात्रा में कम नहीं है। यह श्रृंखला लिखनी

शुरू की तब मेरे मित्र जगदीश जोषी ने इस विषय में रुचि व्यक्त की थी। यह समाप्त हुई उससे पहले कृष्ण ने उन्हें प्यारा कर लिया यह घटना याद आती है तब गीता और अनुगीता के पाठ के उपरान्त भी विषाद घेर लेता है।

प्रेस में भेजने के लिए पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार की तब उसमें के संस्कृत श्लोक फिर एक बार देखने की चौकसी लेने की आवश्यकता आ खड़ी हुई। कु० हेमांगिनी बाई ने यह कार्य लगन के साथ पूरा किया इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। मुद्राराक्षस अपना भोग लिये बिना नहीं रहता। महत्व की भूलों का शुद्धि पत्रक देने का विचार किया था, पर इसके लिए फिर पुस्तक-प्रकाशन में विलम्ब करना ठीक न लगा, मूल पुस्तक के पृष्ठ ३६९ पर यजुर्वेद के स्थान पर आयुर्वेद छपा है तथा ३७९वें पन्ने पर संहार के स्थान पर अहंकार छपा है। ये सरलता से पकड़ में न आयें, ऐसी भूलें हैं।

संस्कृत श्लोकों में अनुवर्तते के स्थान पर 'वर्तते' आये तब अनुवाद के सहारे या छंद ख्याल हो तो सुधारकर पढ़ना संभव होगा। अपने ढंग से सुधारकर पढ़ेंगे ऐसी श्रद्धा है।

महाभारत के कृष्ण विरल विभूति हैं। उनका चरित्र खुलता है तब से वे असंख्य मनुष्यों में से ही एक लगते हैं। पर धीरे-धीरे उनका ऐश्वर्य प्रगट होता चलता है। महाभारत में कृष्ण के साथ संश्लिष्ट रसों की यहाँ सूची नहीं देनी है। कृष्ण विविध मनुष्यों के साथ, पार्थ के साथ विविध सम्बन्धों में किस प्रकार से उभरते हैं इसे ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। कहीं अर्थघटन में भूल भी की होगी। पर मूल से अलग जाकर कुछ भी न कहना इस संकल्प का अन्त तक निर्वाह किया है। कृष्ण और महाभारत में की कृष्ण-कथा तो विराट्रूप है, दिव्यचक्षु बिना मैंने यह स्वरूप अपनी तमाम सीमाओं के अन्दर ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। अस्तु, यहाँ जहाँ भी कुछ दिव्य दिखाई पड़े वह कृष्ण का है। पुनः समूचे लेखन पर दृष्टिपात करता हूँ तो कितनी ही कमियाँ अर्थघटन की भी दिखाई पड़ती हैं। पृष्ठ ३८ पर मूल संस्कृत में 'परस्य' शब्द है, पर की, पराये की ऐसा अर्थ होना चाहिये वहाँ शत्रु की ऐसा अर्थ हुआ है, यह भूल है। व्यवस्था मेरे अध्ययन के साथ जुड़ा हुआ वरदान नहीं है। पहले तीन खंड एक व्याख्यान के रूप में लिखे गये : इस कारण प्रारंभिक पर्वों में गहराई से प्रवेश नहीं किया जा सका है, इस बात का मुझे बराबर ख्याल है। यहाँ जो प्रकरण हैं वे किसी निश्चित योजना के अनुसार नहीं लिखे गये हैं। हर पखवारे महाभारत का जितना भी अंश पढ़ा उस

पर लिखा। जहाँ भी सहज रूप से अटक जाना पड़ा वहीं प्रकरण पूरा हो गया। तथापि अब 'अनुकथन' के साथ साठ प्रकरण देखता हूँ तब उनमें कोई अगम योजना दिखाई पड़ती है। इस योजना का श्रेय श्रीकृष्ण को ही अर्पित करता हूँ।

कृष्ण के प्रति बचपन से ही विस्मय और प्रीति रही है, मेरे पिता देवी की पूजा करते थे, बहुत छोटी उम्र में (वे चालीस के थे तब) मुझे बहुत छोटा छोड़कर वे चले गये। परन्तु उनके सप्तशती के मंत्रों की गूँज या खनक अभी भी मेरे कानों में गूँजती है। मेरे बड़े भाई रुद्राष्टाध्यायी का पाठ करते तो मैं उसे सुनता। आज भी भावनगर जाता हूँ तो सुनता हूँ। इसमें कृष्ण कहाँ से आ गये? मेरी दादी की पुरानी लकड़ी की पूजा की पेटी में के स्वामी-नारायण भगवान् और उनके द्वारा की हुई कृष्ण की प्रतिष्ठा के, दादाजी के समय के संस्कार मेरे अन्दर जगे होंगे? खबर नहीं है, कृष्ण शब्द का स्पष्ट उच्चारण बोलना सीखा उससे पहले से कृष्ण को आँखों से पहचानता था ऐसा कहूँ तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। भावनगर के प्रसिद्ध कीर्तन-कार (वैसे तो चार्टर्ड बैंक की बर्मा स्थित एक शाखा के निवृत्त मैनेजर) श्री शांतिशंकर वेणीशंकर मेहता के आख्यानों में कृष्ण से अनेक बार मिला हूँ। गंगाजलिया तलाव के तट पर बैठे माणभट्ट की कथा बड़े भाई के साथ सुनने जाता तब महाभारत की महीनों तक चलती 'सुण जनमेजय राय' की वाणी की खनक अभी भी कानों में गूँजती है। कृष्ण का ध्वनि-स्वरूप, एक के नाम से जानता हूँ। दूसरे के ध्वनि की ही इस समय तो पहचान बची है ऐसा इन दो कथाकारों के सान्निध्य से पहचानने को मिला है। पू० शांतिभाई ने तो मुझे और किशोर वय में ही मृत मेरे फुफेरे भाई नरेन्द्र को पास बैठाकर कीर्तनकार बनाने का प्रयत्न किया था। आज मेरी आवाज की संगीत के साथ कोई निस्बत है ऐसा किसीको नहीं दिखता होगा पर शांतिभाई मेरी आवाज में संभावित कीर्तनकार देखते थे। उनकी वह अपेक्षा मैं पूरी नहीं कर सका पर उनकी बहुसंख्य पुस्तकों का पठन और श्रवण मेरे छंद और लय को चढ़ाने में उपयोगी सिद्ध हुए हैं तथा कीर्तन के गायन के वास्ते उनसे जो ककहरा सीखा था उससे अपने गीतों को गेयता दे सका हूँ, इस बात का स्मरण करता हूँ। पू० शांतिशंकर वेणीशंकर मेहता के कीर्तनों के लिए मेरा अनुराग इतना तीव्र था कि उनकी एकाध पुस्तक को ध्यान में रखकर कवि सुन्दरम ने 'अर्वाचीन कविता' में उनकी बाबत थोड़ा घिसा हुआ लिखा यह पढ़कर मैं बहुत दुःखी हो गया था और पूज्य शांतिभाई ने कितनी पुस्तकें

लिखी है इसकी सूची भी मैंने पू० सुन्दरम को भेजी थी। काव्य के आस्वाद की दृष्टि से 'अर्वाचीन कविता' में विधान की बाबत उस समय जाना था वैसा रोष शायद आज मैं व्यक्त न कर सकूँ तो भी कविता के नाम से रची जाती रचनाएँ कब किस पर टोना करके उसकी जिन्दगी का मार्ग बदल डालती है इसके प्रति सजग हूँ। इसीसे विवेचन के निकष पर कविता कमजोर सिद्ध हो तथापि वह कोई चमत्कार अजाने ही साध सकती है, इस बात की मुझे प्रतीति मिली है, यह निःसंकोच कबूल करता हूँ। इसीसे किसीको कवि के रूप में पूजते मुझे आनंद होता है। पर किसीको भी अकवि कहकर उखेड़ने का मन नहीं होता। प्रगट शब्द-समूह के पार भी कभी-कभी कविता होती है।

कृष्णविषयक चर्चा, अध्यात्मविषयक चर्चा और साहित्यविषयक चर्चा अपने बालमित्र रमेश व्होरा के साथ अनेक बार की है। उस समय की मित्र-मण्डली आज बिखर गई है। शशिकान्त भट्ट, इन्दुकुमार त्रिवेदी, बसन्त दवे, हरिप्रसाद त्रिवेदी और भास्कर भट्ट जैसे मित्रों की खबर बरसों से नहीं मिली है तो भी ताजी है। इनमें अंतिम उल्लेख किया वे भास्कर भी श्री कृष्ण के प्रिय हो गये हैं इस घटना का विषाद है। ह (हरीन्द्र) र (रमेश) भा (भास्कर) इ (इन्दुकुमार) इन चार नामों के आद्य अक्षर संकलित करके 'हरभाइ' के नाम से रचित कृतियाँ कृष्ण द्वारा प्रेरित मानव सम्बन्धों में प्रथम स्थान प्राप्त करती हैं। ये कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं पर बकुल के पुष्प की भाँति स्मरण का जल छिड़कते ही उनकी सुवास अभी भी गमक उठती है।

कृष्ण के नाम से साथ का स्थूल अनुसंधान भी पूरा करने का मन नहीं होता, इसी प्रकार इस प्रस्तावना का पूर्ण विराम भी मुझे नहीं मिल रहा है। अर्धविराम से बात पूरी न करूँ और कृष्ण ने जीवन में हमारे समक्ष जो प्रश्न उपस्थित किये हैं उन्हीं पर ठहर जाऊँ तो?

१० जनवरी, १९८२

—हरीन्द्र दवे

दूसरे संस्करण के सम्बन्ध में

प्रकाशित होने के बाद अल्प समय में अप्राप्य हो गये इस ग्रंथ की नयी आवृत्ति इतने विलंब से प्रगट हो रही है, इसमें इस लेखक का प्रमाद ही जिम्मेदार है। श्री कृष्णवीर दिक्षित ने समूची पुस्तक का रसास्वादन किया, बारीक से बारीक बातों में विद्यमान भूलों और विसंगतियों की ओर ध्यान आकर्षित किया था। सातवलेकरजी तथा गीता प्रेस जैसी दो एक आवृत्तियों के आधार पर यह लेखन हुआ था। इनमें से प्रत्येक के मूल का अवलोकन करके संदर्भों को शुद्ध करने का भगीरथ कार्य श्री बालू भाई पारेख ने किया है। इस हेतु उनका ऋण शिरोधार्य करता हूँ।

सातवलेकरजी की आवृत्ति भांडारकर इंस्टीटचूट की आवृत्ति के अनुसार होने के कारण उसे प्रमाणभूत माना है। गीता प्रेस की आवृत्ति का जहाँ आधार लिया है वहाँ श्लोक संख्या को तारांकित करके इस बात का निर्देश किया है। जहाँ दाक्षिणात्य पाठ के श्लोक है वहाँ श्लोक संख्या नहीं दी है; ऐसे स्थलों में गीता प्रेस के श्लोकों की संख्या के बाद डैश (––) रखकर तारांकन किया है। कितने ही स्थलों पर श्लोक संदर्भ नहीं दिया है, ऐसे स्थानों को भी गीता प्रेस की आवृत्ति का ही समझना चाहिये।

प्रथम संस्करण को प्राप्त हुए सहकार और पाठकों का प्रेम कृष्ण का ही वरदान है। एक पूजनीय संत को शीर्षक में कृष्ण के आगे 'श्री' नहीं लगाया यह अच्छा नहीं लगा था। कृष्ण अपने स्वजन हों तब ऐसा कुछ करें तो उन्हें कितना बुरा लगेगा ? उन्होंने तो स्वयं आगे बढ़कर हम सबकी शाश्वत प्रीति माँग ली है।

३० सितम्बर, १९८८

––हरीन्द्र दवे

•

अनुवाद कथा

वाराणसी में एक छोटा-सा गुजरात भी है। विगत कुछ वर्षों से थोड़े से गुजराती परिवार मिलकर 'गुर्जर साहित्य संगम' के नाम से एक क्लब चलाते रहे हैं। बड़ा अनूठा है यह क्लब ! इसमें कोई पदाधिकारी नहीं, कोई औप-चारिकता नहीं, केवल एक कार्यक्रम—गुजराती साहित्य का वाचन। डॉ० प्रदीप दिक्षितजी के जिम्मे केवल एक काम कि वे सदस्यों को बैठक का समय और स्थान बता दें। फिर लोग (सपरिवार) जुटते ! इनमें प्रसिद्ध चित्रकार श्री वासुदेव स्मार्त, संगीतकार श्री कनकभाई त्रिवेदी, डॉ० प्रदीप दिक्षित, डॉ० अर्चना दिक्षित, डा० बी० डी० गुप्ता, डॉ० गुणवंत मुंसिफ, डॉ० सुवीणा मुंसिफ, श्री हाथी, लेखक तथा अन्य लोग शामिल रहे हैं (दुर्भाग्य से इस समय क्लब बिखर गया है) ! गोष्ठी में गुजराती कविताएं, निबंध, कहा-नियाँ, हास्यव्यंग पढ़े जाते। यहीं मेरा श्री गुणवंतशाह की रचनाओं से परिचय हुआ, फादरवालेस को जाना। फिर एक दिन श्री स्मार्त ने महाभारत संबंधी एक लेख पढ़ा जो मन को छू गया ! ज्ञात हुआ कि गुजराती दैनिक 'जन्मभूमि' के यशस्वी सपादक, कवि, उपन्यासकार और निबंधकार डा० हरीन्द्र दवे की यह कृति है। नाम है "कृष्ण अने मानव संबंधो" ! पुस्तक मँगाई और एक सांस में पढ़ गया। तब इच्छा हुई कि इसका रसा-स्वादन हिंदी पाठकों को भी कराया जाय। अनुवाद करना शुरू किया। मोदीजी ने इसे क्रम से 'मुमुक्षु' में छापना आरंभ किया। दो-तीन अध्याय छपे तो अनेक पाठकों ने प्रशंसा की ! बीस अध्याय छपते-छपते तो मोदीजी अनुरोध करने लगे कि जल्दी से पूरी पुस्तक तैयार कर दूं। 'श्रीकृष्ण' से प्रार्थना की और उन्होंने त्वरित गति से अनुवाद पूरा किया। एक उलझन आयी—पुस्तक में संस्कृत श्लोक हैं और उनका शुद्ध पाठ मूल महाभारत में देखने की चेष्टा की, सातवलेकर जी का पारडी से प्रकाशित 'महाभारत' खरीद लाया और परेशान हो गया कि श्लोक संख्या और कहीं-कहीं पाठ भी भिन्न थे। अनेक श्लोक थे ही नहीं। प्राचीन ग्रंथों के पाठ भेदों के झमेले में फँस गया। कृष्ण ने कहा—'जैसा मूल पुस्तक में है वैसा ही रख दे' वही किया। पुस्तक प्रेस के लिये तैयार हुई। एक दुस्साहस भी कर डाला। मूल पुस्तक में अध्यायों के शीर्षक नहीं है पर 'मुमुक्षु' में छपते समय मुझे प्रत्येक अंश पर शीर्षक लगाना पड़ा। अब पुस्तक में सभी अध्याय

शीर्षकयुक्त है, पता नहीं चयन कितना सही है पर यदि गलत है तो मेरा प्रमाद मानें। पुस्तक पूरी छप गयी तभी समाचार मिला कि गुजराती में दूसरा संस्करण प्रकाशित हो गया है। इसमें दवेजी ने श्लोकों की संख्या और पाठ सातवलेकर और गीता प्रेस के संस्करणों के अनुरूप कर दिये हैं। अनुवाद में इस सुधार की गुंजाइश नहीं थी अस्तु इन्हें अलग से दे दिया है। सुधि पाठकों को कष्ट तो होगा पर जहाँ शंका आये वहाँ इस संशोधन को देख लें। अवसर मिला है अस्तु कुछ प्रेस की भूलें और छूटें भी सुधार दी हैं।

अनुवाद आपके हाथों में है। यह सब गोपाललाल की लीला है और उनके इस अकिंचन पर स्नेह की महिमा है कि उन्होंने मुझे निमित्त बनाया। मूल 'महाभारत' पढ़ने की इस रसप्रदग्रंथ से प्रेरणा मिले, महाकवि व्यास के अद्भुत कृतित्व को समझने की थोड़ी-सी जानकारी मिले (सामान्य पाठक को) तो मुझे मेरे इस बाल-प्रयास का पुरस्कार मिल जायगा।

डा० हरीन्द्र दवे को ऐसा रोचक साहित्य प्रदान करने हेतु एक कृतज्ञ पाठक के रूप में मैं उनका अभिवंदन करता हूँ और आभार मानता हूँ भाई पुरुषोत्तम मोदी का जिन्होंने इसे प्रकाशित करने का जोखिम उठाया। यदि कृति आपको भावे तो लीलाप्रिय नट-नागर कृष्ण कन्हैया का आभार मानि-येगा और नीरस उबाऊ लगे तो आलोचना के पथराव सहने को यह सुदामा तो है ही!

१ जनवरी, १९८९

—**भानुशंकर मेहता**

●

डा० हरीन्द्र दवे : एक परिचय

हरीन्द्र एक नहीं अनेक हैं। वे कवि हैं, उपन्यासकार हैं, नाटककार हैं, निबन्धकार हैं, विवेचक हैं, अनुवादक हैं, और पत्रकार हैं। हरीन्द्र अनेक नहीं एक हैं। वे भले ही उपन्यास लिखें, नाटक लिखें या निबन्ध लिखें, सर्व प्रथम वे कवि हैं और प्रथम श्रेणी के पत्रकार हैं--सम्पादक हैं।

हरीन्द्र की कविता में गीत और गज़ल मुख्य हैं। उनकी कलम ने लम्बी कविताएँ लिखने की चेष्टा की है, 'सॉनेट' भी आजमाई है। पर वे प्रिय लगे हैं गीत-गजल में। हरीन्द्र सफल हैं क्योंकि उन्होंने परम्परा के साथ का नाता आधुनिक माने-जाने की दौड़ में तोड़ नहीं डाला है, बल्कि परम्परा के प्रवाह पर अपनी प्रतिभा के दीपक सतत् तैरते रक्खे हैं। उर्दू कविता का उनका अध्ययन गहरा है। हरीन्द्र की कलम उससे अंजी हुई नहीं, पर मंजी हुई कलम है। हरीन्द्र अनुकरण या अनुसर्जन में जमते नहीं हैं। आस-पास के उनके शोर थम जायं और फिर मौन आत्मसात होने के बाद अपनी आवाज प्रगट हो इसी में उन्हें रस मिलता आता है। इनकी कविता में पूर्णिमा का शान्त प्रकाश और अमावस के अन्धकार की विषाद भरी झुलस मिलती है।

प्रेम और मरण ये इनके सृजन के मुख्य विषय हैं। जगत के साहित्य में ये दोनों विषय महान् विषयों के रूप में माने जाते हैं और लिखे जाते हैं। हरीन्द्र ने अबतक पांच काव्य संग्रह प्रदान किये हैं। हरीन्द्र का प्रथम काव्य संग्रह "आसव" सन् १९६१ में, "मौन" सन् १९६६ में, श्लोक संग्रह अर्पण और गजलों का संग्रह "समय" सन् १९७२ में प्रकाशित हुए। सन् १९७५ में इनका 'सूर्योपनिषद' प्रकाशित हुआ। इन्होंने नौ के लगभग उपन्यास प्रदान किये हैं। इन उपन्यासों में भी प्रेम और मरण मुख्य हैं। इसमें यह भी ज्ञातव्य है कि इन्होंने 'गांधी जी कावड़' जैसी समकालीन परिस्थिति को उद्घाटित करता कटाक्ष-प्रधान उपन्यास भी दिया है। यदि लघु उपन्यास की बात कहें तो 'अनागत' अलग ही तैरता नजर आवे ऐसा उपन्यास है, पात्रों के निमित्त अंततः तो इसमें बुझते गाँव की कथा है। 'माधव क्यांय नथी'—एक लिरिकल उपन्यास कैसा हो सकता है, इसका आभास करा सके ऐसा है।

'कृष्ण अने मानव-सम्बन्धों' सन् १९८२ में प्रकाशित उनका निराला ही ग्रन्थ है। हरीन्द्र को कृष्ण से प्रेम तो है ही, पर महाभारत का अध्ययन

मौलिक अर्थव्यंजना, चिन्तन की गहराई और व्यापकता, यह सब एक साथ इस एक ग्रन्थ में देखने को मिल सकता है। हरीन्द्र की सिद्धि यह है कि उसमें विचार तो होता है, पर विचार का बोझ नहीं होता।

इनके 'मौन' को सन् १९६६ में, 'अनागत' को सन् १९६८ में, 'युगे-युगे' को सन् १९६९ तथा 'माधव क्यांय नथी' को सन् १९७० में गुजरात राज्य का पुरस्कार प्राप्त हुआ था। इनके द्वारा सम्पादित काव्य-संग्रह 'हयाती' को सन् १९७८ में दिल्ली साहित्य अकादमी का पारितोषिक प्राप्त हुआ।

इनकी समकालीन वातावरण की पकड़ और समझ, निर्भयता और व्यवसाय के प्रति संनिष्ठा कैसी विरक्त है। हृदयानुभूति का आदमी जब राजनीति की बात लिखता है तब उसमें बुद्धि और ऊर्मि दोनों का, सेन्सिविटी और सेन्सिबिलिटी का समन्वय देखा जा सकता है।

मेरा सौभाग्य है कि व्यक्ति हरीन्द्र का मैं मित्र हूँ और कवि हरीन्द्र का परम मित्र।

सुरेश दलाल
(प्रसिद्ध गुजराती कवि)

●

१. यतः कृष्ण ततः सर्वे

कृष्ण का प्रवेश

महाभारत का आरम्भ श्रीकृष्ण के नारायणस्वरूप के स्मरण के साथ होता है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ।।

परन्तु पात्र रूप में कृष्ण बहुत देर में प्रवेश करते हैं। आदिपर्व में कृष्ण का उल्लेख मिलता है—

यस्तु नारायणो नाम देवदेवः सनातनः ।
तस्यांशो मानुषेष्वासीद् वासुदेवः प्रतापवान् ।।

(आदि० १६७; १५३)

जो सनातन हैं, देवों के देव हैं, ऐसे श्री नारायण हैं, उनके अंश में से प्रतापवान् वासुदेव मनुष्यलोक में प्रकट हुए।

पर ये सब तो उल्लेखमात्र हैं। महाभारत में पात्र-रूप में कृष्ण सक्रिय बनें इसकी राह देखनी पड़ती है। द्रौपदी-स्वयंवर के समय कृष्ण पहली बार पात्र-रूप में क्रियाशील बनते हैं। महाभारत की समूची कथा का जिन पर आधार है और जिनका प्रभाव और प्रताप अपार है ऐसे कृष्ण के प्रथम प्रवेश को बिल्कुल अनाटकीय बनाकर कविवर व्यास ने अपनी प्रतिभा का समर्थ परिचय दिया है। ऐसे पात्र के प्रथम प्रवेश को अनाड़ी कवि नाट्यात्मक बनाये बिना नहीं रह सकता, पर सूर्य के आकाश में प्रवेश करने को नाट्यात्मक नहीं बनाया जा सकता यह बात वेदव्यास अच्छी तरह जानते हैं।

इसीसे जब धृष्टद्युम्न अपनी बहन द्रौपदी के स्वयम्वर में उपस्थित रहने हेतु महानुभावों की सूची प्रस्तुत करते हैं तो उसका आरम्भ कृष्ण से नहीं होता, दुर्योधन से होता है। दुर्योधन आदि के नामों के बाद के सोलह श्लोकों तक विविध नाम आते रहते हैं। सत्रहवें श्लोक में अनेक में से एक और नाम गिनाते हों इस अदा से, धृष्टद्युम्न के मुख से ये शब्द कहलवाये गये हैं—

संकर्षणो वासुदेवो। (आदि० १८८; १७)

संकर्षण माने बलराम और वासुदेव माने कृष्ण। इसके बाद भी सूची आगे चलती है। महाभारत की समूची सृष्टि जिस पर आधारित है उसका नाम इस तरह अधबीच—अच्छे-बुरे अतिथियों की सूची के मध्य में आ जाता है। फिर भी कृष्ण की ओर कवि ध्यान आकर्षित करते हैं, नाम से नहीं, कृष्ण में ही सम्भव है ऐसी एक विलक्षणता से।

द्रौपदी-स्वयंवर के समय सभी राजपुरुष द्रौपदी को देखने में ही मगन हो गये हैं, और यह द्रौपदी भी कैसी है?

वर्तमाने समाजे तु रमणीयेऽह्नि षोडशे।
आप्लुताङ्गी सुवसना सर्वाभरणभूषिता॥
मालां च समुपादाय काञ्चनीं समलंकृताम्।
अवतीर्णा ततो रंगं द्रौपदी भरतर्षभ॥
(आदि० १८७; ३०)

इस श्लोक का अर्थ समझें उससे पूर्व देखें यह 'भरतर्षभ' सम्बोधन किसके लिए हुआ है और यह जानने हेतु महाभारत के कथनात्मक अंश के जानने योग्य तथ्य देख लेने चाहिए। यह कथा रची है व्यास ने। उस जमाने में मुद्रणालय नहीं थे, अतः वह मुख-परम्परा से टिकी रही होगी। वैशंपायन ने यह कथा जनमेजय को सुनायी। जनमेजय परीक्षित् का पुत्र था, अर्जुन का प्रपौत्र। यहाँ 'भरतर्षभ' सम्बोधन वैशंपायन ने जनमेजय को किया है। यह कथा वैशंपायन ने कही तब सूतवंशी पुराणी उग्रश्रवा उपस्थित थे। उन्होंने यह कथा शौनकादि-ऋषियों को सुनायी। अतः हमारे पास जो कथा आयी है वह उग्रश्रवा की स्मृति से आयी कथा है।

अब हम द्रौपदी के वर्णन की ओर आवें। कवि कहता है—द्रौपदी ऋतुकाल के बाद के सोलहवें दिन स्नान करके, सुन्दर वस्त्र पहनकर, सब आभूषणों से सुशोभित, और इन आभूषणों से लदी नहीं, पर 'समलंकृताम्' ऐसी यह द्रौपदी रंगभूमि में प्रवेश करती है और उस समय—

तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदा स्म सर्वे
कन्दर्पबाणाभिहता बभूवुः।
(आदि० १८९; १२)

सभी राजपुरुष तो ठीक, पर वीर पाण्डुपुत्र भी इस द्रौपदी को देखकर कन्दर्पबाण से (कामदेव के बाण से) घायल हुए थे। कृष्ण की विशेषता यहाँ प्रकट होती है। जब सब कोई कन्दर्पबाण से घायल होकर विवश नजर से द्रौपदी को देख रहे थे, तब कृष्ण क्या कर रहे थे ?

दृष्ट्वा तु तान्मत्तगजेन्द्ररूपान्
पंचाभिपद्मानिव वारणेन्द्रान्।
भस्मावृतांगानिव हव्यवाहनान्
कृष्णः प्रदध्यौ यदुवीरमुख्यः ॥

(आदि० १८९; ९)

पद्मिनी की ओर दौड़ते गजराजों की तरह द्रौपदी को ताक रहे, भस्म से ढँकी अग्नि जैसे, पाँच पांडवों को देखकर, यदुवीरों में मुख्य ऐसे श्रीकृष्ण जान गये कि ये पांडव हैं।

सबकी दृष्टि द्रौपदी पर थी, कृष्ण की दृष्टि द्रौपदी को निरख रहे लोगों पर थी। यहाँ कृष्ण नरोत्तम के रूप में, पुरुषोत्तम के रूप में, आते हैं। सब लोग जब द्रौपदी की रूपज्वाला को देखने में तन्मय हैं, तब अपनी बुआ कुन्ती के पुत्र इस स्वयंवर में आये हैं या नहीं, यह जानने के लिए, कृष्ण इन राजपुरुषों, ब्राह्मणों, सभी लोगों को देख रहे हैं। पांडव छिप सकें, ऐसे नहीं थे। वे 'भस्म से ढँके अंगारों' जैसे थे। पर पांडवों की ओर दृष्टि मात्र दो की है, एक हैं कृष्ण और दूसरे द्रुपद। पांडव लाक्षागृह से उबर गये हों और स्वयंवर में आ जायँ, ऐसी द्रुपद की चाहना में, पुत्री को धनुर्धर पार्थ जैसा पति मिले ऐसी स्वार्थवृत्ति है। कृष्ण की दृष्टि निःस्वार्थ है। पांडव बुआ के पुत्र हैं इसलिए नहीं, पर वे धर्मधारक राजपुत्र हैं इसलिए, वे पांडव का सम्मान करते हैं। इस समय आर्यावर्त का शासन अधर्मियों के हाथ में जा रहा था, तब धर्मरक्षकों के हाथ में उसकी बागडोर आये ऐसी कृष्ण की कामना थी।

इस प्रकार कृष्ण महाभारत में प्रथम प्रवेश करते हैं तभी कवि किसी विशेषण का उपयोग किये बिना, कथनात्मकता में कोई धमाका किये बिना औरों से एक बित्ता ऊँचे मानव के रूप में, उनकी महिमा स्थापित कर देता है।

पांडव जीवित हैं, यह खबर धृतराष्ट्र को मिलती है। धृतराष्ट्र महाभारत का महान् खल-पात्र है। वह अब दुर्योधन, कर्ण इत्यादि से पांडव के प्रतिकार के लिए कौन-सी युक्ति की जा सकती है, ऐसा प्रश्न करते हैं। कर्ण इसका जो उत्तर देता है उसमें कृष्ण का बित्ताभर ऊँचे मानव का रूप अधिक उत्कृष्ट रूप में प्रकट होता है। दुर्योधन पांडवों में भेद डालने, द्रौपदी में असंतोष जगाने या द्रुपद को ललचाने की बात करता है। परन्तु कर्ण सारी परिस्थिति के कीलक को—मर्म को प्राप्त कर सका है। वह कहता है कि कृष्ण पांडवों की मदद को आवें, उससे पहले ही पांडवों का नाश करें। और फिर आगे कहता है—

वसूनि विविधान्भोगान् राज्यमेव च केवलम्।
ना त्याज्यमस्ति कृष्णस्य पाण्डवार्थे कथंचन॥

(आदि० २०४; १६)

कृष्ण पाण्डवों के होकर धन, विविध प्रकार के भोगों को या राज्य को भी छोड़ सकते हैं, यह बात कर्ण जोर देकर कहता है। मैत्री का, मानव-सम्बन्ध का यह विरल आदर्श है। पांडवों को कृष्ण मिले तो वे अजेय बन जाते हैं, कारण यह है कि कृष्ण पाण्डवों के लिए अपने सर्वस्व की बाजी लगा देने को तैयार हैं।

इसी चर्चा के दौरान विदुर पाण्डवों को वापस बुलाकर उन्हें आधा राज्य देने की भीष्ण-द्रोण की प्रस्तावना का समर्थन करता है और युद्ध के लिए कर्ण की बातों का खण्डन करते हुए कहता है—

यतः कृष्णः ततः सर्वे यतः कृष्णस्ततो जयः।

(आदि० २०७; २६)

जहाँ कृष्ण है, वहीं सब हैं, जहाँ कृष्ण है वहीं विजय है।

इसके बाद यह वाक्य महाभारत में भिन्न-भिन्न अवसरों पर प्रतिध्वनित होता ही रहता है, इसके मूल में कृष्ण के मैत्री-सम्बन्ध का कर्ण द्वारा स्थापित किया हुआ आदर्श विद्यमान है। कृष्ण जब चाहते हैं तब समस्तता के साथ चाहते हैं। एक सन्त ने कहा था, 'कृष्ण की साधना विकट है। शिव सहज ही तत्काल प्रसन्न हो जाते हैं। क्रोधित भी तुरन्त हो जाते हैं। कृष्ण को प्रसन्न होने में देर लगती है। पर एक बार कृष्ण रीझे तो फिर आदमी को और कुछ भी करने

को बाकी नहीं बचता।' कृष्ण पाण्डवों पर रीझे हुए हैं। पाण्डवों के साथ उनका आत्मीय सम्बन्ध है। द्रौपदी-स्वयंवर के समय कृष्ण के मुँह से ही इस बात की प्रतीति मिलती है। ब्राह्मण-वेश में विद्यमान पाण्डवों की ओर बलराम का ध्यान आकर्षित करते हुए कृष्ण कहते हैं—

एषोऽर्जुनो नात्र विचार्यमस्ति
यद्यस्मि संकर्षण ! वासुदेवः ॥

(आदि० १९१; २०)

हे संकर्षण, (अर्थात् हे बलराम) मैं वासुदेव हूँ, यह जितना पक्का है, उतना ही यह भी कि यह ब्राह्मण अर्जुन है, यह पक्का है।

अपने कृष्णपन को अर्जुन के अर्जुनपन के साथ कृष्ण रख देते हैं। कृष्ण की इतनी आत्मीयता जिसे मिले उसकी पराजय कैसे हो सकती है ? पराजय त्यक्त लोगों की हो सकती है, पर दुनिया द्वारा त्यक्त होने के बावजूद, कृष्ण जिसका हाथ पकड़ें उसकी पराजय सम्भव ही नहीं है।

कृष्ण की मैत्री पाण्डवों के लिए संजीवनी है। कर्ण की इस मान्यता का समर्थन करनेवाले प्रसंग तत्काल ही होने लगते हैं। धृतराष्ट्र, दुर्योधन, कर्ण इत्यादि की अनिच्छा के बावजूद पाण्डवों को वापस बुलाना पड़ता है। हस्तिनापुर की राजधानी दुर्योधन के हाथों रहने देकर, खाण्डवप्रस्थ नामक जङ्गल जैसे ग्राम में निवास करने की आज्ञा धृतराष्ट्र, भीष्म आदि देते हैं। पाण्डव ऐसे जङ्गल में क्या राज्य करेंगे, ऐसी कौरवों की धारणा को कृष्ण मिथ्या बनाते हैं। कृष्ण उनके साथ खाण्डवप्रस्थ में जाते हैं; यादवों की समूची सम्पत्ति वहाँ लगा देते हैं। कृष्ण के सहयोग से इस जङ्गल में ऐसा नगर बसता है कि—

पुरं स्वर्गवदच्युताः। (आदि० २०९; २८)

यह कृष्ण और अर्जुन के सख्य की बात कितनी कही जाय और कितनी न कही जाय यह प्रश्न पैदा हो जाता है। कृष्ण ने अर्जुन को ही गीता क्यों सुनाई, यह प्रश्न महाभारत बाँच जानेवाले या कृष्णार्जुन-सम्बन्धों को समझ जानेवाले के सामने शायद ही कभी आता है। तो भी अर्जुन

तो अर्जुन है और कृष्ण कृष्ण हैं। यह समझने के लिए हम खाण्डवदहन के बाद के एक प्रसङ्ग के निकट पहुँचें।

खाण्डवदहन के बाद जो काम देवता भी न कर सके वह काम कृष्ण और अर्जुन ने कर दिखाया, इससे प्रसन्न होकर इन्द्र उनसे कहते हैं—

वरं वृणीतं तुष्टोऽस्मि दुर्लभं पुरुषेष्विह।

(आदि॰ २३६; ८)

मैं प्रसन्न हूँ। आप वरदान माँगें! पुरुष के लिए दुर्लभ हो, ऐसा वरदान माँगें, मैं वह दूंगा।

अर्जुन की दृष्टि स्व-पराक्रम की ओर है, स्वार्थ की ओर है। अतः वह माँगता है दिव्यशस्त्र। स्वार्थपरायण माँग पूरी होने में विलम्ब होता है। आप अपने लिए माँगें तो तुरन्त नहीं मिलता। दूसरों के लिए माँगें तो तुरत फलता है। अर्जुन अपने लिये माँगता है, अतः इन्द्र कहते हैं कि तुम्हें दिव्य शस्त्र तो मिलेंगे पर उसके लिए तुम्हें तप करना होगा और तुम्हारे तप से प्रसन्न होकर शिव तुम्हें ये शस्त्र प्रदान करेंगे।

फिर इन्द्र कृष्ण से वरदान माँगने को कहते हैं, यह भी एक कला है। कृष्ण इस कला में निष्णात हैं। कृष्ण को खाण्डवदहन-प्रसंग में दो बार वरदान माँगने का अवसर मिलता है। एक इन्द्रदेव से, दूसरा मयदानव से। दोनों ही बार कृष्ण अपने लिए कुछ नहीं माँगते। इन्द्र 'पुरुष के लिए दुर्लभ' ऐसा कोई 'वर' माँगने को कहते हैं, तब कृष्ण उत्तर देते हैं—

प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्। (आदि॰ २३६; १३)

पार्थ के प्रति मेरी प्रीति शाश्वत हो।

अनुष्टुप् की इस अर्धाली का भाष्य करने के लिए एक पुस्तक भी कम पड़ेगी। अर्जुन के प्रति प्रीति तो यहाँ माँगी ही है, पर 'शाश्वत' प्रीति माँगी है। अर्जुन नश्वर है पर प्रीति तो शाश्वत ही है। पुनः 'पार्थ' का एक और अर्थ भी है। पार्थ माने पृथा का पुत्र। पृथा माने कुन्ती तो है ही, पर उसका दूसरा अर्थ विस्तीर्ण या पृथ्वी भी होता है। पृथ्वी का पुत्र—'मनुष्य' वह भी तो वास्तव में पार्थ ही है। अतः कृष्ण

ने इन्द्र से मात्र अर्जुन के प्रति ही नहीं, मनुष्य-मात्र के प्रति शाश्वत प्रीति माँगी है, इन्द्र का यह वरदान फलता भी है। कृष्ण की सबसे प्रीति रही है—सबकी कृष्ण के साथ।

अर्जुन ने इन्द्र से शस्त्र माँगे, कृष्ण ने माँगा अर्जुन के प्रति–मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम। महत्त्वाकांक्षा मनुष्य की मर्यादा है। प्रेम भगवान् का विस्तार है। इन दो वरदानों के भाष्य में मानव-सम्बन्धों का एक अध्याय समा जाता है।

खाण्डवदहन के समय जो छह व्यक्ति उबर गये या कहें कि कृष्ण और अर्जुन ने उबर जाने दिया, उनमें एक है मयदानव। वह अपने जीवनदाता का ऋण चुकाना चाहता है। अर्जुन कहता है कि उपकार के बदले में मैं कुछ भी नहीं ले सकता। मय का कृष्ण और अग्नि के प्रति रोष है। मय अर्जुन से ही कुछ माँगने के लिए अत्याग्रह करता है। इस समय अर्जुन कहता है—'कृष्ण कहते हैं वह करो!' कृष्ण जो कहते हैं और करते हैं उसीमें मेरा श्रेय है, ऐसा अर्जुन का स्थिर संकल्प यहाँ प्रकट हुए बिना नहीं रहता। कृष्ण उससे मृत्युलोक में जिसका जोड़ न मिले ऐसी एक मायावी सभा की रचना करने को कहते हैं। 'सभा' का अर्थ संस्कृत कोश में देखने योग्य है। सभा माने सभा या समाज का सभागृह या न्यायमन्दिर और द्यूतगृह। ये सभी अर्थ महाभारत के सभापर्व में आ जाते हैं।

मयदानव द्वारा विरचित यह मायावी सभा ही कुरुकुल के विनाश की नींव में है। और सभा रचने की परिकल्पना कृष्ण की ओर से आती है। यह बहुत ही सूचक घटना है। कुरुकुल का विनाश कृष्ण बहुत पहले देख सके थे। इसके अनुसन्धान में एक उपवार्ता देखने द्रोणपर्व तक चलें। महाभारत का घोर युद्ध चल रहा है, भीष्म उत्तरायण की प्रतीक्षा करते शरशय्या पर सोये हैं, द्रोण सेनापति हैं, तब कृष्ण और अर्जुन दोनों का मित्र तथा भक्त सात्यकि एक दिन युद्ध में प्रबल पराक्रम करता है। वह द्रोण, कृतवर्मा, दुर्योधन आदि को पराजित करता है। इसके बाद सात्यकि अपने सारथि से ये शब्द कहता है—

निमित्तमात्रं वयमत्र सूत
दग्धारयः केशवफाल्गुनाभ्याम्। (द्रोण० ९४; २)

वह कहता है, हे सूत, (सारथि) हम लोग तो निमित्तमात्र हैं। ये शत्रु तो केशव और फाल्गुन (अर्जुन का एक नाम) द्वारा न जाने कब, पहले ही भस्मीभूत हो चुके हैं। हम तो मरों को ही मार रहे हैं।

द्रोण या कृतवर्मा जैसे वीरों का दम निकालकर रणभूमि से भगाने के बाद अन्य कोई भी वीर अहंकार में डूबकर, अपनी प्रशस्ति का शंख फूंकने लगा होता, पर सात्यकि तो, अपना सारथि भी बात बढ़ाकर न कहे, इस वास्ते उससे कहता है : हम तो जो कृष्ण-अर्जुन द्वारा मारे जा चुके हैं उन्हींका दम निकाल रहे हैं।

'निमित्तमात्र' यह शब्द समस्त महाभारत में बारंबार गूँजता रहता है, युद्ध की 'रम्य' कथा के बीच तो खासतौर से।

कृष्ण मयदानव से सभा का निर्माण करने को कहते हैं और इसी सभा में 'जल का स्थल और स्थल का जल' की माया में उलझे दुर्योधन को द्रौपदी ताना मारती है। इसीमें कुरुकुल के विनाश का बीज आरोपित होता है। यह सभा निर्मित न हुई होती तो शायद दुर्योधन की पाण्डवों के प्रति, ईर्ष्या इतनी उत्कट न हुई होती, तो सभा माने 'द्यूतगृह' यह अर्थ दुर्योधन के मन में न बसा होता। इस सभा का निर्माण और सभा के परिणामस्वरूप हुए संहार का निर्माण भी कृष्ण ने ही किया था।

२. अर्जुन का वनवास

अर्जुन के जीवन में कृष्ण ने आधारभूत भूमिका निभायी है। कृष्ण को पांडवों के प्रति प्रीति थी पर पार्थ के प्रति उन्हें पक्षपात था। इन्द्र से माँगे वरदान में वह प्रकट हो जाता है। कृष्ण ने अर्जुन के जीवन में दो अवसरों पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सर्वप्रथम तो द्रौपदी-स्वयंवर से शुरू करके सुभद्रा-हरण के बीच के अर्जुन के जीवन को कृष्ण ने ही मोड़ दिये हैं। यह मोड़ यदि अर्जुन के जीवन में न आया होता तो कदाचित् जिस अर्जुन को हम जानते हैं वह अर्जुन न बना होता।

भगवान् वेदव्यास ने महाभारत की रचना इस प्रकार से की है कि उन्होंने अनेक कड़ियाँ पाठक के अर्थ लगाने हेतु ही छोड़ दी हैं। पात्र के मनोविश्लेषण में वे प्रवृत्त ही नहीं हुए हैं। वे पात्र के कार्य-

वर्णन करते हैं और इसके द्वारा उसके मनोगत भावों को अनेक रंग-वाले रूपों में प्रस्तुत करते हैं। इससे अर्जुन ने द्रौपदी-स्वयंवर और सुभद्रा-हरण इन दो घटनाओं के बीच जो कुछ भी किया उसमें उसके मनोगत भावों और इन मनोगत भावों के सूक्ष्म रूपान्तर के लिए कृष्ण की भूमिका हेतु हमें अपने निहित अर्थ ढूँढ़ लेने होंगे।

दूसरा अवसर है कुरुक्षेत्र में कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने या न करने की दुविधा के प्रसंग में जो संबल दिया था वह। इस बाबत तो इतने अर्थ लगाये गये हैं कि अब उसमें कोई नई बात पैदा करने की सूझे तभी कुछ लिखना चाहिए। परन्तु प्रथम प्रसंग की बाबत अभी अधिक नहीं लिखा गया है।

द्रौपदी-स्वयंवर के बाद खांडवप्रस्थ में पांडव बसते हैं और कृष्ण वापस द्वारका लौट जाते हैं, तब तक द्रौपदी पाँच पतियों से ब्याही गयी फिर भी उनके साथ कैसे रही इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। पर इस प्रश्न का महत्त्व है और इसीसे जनमेजय के मुख में भगवान् वेदव्यास ने यह प्रश्न रखा है :

> कथं च पञ्च कृष्णायामेकस्यां ते नराधिपाः।
> वर्तमाना महाभागा नाभिद्यन्त परस्परम् ॥
> (आदि० २१०; ३)

महाभाग्यशाली ऐसे ये पाँच भूपति एक द्रौपदी में रत रहे फिर भी इन पाँचों में परस्पर झगड़ा क्यों नहीं हुआ, यह प्रश्न पाठक के समक्ष उसी तरह उठता है जैसा जनमेजय में मन में उठा था। यहाँ प्रथम बार भगवान् वेदव्यास पंचपति की पत्नी की समस्या का स्पर्श करते हैं।

नारद पांडवों से मिलने आते हैं, ऐसे देवर्षि के आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु द्रौपदी को भी आमंत्रण मिला। द्रौपदी वहाँ आई 'शुचि-र्भूत्वा समाहिता' (आदि० २१०, १३) होकर। उसे आशीर्वाद देकर देवर्षि नारद ने उसे तत्काल ही जाने को कहा, द्रौपदी के जाने के बाद उन्होंने पांडवों से कहा :

> पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी।
> यथा वो नात्र भेदः स्यात्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥
> (आदि० २१०; १८)

यशस्विनी द्रौपदी अकेली ही आप सबकी धर्मपत्नी बनी है, तो आप सब मिलकर ऐसा कोई नियम ढूँढ़ निकालें कि भाइयों के बीच भेद न हो। भाइयों के बीच भेदभाव किस हद तक आ सकता है, इस बात को जोर देकर कहने के लिए नारद ऋषि सुन्द-उपसुन्द जैसे 'एक राज, एक घर, एक सेज और एक रसोईघर' की भावनावाले गाढ़े प्रेमभरे भाइयों ने तिलोत्तमा के कारण कैसे एक-दूसरे को मार डाला, इस घटना का वर्णन करता उपाख्यान इस अवसर पर युधिष्ठिर को सुनाते हैं और नारद की उपस्थिति में ही पांडव नियम बनाते हैं कि एक भाई के साथ द्रौपदी हो तब यदि दूसरा भाई उसे देख ले तो उसे बारह वर्ष ब्रह्मचारी बनकर वन में निवास करना होगा।

बड़े भाई युधिष्ठिर के साथ रहने की द्रौपदी की अवधि चल रही है, तभी वह प्रसिद्ध घटना आती है। लुटेरे ब्राह्मणों की गाय हर ले जाते हैं और गो-रक्षा के लिए अर्जुन, जहाँ युधिष्ठिर और द्रौपदी साथ हैं, उस निवास में शस्त्र लेने जाता है। शस्त्र लेकर गायों की रक्षा करने के बाद वह वापस आता है। फिर वह धर्मराज युधिष्ठिर से आज्ञा माँगता है कि मैंने आपको द्रौपदी के साथ देखा, मैंने नियम-भंग किया है, अतः मुझे बारह वर्ष वनवास में जाने की आज्ञा दें। जिसने स्वयंवर में स्वपराक्रम से द्रौपदी को जीता है ऐसा अर्जुन अभी द्रौपदी के साथ रहने की अपनी पारी आवे उससे पहले वनवास की माँग करता है—इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, बन्धुओं की एकता कौरवों के समक्ष टिके रहने के लिए अनिवार्य है। इसी कारण और कृष्ण की सलाह कि द्रौपदी पाँचों भाइयों को ब्याहे इसलिए यह समाधान अर्जुन ने स्वीकार कर लिया, पर अपने मन में वह इस समाधान के साथ समायोजित नहीं हो सका। धर्मराज तो धर्म के जानकार हैं। वे स्वयं कहते हैं और इस प्रकार आरम्भ करते हैं :

प्रमाणमस्मि यदि ते मत्तः श्रृणु वचोऽनघ ।

(आदि० २१५; ३०)

जो कहता हूँ उसे तू प्रमाणरूप स्वीकार करता हो तो मेरी यह बात सुन।

धर्मराज यहाँ अपने धर्मज्ञान और अपनी बात को प्रमाणरूप में स्वीकार करने की भाइयों की परम्परा—इन दोनों के अधिकार से

कहते हैं, अतः इन शब्दों का वजन बढ़ जाता है। युधिष्ठिर कहते हैं : 'यदि बड़ा भाई पत्नी के साथ हो और छोटा भाई उस घर में जाय तो उससे किसी मर्यादा का लोप नहीं होता। अतः तुमने कोई धर्मलोप नहीं किया है।' अर्जुन उत्तर में कहते हैं—

न व्याजेन चरेद्धर्ममिति मे भवतः श्रुतम्।
न सत्याद्विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे।।

(आदि० २१५; ३४)

आप ही ने तो कहा था कि छलपूर्वक धर्म करना उचित नहीं है। इससे मैं सत्य से विचलित नहीं होऊँगा। सत्य द्वारा ही मैंने आयुध धारण किए हैं।

अर्जुन के इस आचरण में विनय नहीं है पर जो अपने वचनों को 'प्रमाण' मानने की बात करता है ऐसे युधिष्ठिर की आज्ञा का अनादर है, इतना ही नहीं, पर ऐसी आज्ञा द्वारा युधिष्ठिर धर्म में छल करने को कहते हैं ऐसा गर्भित आक्षेप भी निहित है।

अर्जुन युधिष्ठिर का अपमान करके इन्द्रप्रस्थ छोड़कर वन के मार्ग पर चल पड़ता है।

अब नारद के सामने वह जो नियम पाण्डवों ने स्वीकारा था उसे पुनः याद करें। उन्होंने तय किया था कि जो नियम का भंग करेगा वह—

स नो द्वादशवर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत्।

(आदि० २१४; २९)

बारह वर्ष तक ब्रह्मचारी बनकर वन में बसेगा।

धर्मराज को मुँह खोलकर सनसनाता जवाब देकर उनसे धर्म में छल न करने को कहनेवाला अर्जुन, इस नियम का पालन करता है क्या? वह सबसे पहले तो पाताललोक में रहनेवाली उलूपी से मिलता है। उलूपी उसके प्रेम में विवश है, तब अर्जुन अपने ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की बात करता है। तब उलूपी कहती है कि यह प्रतिज्ञा तो केवल द्रौपदी की बाबत है। दूसरी कोई भी स्त्री के साथ तू सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, द्रौपदी के प्रति तू ब्रह्मचर्य का पालन कर पर—

कृत्वा मम परित्राणं तव धर्मो न लुप्यते।

(आदि० २१६; २८)

मेरा उद्धार करने से (मेरे साथ सम्बन्ध स्थापित करने से) तेरे धर्म का लोप नहीं होगा !

इस तरह नागराज की पुत्री उलूपी इस बारह बरस के वनवास का पहला मुकाम है। उलूपी से मिला तब तक तो अर्जुन अपनी ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा याद करता था, पर मणिपुर में राजा चित्रवाहन की पुत्री चित्रांगदा को देखकर तो मदनबाण से इतना अधिक घायल हो जाता है कि चित्रवाहन के समक्ष जाकर चित्रांगदा का हाथ माँग लेता है। चित्रवाहन जो भी शर्तें रखता है वह उन सबको स्वीकार कर लेता है। राज्य का वारिस बभ्रुवाहन पैदा न हो तब तक अर्थात् तीन बरस तक अर्जुन वहाँ रहता है और बभ्रुवाहन के जन्म के बाद पुनः यात्रा पर चल पड़ता है। अगस्त्य, सौभद्र, पौलोम, कारन्धम तथा भरद्वाज इन पाँच तीर्थों में बसती, शापित और पुरुषों को ग्राह की तरह पकड़ती अप्सराओं—वर्गा, सौरभेयी, समीचि, बुद्बुदा और लता का उद्धार करता है। उलूपी, चित्रांगदा और ये पाँच अप्सराएँ : वह पुनः लौटकर मणिपुर आता है और चित्रांगदा से मिलता है। उसे प्रलोभन देते हुए कहता है, बभ्रुवाहन बड़ा हो तब तू इन्द्रप्रस्थ आना। वहाँ कुन्ती, युधिष्ठिर, भीम और मेरे दोनों छोटे भाइयों को देखकर तू प्रसन्न होगी। पर द्रौपदी जैसा कोई पात्र इन्द्रप्रस्थ में विद्यमान है तब तक तू महारानी बनने की कल्पना भी नहीं कर सकेगी—ऐसा क्रूर सत्य कहने की अर्जुन में हिम्मत नहीं है।

इस 'वनवास' के बाद वह पुनः गोकर्ण की तरफ गया और फिर पश्चिम के तीर्थों में घूमते-घूमते प्रभास तीर्थ में आ पहुँचा। कृष्ण को इसका पता चला या लगता है कि कृष्ण ने इसकी जानकारी प्राप्त की। वे आगे बढ़कर प्रभास में उससे मिलने गये और वहाँ से उसे द्वारका ले आये। यहाँ उसका शानदार स्वागत किया। फिर अर्जुन के सम्मान में रैवतक पर्वत पर विशाल समारोह आयोजित किया। वहाँ एक सुन्दर कन्या को देखकर एक बार फिर अर्जुन मोहित होता है :

दृष्ट्वैव तामर्जुनस्य कन्दर्पः समजायत।

(आदि० २२१; १५)

देखकर ही अर्जुन में कामदेव जाग्रत हुआ। तब कृष्ण बहुत ही सरस प्रश्न करते हैं :

वनेचरस्य किमिदं कामेनालोडयते मनः।

(आदि० २२१; १६)

वनवासी का मन भी काम से डाँवाडोल होता है ? ऐसा चुभता हुआ प्रश्न करके कृष्ण अर्जुन को इस बात का संकेत तो दे ही देते हैं कि अपने वनवासीपन के गौरव से वह च्युत हुआ है। पर इसके बाद कहते हैं कि यह तो मेरी बहन है। अतः अर्जुन पहले तो झिझक गया होगा पर पुनः कृष्ण कहते हैं : 'तू इसके साथ शादी करेगा ? तो मैं पिताजी से बात करूँ।' इसके द्वारा कृष्ण कोई भी स्त्री से मिलकर उसमें लिप्त हो जाने की घटनाओं से परिपूर्ण वनवास का ब्याज से उपालम्भ करते हों ऐसा प्रतीत होता है। सुभद्रा के साथ तो विवाह ही हो सकता है।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि पिता से कहूँगा तो वे इसी घड़ी स्वयंवर की योजना कर देंगे पर स्त्री का स्वभाव और हृदय हमेशा शूरता और पाण्डित्य ही पसन्द करता है ऐसी बात नहीं है। वह तो यदि बाह्यरूप पर मोहित हो जाय तो तुझे पसन्द न भी करे, अतः उत्तम रास्ता तो यही है कि तू उसका हरण कर। अर्जुन कृष्ण की यह सलाह मानता है और सुभद्रा का हरण करता है।

अर्जुन का 'धर्म' के नाम पर स्वीकार किया गया वनवास, उसकी वीरश्री से वरण की हुई द्रौपदी को पाँचों भाइयों की पत्नी होना पड़ा, इस घटना में—से प्रकट हुआ नहीं लगता ? वह वनवास में, महर्षि नारद ने कहा था, ऐसा ब्रह्मचर्य पालन नहीं करता, वह तो वासनाव्रत धारण करके निकला हो ऐसा विलासी जीवन व्यतीत करता है। इस विलासी जीवन में—उसे स्थिरता प्राप्त होती है "सुभद्रा चारुसर्वांगी" (आदि० २२२.८) के साथ विवाह करके। अर्जुन की यह वासना और विलासिता को स्थिर करने के लिए ही कृष्ण ने इस परिस्थिति की आयोजना दी हो ऐसा नहीं लगता ? कृष्ण की बहन से ब्याह करने से अर्जुन का अहम् भी तुष्ट होगा और वासना भी स्थिर होगी। कारण यह कि कृष्ण की बहन से ब्याह करने के बाद वह इधर-उधर ताक-झाँक करने की हिम्मत भी नहीं कर सकता।

अर्जुन का यह बारह बरस का वनवास और वासनावास द्रौपदी में ईर्ष्या उपजाने के लिए ही है। इसकी प्रतीति सुभद्रा के साथ वह इन्द्रप्रस्थ लौटता है तब होती है। अर्जुन सबसे पहले कुन्ती, युधिष्ठिर आदि से मिलता है। फिर अन्त में द्रौपदी के पास जाता है। तब द्रौपदी ये शब्द कहती है :

तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा।
सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते ॥

(आदि० २२३; १७)

इस श्लोक के अर्थ की चर्चा करें, इससे पहले द्रौपदी ये शब्द प्रेमपूर्वक बोली है, व्यास का यह विशेषण भूल न जाये। द्रौपदी स-पत्नी को देखकर भभक उठी है—तथापि अर्जुन के असंतोष के पीछे कारण है, यह सूक्ष्म सत्य द्रौपदी से छिपा नहीं है, इसीसे कवि ने ऊपर के शब्द द्रौपदी के मुख में रखे, पर उससे पूर्व इतना चरण अंकित कर दिया है।

तं द्रौपदी प्रत्युवाच प्रणयात्कुरुनन्दनम्।

(आदि० २२३; १६)

द्रौपदी कुरुनन्दन से प्रणयपूर्वक यह शब्द कह रही है। अब आइये देखें कि वह क्या कह रही है :

'तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा'

अर्जुन, अब आप वहीं जायँ जहाँ वह सात्वतकुल में जन्मी (सुभद्रा) है, यहाँ किसलिए आये हैं ? स्त्री-सहज ईर्ष्या और उपालम्भ में डूबी इस प्रथम पंक्ति में प्रेम का एक सत्य द्रौपदी के मुँह से कवि व्यक्त करते हैं :

सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते।

एक गाँठ पर दूसरी गाँठ लगायें फिर चाहे कितनी ही गाँठें कचकचाकर लगायें तो भी पहली गाँठ शिथिल हुए बिना नहीं रहती।

अर्जुन का वनवास, उलूपी, चित्रांगदा, वर्गा इत्यादि अप्सराओं वगैरह के साथ हुए अर्जुन के प्रसंगों से कृष्ण समझ सके कि स्वयंवर में स्वपराक्रम से द्रौपदी का वरण करने के बावजूद उसे अपनी अकेले की भार्या नहीं बना सका, यह दुःख ही इसके मूल में सक्रिय है। अब

इस दुःख को दूर करने के लिए 'चारुसर्वांगी' तो है ही, पर कृष्ण की बहन होने के कारण अब अर्जुन उसे दगा देने का विचार न कर सके, ऐसी सुभद्रा के साथ उसका विवाह होना चाहिए। अर्जुन का वनवास वास्तव में तो वासना-विकार था और कृष्ण ने अर्जुन की वासना को बाँध दिया।

अर्जुन का सुभद्रा के साथ ब्याह कराने का कृष्ण का निर्णय सुभद्रा के या यादवों के हितों को लक्ष्य करके नहीं लिया गया था, अर्जुन के हित को ध्यान में रखकर किया गया था। यादवगण, स्वयं बलराम भी, अर्जुन द्वारा सुभद्रा-हरण का विरोध करते थे। पर कृष्ण ने केवल अर्जुन के कल्याण के लिए इस समूची योजना में साथ दिया था। यह प्रसंग भी याद करने लायक है।

अर्जुन सुभद्रा को लेकर सुवर्णरथ पर बैठ अपने नगर की दिशा में जाने लगा तब सैनिक चीखते हुए द्वारका की ओर दौड़े। वहाँ की देवसभा-जैसी राजसभा में यह कह सुनाया। महारथी और पुरुष-व्याघ्र जैसे कृष्ण और अन्धक वंश के नेता तुरत सिंहासन पर से उठकर खड़े हो गये और अर्जुन द्वारा किये गये हरण की बात सुनकर किसीने कहा—'लड़ाई की तैयारी करो', किसीने शरासन और कवच मँगाये, किसीने सारथि से रथ तैयार करने को कहा। रथ, कवच, ध्वजा आदि लाने के लिए भाग-दौड़ मच गयी। पर इस समय बलराम ने कहा :

'आप सब दौड़-भाग कर रहे हैं पर पहले कृष्ण से तो पूछो कि उन्हें क्या कहना है ?' और फिर बलराम कृष्ण से अपनी राय साफ-साफ शब्दों में व्यक्त करते हैं

कथं हि शिरसो मध्ये कृतं तेन पदं मम ।
मर्षयिष्यामि गोविन्द पादस्पर्शमिवोरगः ।।

(आदि० २२२; ३१)

हे गोविन्द, उसने (अर्जुन ने) मेरे मस्तक पर लात मारी है। सर्प जैसे दूसरे की लात सहन नहीं कर सकता उसी तरह मैं भी यह सहन नहीं कर सकूँगा।

इस दौर में पूरे वक्त शान्त बैठे कृष्ण अब बोलते हैं। यह अर्जुन ने जो किया है उसमें कुल का अपमान नहीं है यह समझाते हैं। फिर

कहते हैं कि सुभद्रा जैसे यशस्विनी है, वैसा ही पार्थ गुणवन्त है। फिर इस अर्जुन को हरा सके ऐसा त्रिलोक में कौन है ? और आगे चलते हुए कृष्ण कहते हैं :

'स च नाम रथस्तादृङ्मदीयास्ते च वाजिनः'

(आदि० २२३; ९)

शब्दों का अर्थ तो केवल इतना ही है। 'एक तो ऐसा वह रथ और ऐसे वे मेरे अश्व'।

पर इस एक चरण पर एक पुस्तक लिखी जा सकती है इतनी शक्ति इसे मिली है। कृष्ण जो थोड़ी-सी अधिकार-वाणी बोलते हैं, स्वयं भगवान् हैं ऐसी प्रतीति कराती वाणी बोलते हैं, उनमें की यह एक है, वे कहते हैं :—

एक तो अर्जुन का रथ है और उसमें मेरे अश्व जुते हैं। "वे मेरे अश्व" इन शब्दों पर जोर दिया गया है।

अर्जुन का रथ दुर्जेय कब बनता है ? जब कृष्ण के अश्व उसमें जोते जाते हैं।

रथ को देह के रूप में पहचनवाकर, अश्वों की प्रभु-प्रेरित इन्द्रियों से साथ तुलना करके, इस श्लोक को नये अर्थ में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह देहरूपी रथ भी जब तक प्रभु के अश्वों से नहीं जुड़ते, तब तक वह निरर्थक है। पर एक बार प्रभु के अश्व यदि रथ से जुड़ते हैं तब किसकी मजाल है कि रथ को रोक सके ?

अर्जुन अजेय है, तीनों लोकों में केवल शंकर को छोड़कर कोई उसे हरानेवाला नहीं है, और उसके इस रथ के साथ जुड़े हैं कृष्ण के अश्व।

३. असन्तोष की कामना

कृष्ण परिणाम पर ध्यान देनेवाले व्यक्ति हैं। वे चाहते हैं कि या तो दुर्योधन आदि पांडवों की दुर्जेयता स्वीकार करके शान्त हो जायँ, अर्थात् धर्म दुर्जेय है यह समझकर धर्म का नाश करने की प्रवृत्ति बंद करें, अथवा वे दुर्जनता की सीमा तक जायँ। यदि खाण्डव-प्रस्थ में इन्द्रप्रस्थ बसाकर पाण्डव शांत रहे होते तो महाभारत का

युद्ध न हुआ होता; पर दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि तथा कर्ण आदि द्वारा प्रवर्तित अधर्म फैलता रहता। इसी कारण कृष्ण परिस्थिति को पराकाष्ठा पर ले जाते हैं। इस पराकाष्ठा तक परिस्थिति पहुँचे इस हेतु वे दो घटनाओं की सर्जना करते हैं; एक तो जिसकी सानी नहीं है ऐसी मय सभा के मालिकों के रूप में पाण्डवों को स्थापित करते हैं; दूसरे वे पाण्डवों को राजसूय यज्ञ करने की सलाह देते हैं।

कृष्ण के लिए पाण्डवों की प्रीति कितनी है इसकी प्रतीति सभापर्व के आरंभ में खाण्डवदहन के बाद जब कृष्ण द्वारका जाने के लिए तत्पर होते हैं, तब कवि एक ही श्लोक में देते हैं—

लोचनैरनुजग्मुस्ते तमा दृष्टिपथात्तदा।
मनोभिरनुजग्मुस्ते कृष्णप्रीतिसमन्वयात्॥

(सभा० २; २१)

पांडव, दृष्टि द्वारा जहाँ तक जाया जा सकता है वहाँ तक, कृष्ण के पीछे गये; और प्रीतिसमन्वय के कारण वे मन द्वारा भी कृष्ण के पीछे-पीछे गये। कृष्ण के साथ पांडवों के मन का अनुसंधान कितना दृढ़ और कितना भावपूर्ण था इसकी प्रतीति ही इसमें मिलती है। बिदा की बेला की यह हालत या तो परम मित्र की हो सकती है, या फिर प्रियतमा की।

कृष्ण जहाँ पांडवों के पास से दूर होते हैं कि तत्काल ही कोई न कोई प्रश्न पांडवों के समक्ष उठता ही रहता है। महाभारत के किसी अध्येता को कृष्ण की उपस्थिति और अनुपस्थिति में पांडवों की स्थिति का लेखा-जोखा जाँचने योग्य है। जहाँ-जहाँ पांडवों ने कृष्ण की सलाह ली, वहाँ-वहाँ उनका इष्ट हुआ है। जब कृष्ण की सलाह नहीं ली तब अनिष्ट हुआ। कृष्ण गये कि तुरन्त ही देवर्षि नारद आकर राजसूय यज्ञ का विचार युधिष्ठिर के मन में रोपित कर गये। पर यह यज्ञ करने से पूर्व युधिष्ठिर ने कृष्ण की सलाह ली थी और यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। पर विदुर जब द्यूत-सभा में आने के लिए महाराज धृतराष्ट्र का निमंत्रण लेकर आये तब किसीको भी कृष्ण की सलाह लेने की बात नहीं सूझी। अपार धन है; हार-हारकर भी

कितना हार सकेंगे, ऐसा गर्व शायद पांडवों को हुआ होगा। पर इस विषय में आगे चर्चा करेंगे।

राजसूय यज्ञ, उसकी महिमा, उसका प्रताप जब युधिष्ठिर को समझ में आ गया तब उसकी नींद हराम हो गयी। महत्त्वाकांक्षा कितनी बुरी चीज है यह बात कवि कदम-कदम पर स्पष्ट करते चलते हैं। इसीसे कवि कहते हैं कि नारद के जाने के बाद—

चिन्तयन्राजसूयाप्ति न लेभे शर्म भारत।

(सभा० १२; १)

राजसूय की चिंता करते-करते युधिष्ठिर को किसी भी बात में सुख नहीं रहा। सुख सापेक्ष अनुभव है। मय सभा के मालिक, इन्द्रप्रस्थ का शासन, कृष्ण जैसे सखा, द्रुपद जैसे श्वशुर, इन सबके बावजूद राजसूय के सुख की कल्पना जब एक बार आ गयी तब और कोई भी बात युधिष्ठिर को सुखी न कर सकी।

युधिष्ठिर धर्मराज के रूप में प्रकीर्तित हैं; पर उनकी मर्यादा को प्रकट करने में व्यास भगवान् चूक नहीं करते; इसीसे कृष्ण को सलाह के लिए बुलाते हैं, तब कृष्ण स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि राजसूय यज्ञ की बात अच्छी है, पर जरासंध जैसा सम्राट् पृथ्वीतल पर रहेगा तब तक यह यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकेगा। राजसूय युधिष्ठिर की वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा है, और उसे परिपूर्ण करने के लिए अर्जुन तैयार होता है, पर वह सूचक शब्द कहता है :

काषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम्।
साम्राज्यं तु तवेच्छन्तो वयं योत्स्यामहे परैः॥

(सभा० १५; १५)

पहले से शांति की इच्छा करते मुनियों को काषाय वस्त्र सुलभ होते हैं, शांति के लिए भगवा वस्त्र कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है, पर साम्राज्य चाहिये तो युद्ध ही करना पड़ेगा और हम युद्ध करने को तैयार हैं।

अर्जुन के इस युद्ध के संकल्प में कृष्ण बल देते हैं—

न मृत्योः समयं विद्मः रात्रौ वा यदि वा दिवा।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनापि शुश्रुमः॥

(सभा० १६; २)

गीता के कृष्ण की पूर्वभूमिका इस श्लोक में है; गीता में भी कर्म-युद्ध के हेतु प्रवृत्त करने की प्रेरणा है। यहाँ भी वही बात है। कृष्ण कहते हैं कि 'मृत्यु रात में आयेगी या दिन में इसका पता नहीं है, और लड़ने से मृत्यु नहीं होगी ऐसा कहीं भी सुना नहीं है। मृत्यु तो अपने निश्चित समय पर आनी ही है। लड़ना स्थगित रखा जायगा तो मृत्यु नहीं आयेगी ऐसा मान लेने की आवश्यकता नहीं है।'

जरासंध जैसे शत्रु पर विजय पाना सरल है ऐसा भी कृष्ण नहीं कहते, वह तो—

प्राणयुद्धेन जेतव्यः

(सभा० १८; २)

प्राणों की बाजी लगाकर ही युद्ध में जीता जा सकता है ऐसा शत्रु है। प्राणयुद्ध इस अर्थ में द्वन्द्व-युद्ध की अपेक्षा अच्छा शब्द है। भीम और जरासंध के बीच का युद्ध द्वन्द्व नहीं था; वह प्राणयुद्ध था, इसका अंत दो में से एक का प्राण जाय तभी होना था।

पर कृष्ण साथ हैं, अतः किसी बात का भय नहीं है—ऐसी दृढ़ आस्था है युधिष्ठिर की। 'यतो कृष्णस्ततो जयः' की प्रतीति पांडवों को हो चुकी है, इसीसे कृष्ण की सलाह मिलती है कि भीम और अर्जुन को मेरे साथ गिरिव्रज भेजें और वहाँ प्राणयुद्ध द्वारा हम जरासंध को जीतेंगे; तब युधिष्ठिर कृष्ण की आज्ञा को शिरोधार्य कर इतना ही कहते हैं;

निहतश्च जरासंधो मोक्षिताश्च महीक्षितः।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः॥

(सभा० १८; ११)

हे कृष्ण, आपके हम ताबेदार हैं, अतः हमने जरासंध को मार डाला है; राजाओं को मुक्त करा लिया है; और राजसूय यज्ञ भी कर डाला है।

कृष्ण जो निश्चय करते हैं, वही होता है। भले ही वह भविष्य में होनेवाला हो तो भी वह हो ही चुका है ऐसा विश्वास भक्तों को रहता है। हमने पहले सात्यकि का 'निमित्तमात्रं वयमत्र सूत' यह वाक्य देखा है, यहाँ भी वही भाव है। कृष्ण जो निश्चय करते हैं वह कार्य सम्पन्न हो ही चुका है, ऐसा दृढ़ संकल्प लिये भीम और अर्जुन कृष्ण

के साथ चल पड़ते हैं, और जब वे गिरिव्रज में जरासंध के घर की तरफ जाते हैं तो व्यास भगवान् एक अच्छी उपमा का उपयोग करते हैं—'हिमालय के सिंह गाय के बाड़े की ओर जायँ इस तरह वे जरासंध के घर की ओर अग्रसर हुए।'

कवि के रूप में व्यास प्रत्येक पात्र को यथार्थ न्याय प्रदान करते हैं। जरासंध अपने ढंग से अधर्मी है, पर उसका अपना एक धर्म है। वह विचित्र ढंग से व्यवहार करते हुए ब्राह्मणों को देखकर उन पर टूट नहीं पड़ता था, उन्हें पकड़ नहीं लेता था। वह तो कहता है—

सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते

(सभा० १९; ४०)

आप सच कहें; आप ब्राह्मण नहीं हैं, राजवंशी लगते हैं और राजकुलवालों को तो सत्य बोलना ही शोभा देता है। सत्य ही जरासंध का बल है। कृष्ण जरासंध द्वारा बंदी बनाये राजसी पुरुषों का उल्लेख करते हैं, तब जरासंध टालमटोल नहीं करता; वह कहता है—'हाँ, मैंने उन पर विजय प्राप्त की है, और उन्हें बंदी बनाया है। भला कोई हारे बिना बंदी बन सकता है क्या ?'

प्राणयुद्ध का आह्वान मिलता है, तब भी जरासंध अन्यायी आचरण नहीं करता। उन तीनों में से अपने साथ लड़ने के लिए स्पष्ट दिखाई पड़ रहे, सबसे अधिक बलवान्, भीम का चयन करता है। पुनः इस संदर्भ में कवि जरासंध में अहंकार नहीं स्थापित करता। 'मैं जीतूँगा ही' जैसा भाव उसके अंदर नहीं है। 'वह हार भी सकता है' यह संभावना उसने अनगिनी नहीं रखी है। इसीसे वह कहता है :

'भीम योत्स्ये त्वया सार्धं श्रेयसा निर्जितं वरम्'

(सभा० २१; ७)

भीम, मैं तेरे साथ युद्ध करूँगा, क्योंकि श्रेष्ठ से हारने में भी गौरव है।

युधिष्ठिर ने जो कल्पना की थी, उसीके अनुरूप भीम जरासंध का वध करता है। बाद में प्रचलित कथाओं की कपट-युक्तियाँ महाभारत में नहीं हैं। भीम-जरासंध के युद्ध के पंद्रहवें दिन कृष्ण भीम को

प्रोत्साहित करते हैं और शत्रु को बहुत परेशान न करने को कहते हैं। तब भीम जरासंध को मृत्यु की शरण में पहुँचा देता है। इसीके साथ राजाओं की मुक्ति भी कृष्ण साध लेते हैं, और राजसूय यज्ञ भी होता है।

कृष्ण के विवादास्पद कार्यों में जरासंध का वध भी एक है। कृष्ण की जरासंध के साथ पुरानी दुश्मनी है। उस वैर का बदला लेने के लिये कृष्ण ने निमित्त खोजा ? पर यह संदेह उठने के साथ ही उत्तर मिलता है कि नहीं, यदि राजसूय यज्ञ होता है, तो अपने को सम्राट् माननेवाला जरासंध उसमें विघ्न बने बिना न रहता।

कृष्ण जरासंध के पास जाकर नरमेध बंद करने अन्यथा भीम के साथ प्राणयुद्ध करने को ललकारते हैं : 'धर्म की रक्षा करने में समर्थ हम (भीम, अर्जुन और कृष्ण) धर्माचारी हैं; यज्ञ में मनुष्य को बलि के रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं है; हम 'मुमुक्षुमाणाः' हैं। (सभा० २०, २३) (राजाओं को कारावास से मुक्त कराने के इच्छुक हैं।') कृष्ण की निश्चय ही जरासंध से गहरी दुश्मनी है। पर जरासंध समाज का अपार अहित करे ऐसे यज्ञ में राजाओं को नरबलि के लिये प्रस्तुत करने का कार्य करने के लिये तैयार हुआ है। तब उसके सामने आते कृष्ण पुराने वैर से प्रेरित नहीं होते।

राजसूय यज्ञ में उपस्थित आचार्य, ऋत्विज, सगे-सम्बन्धी, स्नातक, मित्र और नरेश ऐसे छः वर्गों की पूजा का अर्घ्य प्रदान करना है। इसमें अग्रपूजा (प्रथम पूजा) किसकी करनी चाहिये इस प्रश्न का उत्तर भीष्म देते हैं। वे कहते हैं—

असूर्यमिवसूर्येण निर्वातमिव वायुना।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदोहिनः॥
(सभा० ३३; २९)

'कृष्ण के कारण ही यहाँ प्रकाश है, कृष्ण के कारण ही यहाँ सुवास है; कृष्ण की उपस्थिति से ही यह सभा प्रकाशमान और आह्लादित लगती है। प्रकाशपुंज में जो स्थान सूर्य का है, वही स्थान पराक्रमी नरवीरों के बीच कृष्ण का है' ऐसा कहकर भीष्म कृष्ण की अग्रपूजा करने की सलाह देते हैं।

इस अग्रपूजा का शिशुपाल द्वारा विरोध, भीष्म द्वारा शिशुपाल को दिया जवाब आदि सुविदित हैं। पर शिशुपाल कृष्ण की अग्रपूजा से कितना कुपित हुआ था इसका एक संकेत देने के लिये उसने कृष्ण द्वारा किये सौ अपराधों में से एक बानगी अपराध—बानगी अपवचन पहले सहज भाव से देख लें! शिशुपाल कहता है :—

> अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे।
> हविषः प्राप्य निष्यन्दं प्राशितुं श्वेव निर्जने ।।
>
> (सभा० ३४; १९)

एकांत स्थल पर पड़े यज्ञ के हवि को खा जाते कुत्ते की भाँति तू पूजा के लिये अयोग्य होने के बावजूद पूजा का भाग प्राप्त करके अपने-आपको बहुत बड़ा मानने लगा है।

कृष्ण ये सब बातें सुन लेते हैं—भीष्म के शब्दों में वृष्णि सिंह सो रहा है, तब तक भले ही कुत्ते भूँक लें।

शिशुपाल कृष्ण को श्वान कहता है, भीष्म शिशुपाल को श्वान कहते हैं, पर कृष्ण ऐसे किसी गाली-गलौज में नहीं उतरते। वे तो कार्य करने में विश्वास करते हैं, और वह क्षण जब आता है, तब शिशुपाल का मस्तक काट लेने में तनिक भी ऊहापोह का अनुभव नहीं करते।

कृष्ण न होते तो पाण्डवों का राजसूय यज्ञ सफल न होता। पाण्डव सभी अवसरों पर कृष्ण की सलाह लेते हैं, केवल जब विदुर द्यूत खेलने का निमन्त्रण लेकर आते हैं, उस समय उन्हें कृष्ण याद नहीं आते।

राजसूय यज्ञ में दुर्योधन राजाओं द्वारा लाये उपहार स्वीकार करने का कार्य कर रहा था। युधिष्ठिर की समृद्धि देखकर उसकी ईर्ष्या भभक उठी है। वह तो जैसे भी हो युधिष्ठिर की यह सम्पत्ति हरण करना चाहता है। इसीसे अपने पिता धृतराष्ट्र के पास जाकर कहता है :

> अयमुत्सहते राजन् श्रियमाहर्तुमक्षवित्।
> द्यूतेन पांडुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ।।
>
> (सभा० ४५; ४०)

हे राजन्, मामा द्यूत खेलकर पांडु-पुत्रों की सम्पत्ति का हरण करना चाहते हैं, इसके लिये आप आज्ञा प्रदान करें।

धृतराष्ट्र महाभारत का ही नहीं, सृष्टि के समग्र साहित्यों का उत्तम से भी अधिक उत्तम खलपात्र है। वह ऐसी स्पष्ट इच्छा के साथ खेले जानेवाले द्यूत के लिए जब सहमति प्रदान करता है, तब वह धर्माचरण नहीं करता।

धृतराष्ट्र दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न करता है; पर दुर्योधन तो किसी भी प्रकार से शत्रुनाश अर्थात् पाण्डवों का नाश चाहता है; वह कहता है कि जिससे शत्रु वश में आये उसे फिर वह गुप्त तरकीब हो या प्रकट, शस्त्राविद शस्त्र कहते हैं, जो काटता है वही शस्त्र नहीं है।

'न शस्त्र छेदनं स्मृतं' (सभा० ५०; १७) और फिर दुर्योधन एक परम संकल्प व्यक्त करता है। वह कहता है :

असंतोषः श्रियो मूलं तस्मात्तं कामयाम्यहम्।

(सभा० ५०; १८)

असंतोष ही 'श्री' का मूल है; इस हेतु मैं असंतोष की कामना करता हूँ।

दुर्योधन ने अपने पास जो कुछ है उसी पर सन्तोष किया होता तो महाभारत का युद्ध हुआ ही न होता। पर वह तो असन्तोष की कामना करता है।

यह असन्तोष की इच्छा केवल दुर्योधन का ही लक्षण नहीं है। व्यास भगवान् मानव के समस्त लक्षणों को इस ग्रन्थ में गिना देते हैं। यह असन्तोष क्या सत्ता और लक्ष्मी के पीछे भटकते मानव-मात्र में नहीं दिखता ? मानव-मात्र में एक दुर्योधन बसता है जो कहता है कि असन्तोष ही 'श्री' का मूल है, और इस कारण मैं असन्तोष की कामना करता हूँ।

४. चीर-हरण प्रसंग

द्यूत-क्रीड़ा, अन्धी आँखों को सिकोड़कर पासों की खड़खड़ सुनते धृतराष्ट्र का कूट प्रश्न : 'संजय, क्या हुआ, कौन जीता ?' आदि तो सुविदित हैं; फिर भी जहाँ कृष्ण उपस्थित नहीं हैं, फिर भी कृष्णा— द्रौपदी जिसमें जीतती है उस द्रौपदी के चीर-हरण का प्रसंग जरा देख लें। युधिष्ठिर सब कुछ हार जाने के बाद अपने-आपको दाँव

पर लगाते हैं; अपने-आपको भी हार गये तब वे शून्यमनस्क बन गये हैं तब शकुनि कहता है :

अस्ति वै ते प्रिया देवी ग्लह एकोऽपराजितः ।

(सभा० ५८; ३१)

अभी तुम्हारी प्रिय पत्नी बची है; वह अपराजित है। उसे दाँव पर लगाओ।

युधिष्ठिर जिस वस्तु को दाँव पर लगाते थे उसका वर्णन करते थे; इस समय भी वे द्रौपदी स्त्री या मानवी है यह भूल जाते हैं, और अपनी मिल्कियत हो इस प्रकार उसका वर्णन करते हैं। इसीसे यह वर्णन रूपसुन्दरी स्त्री का होने के बावजूद जब युधिष्ठिर के मुख से इस संयोग में सुन पड़ता है, तब मन को आघात पहुँचता है। वे कहते हैं :

नैव ह्रस्वा न महती नातिकृष्णा न रोहिणी
सरागरक्तनेत्रा च तया दीव्यम्यहं त्वया।
शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगंधया
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥

(सभा० ५८; ३२-३३)

वह न नाटी है, न लम्बी, न बहुत काली है, न बहुत गोरी, सुन्दर लाल नेत्रोंवाली, शरद् ऋतु के कमल जैसी आँखोंवाली, शरद् ऋतु के कमल जैसी गंधवाली और रूप में कमल पर विराजमान लक्ष्मी जैसी पांचाली······

यह वर्णन आगे चलता है; बेले के फूलों जैसे शोभायमान मुख-मण्डलवाली, वेदी जैसी पतली कमरवाली, अल्परोमावलीवाली, चारु अंगोंवाली—ऐसी द्रौपदी (ग्लहः) को दाँव पर लगाता है युधिष्ठिर!

और हारता है !

रजस्वला, शृङ्गारविहीन, एक वस्त्र पहने हुए द्रौपदी को दुःशासन राजसभा में घसीट लाता है, उस समय द्रौपदी के इन शब्दों की गुरुता देखने लायक है ! उसे खींचकर लाते समय दुःशासन कहता है :

कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च।
त्राणाय विक्रोश नयामि हि त्वाम् ॥

(सभा० ६०; २६)

कृष्ण, अर्जुन, हरि या नर जिसे चाहे तू अपनी रक्षा के लिए पुकार ले। मैं तुझे घसीटकर ले जा रहा हूँ।

कृष्ण का नाम यहाँ लिया जाता है। इससे पूर्व इस समूची कपट-सभा में कृष्ण कहीं नहीं थे। कृष्ण के नाम का सर्वप्रथम उच्चार दुःशासन करता है। कभी-कभी शत्रु ही हमारे स्वजन को नजदीक ला देते हैं, ऐसी ही यह घटना है। द्रौपदी कहती है :

'स्वयंवर के समय रंग-मंडप में एकत्र हुए राजाओं की दृष्टि जिस पर पड़ी थी, इससे पूर्व जिसे उन्होंने देखा नहीं था, ऐसी मैं आज सभा के बीच खड़ी हूँ। इससे पहले घर के अन्दर वायु और सूर्य ने भी जिसे नहीं देखा था, ऐसी मैं याज्ञसेनी द्रौपदी जनसम्मेलन में अर्धवस्त्र में खड़ी हूँ। जिसे वायु भी स्पर्श करे इतना भी सहन न करनेवाले पाण्डवगण, आज दुरात्मा दुःशासन मेरा स्पर्श कर रहा है, यह देख रहे हैं।'

कृष्णा को भी कृष्ण विलम्ब से याद आते हैं; वह पहले तो भीष्म आदि धुरंधरों का मुँह बन्द कर देनेवाले प्रश्न पूछती है : 'धर्मराज मुझे हारे तब अपने-आपको हार चुके थे या नहीं ? अपने-आपको हार चुका मनुष्य मुझे दाँव पर लगा सकता है क्या ? मैं उत्तर चाहती हूँ कि इस द्यूत में जीती हुई हूँ या बिन जीती ?'

भीष्म तो 'युधिष्ठिर जैसे धर्मराज कुछ भी करें उस पर टीका-टिप्पणी करनेवाला मैं कौन हूँ' कहकर बच निकलते हैं। पर दुर्योधन का भाई विकर्ण कहता है :

मृगया पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिसक्तताम्
(सभा० ६१; २०)

शिकार, मद्यपान, जुआ और वासना-विवशता : इन चार में से किसी भी व्यसन से घिरा हुआ पुरुष कोई भी आचरण करे वह अधर्म ही होगा। ऐसा अयोग्य पुरुष द्वारा किये गये 'अयुक्त' कार्य को लोग प्रमाणरूप में स्वीकार नहीं करते।

ये शब्द विकर्ण कहता है ? कि अब तक कृष्णासहित किसीको भी जिनकी याद नहीं आयी है वे कृष्ण ही विकर्ण के मुख से बोल रहे हैं ? आरण्यक पर्व में कृष्ण वनवासी पाण्डवों से मिलने आते हैं तब

वे कहते हैं : मैं द्वारका में नहीं था, नहीं तो अवश्य ही बिना बुलाये भी द्यूत-सभा में आता और कहता—

'स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत्काम समुत्थितम् ।'

(आरण्यक० १४; ७)

स्त्रियों में आसक्ति, जुआ, शिकार तथा मद्यपान ये चार दोष मनुष्य को श्रीहीन कर डालनेवाले हैं ।

कृष्ण के मुख से बाद में कहे जानेवाले शब्द द्यूत-सभा में दुर्योधन का भाई विकर्ण बोलता है, यह सूचक घटना है । कृष्ण उपस्थित न रहकर भी द्यूत-सभा में अपना मत व्यक्त कर रहे थे ।

द्रौपदी को भी कृष्ण की याद विलम्ब से आती है :

वासुदेवस्य च सखी (सभा० ६२; १०)

इन शब्दों के रूप में ही यह स्मरण आता है । और फिर तत्काल ही धृतराष्ट्र को जो कुछ हो रहा है उसकी विषमता समझ में आती है । और वे द्रौपदी से वरदान माँगने को कहते हैं जिसके द्वारा द्रौपदी अपने पतियों को और स्वयं को मुक्त कराती है ।

पाण्डवों से वनवास के दरमियान जब कृष्ण मिलते हैं तब द्रौपदी अपने अपमान और यातना का वर्णन करती है । आरण्यक पर्व का तेरहवाँ अध्याय द्रौपदी की आर्त पुकार का ही अध्याय है । वह कहती है :

कथं नु भार्या पार्थानां तव कृष्ण सखी विभो,
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी सभां कृष्येत मादृशी ।

(आरण्यक० १३; ५३)

पाण्डवों की भार्या, आपकी सखी, धृष्टद्युम्न की बहन को दुःशासन किस प्रकार सभा में घसीट लाया था इसकी आपको खबर है, कृष्ण ?

और ऐसा कहकर द्रौपदी आगे कहती है :

नैव मे पतयः सन्ति, न पुत्रा मधुसूदन,
न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं न च बांधवाः ।

(आरण्यक० १३; ११२)

न मेरे पति है, न पुत्र है, न भाई है, न पिता; अरे मधुसूदन, आप भी नहीं हैं ।

"नैव त्वं"—'आप भी नहीं हैं' इन शब्दों में छिपा रोष समझ में आता है। तब कृष्ण और कुछ नहीं कहते। केवल इतना वचन देते हैं कि जिस प्रकार आज तू रो रही है, उसी प्रकार एक बार तेरी यह हालत करनेवालों की पत्नियाँ भी रोयेंगी। और फिर कृष्ण यदा-कदा ही बोलते हैं ऐसी गर्वोक्ति आती है, : 'न मे मोघं वचो भवेत्' (आरण्यक० १३; ११३) मेरा वचन मिथ्या नहीं होगा।

इस वनवास के दौरान अर्जुन पाँच वर्ष इन्द्र के साथ स्वर्ग में रह आता है। यहाँ कृष्ण द्वारा अर्जुन की वासना नियंत्रित कर देने के बाद उसमें हुए परिवर्तन की बात नोट करने लायक है। वह वापस आकर कहता है :

पश्यंश्चाप्सरसः श्रेष्ठा नृत्यमानाः परंतप।
(आरण्यक० १६५; ५६)

मैंने वहाँ श्रेष्ठ अप्सराओं को नृत्य करते देखा, पर वह आगे कहता है : 'तत्सर्वमनवज्ञाय' (आरण्यक० १६५; ५६) इन सबकी अनदेखी करके मैं तो शस्त्रविद्या में निपुणता हासिल करने में मशगूल रहा। अर्जुन का पिछला बारह बरस का वनवास निरर्थक था। पर इस बार उसने तपश्चर्या की, साधना की, शिव को प्रसन्न किया, इन्द्रासन पर बैठा और दिव्य शस्त्र प्राप्त किये।

अर्जुन और कृष्ण के सम्बन्धों के अनुसन्धान में आरण्यक पर्व की ही एक दूसरी घटना भी नोट करने लायक है। पाण्डव काम्यक वन में वास करते थे तब द्रौपदी पर कुदृष्टि डालकर उसका हरण करने का प्रयत्न करनेवाला जयद्रथ, पाण्डवों के हाथों अपमानित होता है। युधिष्ठिर उसे 'अदासो गच्छ मुक्तोसि' कहकर दासभाव में से मुक्त कर देते हैं : ऐसा अपमान सहने के बाद जयद्रथ दुःख से व्याकुल होकर गंगाद्वार जाता है, और वहाँ विरूपाक्ष उमापति (शिव) की घोर आराधना करने लगता है। शिव प्रसन्न होकर वरदान माँगने को कहते हैं तब जयद्रथ माँगता है :

समस्तान्सरथान्पंच जयेयं पांडवान्
(आरण्यक० २५६; २७)

"पाँचों पाण्डवों को उनके रथ के साथ मैं युद्ध में जीतूँ" ऐसा वर जयद्रथ माँगता है।

वर माँगने को कहकर मुकर जाने के उदाहरण हमारे पुराणों में
नहीं हैं; पर यहाँ तो शिव 'नेति' कहकर ही जवाब दे देते हैं।
'यह वरदान नहीं मिल सकता' ऐसा स्पष्ट उत्तर देने के बाद
शिव इतना आश्वासन देते हैं कि पांडव अजेय और अवध्य हैं। इसके
बावजूद एकमात्र अर्जुन को छोड़कर बाकी चारों को तू युद्ध में रोक
सकेगा! अर्जुन को छोड़कर क्यों? शिव इसका स्पष्टीकरण करते हैं :

यमाहुरजितं देवं शंखचक्रगदाधरम्,
प्रधानः सोऽस्त्रविदुषां तेन कृष्णेन रक्ष्यते।

(आरण्यक० २५६; २९)

एक तो अर्जुन शस्त्रविदुषां–शस्त्र-विद्या के जानकारों में अग्रणी है, मुख्य है; और शंख, चक्र, गदा आदि धारण करनेवाले अजेय श्रीकृष्ण उसकी रक्षा करते हैं।

अर्जुन की महान् सिद्धि उसके शस्त्रविद् होने में नहीं है, उसे कृष्ण की रक्षा प्राप्त है इसमें है। और इसीसे तो 'माँग, माँग, जो माँगेगा वह दूंगा' यह कहने के बाद आशुतोष और उदारचित्त शिव 'नेति' कहकर वरदान देने से इनकार कर देते हैं; ऐसा अनन्य प्रसंग सर्जित होता है। वरदानों की कथा में जयद्रथ का तप और शिव के इस वरदान की कथा कृष्ण-अर्जुन के संबंधों के कारण चिरस्मरणीय रहेगी।

५. यशस्वी विजय

कृष्ण जैसी बड़ी हस्ती विद्यमान हो, फिर भी महाभारत-युद्ध होता है, यह घटना ही 'जो नियत होता है उसे टाला नहीं जा सकता' ऐसी श्रद्धा प्रेरित करती है। कृष्ण हों इस कारण युद्ध होना रुकता नहीं; कृष्ण हों तब भी युद्ध तो होता ही है, केवल युद्ध न हो इस बाबत चिंता और लड़ा जाय तो धर्म के पक्ष की विजय हो, इसकी सावधानी—बस इतना ही कृष्ण में दिखता है। इसीसे कभी भी यदि युद्ध हो तब किसी भी पक्ष की ओर कृष्ण या धर्म है या नहीं इसी दृष्टि से देखा जा सकता है; कौनसा पक्ष युयुत्सु–युद्ध के लिए आतुर है और कौनसा पक्ष युद्ध के निवारण के लिए मंथन कर रहा है! युद्ध-निवारण के तमाम प्रयत्नों के बाद भी युद्ध तो आता ही है। पर युद्ध उनके लिए प्रकृतिगत आवश्यकता नहीं है, आ पड़े तभी

अंजाम देने का कर्त्तव्य है। जो युद्ध के निवारण हेतु भगीरथ प्रयत्न कर सकता है, उसे ही गीता का उच्चारण करने का अधिकार प्राप्त होता है।

पांडवों के बारह बरस के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास के बाद, विराट्नगर में अभिमन्यु-उत्तरा के विवाह के अवसर पर पांडव, कृष्ण, विराट्, द्रुपद आदि मित्रराजा मिलते हैं तब कृष्ण इन सबके बीच कम-से-कम युद्धखोर दिखाई पड़ते हैं। वे कहते हैं :

दुर्योधनस्यापि मतं यथावन्
न ज्ञायते किं नु करिष्यतीति,
अज्ञायमाने च मते परस्य
किं स्यात् समारभ्य तमं मतं वः।

(उद्योग० १; २३)

युद्ध का निर्णय तो हम कैसे कर सकते हैं? कारण यह कि दुर्योधन क्या करेगा—उसका मत क्या है, इसकी हमें जानकारी नहीं है। शत्रु-पक्ष के विचार जाने बिना आप सब ऐसा कोई निर्णय किस तरह ले सकते हैं?

कृष्ण शत्रु के प्रति न्याय करने का विचार करते हैं, संभव है शत्रु का विचार बदले, वह पांडवों को उनका अधिकार, उनका राज्य वापस देने को सहमत हो जाय इस शक्यता को वे नकारते नहीं हैं!

बलराम इसमें सहमति प्रकट करते हैं तब उनका कौरवों के प्रति अनुराग प्रकट हुए बिना नहीं रहता। वे तो दूत को विवेक और विनय से तथा हिम्मत से काम लेना चाहिए, ऐसा कहते हैं। कारण यह कि उनके मत से पांडवों की दुर्दशा के मूल में शकुनि नहीं, युधिष्ठिर हैं। वे तो साफ-साफ कहते हैं कि अन्य इतने सारे द्यूत खेलनेवालों के मौजूद रहने पर भी वे शकुनि के साथ क्यों भिड़े और फिर—

स दीव्यमानः प्रतिदेवतेन
अक्षेषु नित्यं सुपराङ्मुखेषु
संरम्भमाणो विजितः प्रसह्य
तत्रापराधः शकुनेर्न कश्चित्।

(उद्योग० २; ११)

युधिष्ठिर खेलने लगे और प्रतिपक्षी के पासे बराबर उनके प्रति-

कूल पड़ने लगे, तब भी उन्होंने हठपूर्वक खेल चालू रखा और अपने को हराया। इसमें शकुनि का कोई दोष नहीं है।

कृष्ण एक बित्ता ऊँचे मानव हैं, पर तटस्थ नहीं हैं। वे पांडवों के साथ हैं। वे पांडवों के साथ इसलिए हैं कि धर्म पांडवों के पक्ष में है। पर उन्हींके भाई बलराम उनसे अलग दूसरे छोर पर खड़े हैं। वे तटस्थ भाव से सारी परिस्थिति को देखते हैं, इसीसे इस तरह की बात कह सकते हैं।

किन्तु परिस्थिति को इस एक ही दृष्टिकोण से देखा जा सकता है, ऐसा नहीं है। महाभारतकार परिस्थिति को कभी भी एक ही बिंदु से प्रस्तुत करके खिसक नहीं जाते; कृष्ण ने समूची परिस्थिति को एक दृष्टि से देखा; बलराम का दृष्टिकोण भिन्न था, तो सात्यकि एक तीसरे ही कोण से समूची परिस्थिति का अवलोकन करते हैं। वे कहते हैं कि भरी सभा में कोई धर्मराज पर अकारण दोषारोपण कर सकता है क्या? एक तो कौरवों ने द्यूत में छल करके धर्मराज को हराया, फिर भी पांडवों ने उनकी शर्तें पूरी कीं। वे बारह बरस वन में रहे, एक वर्ष अज्ञातवास किया। अब वे क्यों किसीके पास भीख माँगने जायँ? और इन कौरवों की बेशरमी का पार नहीं है। वे अब मिथ्या प्रचार करने लगे हैं कि पांडवों के वनवास की मुद्दत पूरी होने से पहले हमने उन्हें पकड़ लिया है। सात्यकि उग्र शब्दों में कहते हैं:

ना धर्मो विद्यते कश्चित् शत्रून् हत्वाततायिनः,
अधर्म्यमपयश्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम्।

(उद्योग॰ ३; ११)

आततायी शत्रुओं का वध करने में कोई पाप नहीं है। शत्रु के समक्ष याचना करना ही अधर्म है, अपयश है।

तिस पर भी कृष्ण का आग्रह स्वीकृत होता है। द्रुपद राजा अपने पुरोहित को दूत के रूप में हस्तिनापुर भेजने का निश्चय करते हैं।

युद्ध की विशेषता यह होती है कि शांति के प्रयत्न चलते रहते हैं, उनकी पृष्ठभूमि में ही युद्ध का पलीता भी सुलगता रहता है। इसीसे एक तरफ से शांति के प्रयत्न शुरू होते हैं तो दूसरी तरफ से युद्ध की तैयारियाँ भी शुरू होती हैं।

युद्ध हो तो कृष्ण किसके पक्ष में रहें यह प्रश्न बहुत महत्त्व का बन जाता है। कृष्ण का अपना व्यक्तित्व तो है ही, पर इन यदुश्रेष्ठ के पास उनके जैसे ही बलशाली एक अर्बुद—अर्थात् दस करोड़ यादवों की सेना है। इस सेना को नारायणी सेना के नाम से जाना जाता है। यदि युद्ध हो तो यह दस करोड़ की सेना किस पक्ष से लड़ेगी यह प्रश्न भी महत्त्व का बन जाता है।

अब दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही की दृष्टि युद्ध पर थी। अतः दोनों ही ने कृष्ण की सहायता माँगने का निश्चय किया। कथा बहुत प्रसिद्ध है। दुर्योधन कमरे में सबसे पहले प्रवेश करता है। कृष्ण सो रहे हैं। उनके मस्तक के पास रखे वरासन पर जाकर वह बैठ जाता है। अर्जुन बाद में आते हैं। और वह तो 'कृतांजलि'—हाथ जोड़कर कृष्ण के पैरों के पास खड़ा रहता है। कृष्ण ने आँखें खोलीं। उनकी दृष्टि सर्वप्रथम अर्जुन पर पड़ी। फिर उन्होंने दुर्योधन की ओर भी देखा। अर्जुन चुप हैं, पर दुर्योधन कहीं चूक न जाय इस वास्ते जल्दी से अपना दावा पेश करता है। 'आप मुझे युद्ध में सहायता दे सकने में समर्थ हैं, इसीसे मैं आया हूँ।' और फिर इस सहायता हेतु वह दो दलीलें पेश करता है। सर्वप्रथम तो कहता है :

समं हि भवतः सख्यं मम चैवार्जुनेऽपि च,
तथा सम्बन्धकं तुल्यं अस्माकं त्वयि माधव।
(उद्योग० ७; १०)

मेरा और अर्जुन का आपके साथ का सख्य बराबर का ही है। और आपके साथ का हमारा संबंध भी तुल्य है—समान है।

समूचे महाभारत के विनोदी वाक्यों की सूची बनायी जाय तो इस श्लोक के प्रथम चरण को उसमें शामिल करना ही होगा। फिर यह करुण वाक्य भी है। कारण यह कि वह गंभीरता से कहा गया है। अपनी और कृष्ण की मैत्री, अर्जुन की और कृष्ण की मैत्री जैसी ही है, ऐसा विधान ही जबरदस्त असत्य है। ऐसा विराट् असत्य कृष्ण मान लेंगे यह मानकर ही दुर्योधन बोला है। यह वाक्य दुर्योधन ने किसी और से कहा होता तो भी इतना ही हास्यास्पद लगता। पर यह तो वह स्वयं कृष्ण से कहता है। सख्य के बाद कुटुम्ब के सम्बन्धों—रिश्तों के मामलों में भी अर्जुन का समकक्ष है यह भी

कहता है। पर अर्जुन कृष्ण की बुआ का लड़का है और वह स्वयं उस बुआ का भतीजा है यह बात दुर्योधन भूला तो नहीं ही है। अतः बोलने को तो वह यह बात कह जाता है, पर जो विधान अपने गले न उतरे वह कृष्ण के गले कैसे उतरेगा, ऐसी कल्पना तो वह कहाँ कर सकता है? कृष्ण सख्य की या सम्बन्ध की बात हँसी में उड़ा देंगे यह सूझते ही, उसी साँस में वह आगे कहता है :

अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन,
पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्वसारिणः।

(उद्योग० ९; ११)

मधुसूदन, आज आपके पास मैं पहले आया हूँ। पूर्वाचार्यों की परम्परा का अनुसरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष प्रथम आनेवाले याचक की ही सहायता करते हैं।

कृष्ण इन दोनों में से एक भी दलील में नहीं आते। वह सख्य-वाली बात तो इतनी हास्यास्पद और इतनी करुण है कि उसका जवाब देना भी कृष्ण को उचित नहीं लगता। कृष्ण अपने उत्तर में इस बात का उल्लेख नहीं करते, यही कृष्ण का बड़ा उत्तर है। पर पूर्व आचार्यों की परम्परा से सम्बद्ध प्रश्न का उत्तर तो कृष्ण को देना ही है, अतः वे कहते हैं : आपकी इस बात में मुझे संदेह नहीं है कि आप पहले आये होंगे। कृष्ण और दुर्योधन के बोलने की रीति में कवि ने अन्तर किया है। दुर्योधन 'अहं चाभिगतः पूर्वं' ऐसा कहकर 'अहं' शब्द से शुरू करता है, कृष्ण 'भवानभिगतः पूर्वं' (आप पहले आये हो) इन शब्दों से, अर्थात् 'भवान्'–'आप' शब्द से शुरू करते हैं, पर तत्काल ही कृष्ण कहते हैं कि आपकी बात झूठ है यह मैं नहीं कहता; पर मैंने तो सबसे पहले पार्थ धनंजय को देखा है।

तिस पर भी कृष्ण छटक नहीं जाना चाहते। वे तो कहते हैं 'साहाय्यमुभयोरेव'—मैं दोनों की सहायता करूँगा।

अर्जुन को उन्होंने पहले देखा यह पहला कारण है, अर्जुन दुर्योधन से छोटा है, और दुर्योधन ने पूर्वाचार्यों की परम्परा का सहारा लिया है तो कृष्ण श्रुति का हवाला देकर कहते हैं :

प्रवारणं तु बालानाम् पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः

(उद्योग० ७; १५)

बालकों को अभीष्ट वस्तु सबसे पहले देनी चाहिये ऐसा श्रुति-
वचन है।

कृष्ण दोनों की सहायता करने के निमित्त और उसमें भी अर्जुन
को प्रथम पसंदगी देकर एक प्रकार से अर्जुन को कसौटी पर कसते भी
हैं। वे कहते हैं कि एक तरफ मेरे जैसे ही बलवाले दस करोड़ यादवों
की सेना है; वह सब 'नारायण' के रूप में ही जाने जाते हैं, यह पूरे के
पूरे दस करोड़ सैनिक एक पक्ष की ओर से लड़ेंगे। युद्ध में प्रवृत्त रहेंगे।
तब दूसरे पक्ष में मैं रहूँगा, पर कैसा ?

अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः

(उद्योग० ७; १७)

'अयुध्यमानः' अर्थात् युद्ध में भाग न लेनेवाला, और 'न्यस्तशस्त्रो'
अर्थात् शस्त्र हाथ में न उठाने का संकल्प लिये मैं—

और ये दो पसंदगियाँ आमने-सामने रखकर, सबसे पहला चयन
करने का अवसर अर्जुन को देते हैं। अर्जुन से कहते हैं कि इसमें से
तुझे जो पसन्द आये वह चयन कर ले।

अर्जुन अपना 'सखा' है या कि 'सम्बन्धी' है इस आधार पर नहीं,
धर्म के अनुसार उसे पहले चयन करने का अधिकार है, इस हेतु वे
अर्जुन से पहले पसन्द करने को कहते हैं।

अर्जुन की पसन्द (वरयामास केशवम्) हम जानते हैं। इस पसन्दगी
में कृष्ण के प्रति उसका प्रेम है; कृष्ण 'नरं चैव नरोत्तम' हैं, ऐसी श्रद्धा
है। पर इस पसन्दगी का एक दूसरा परिणाम भी निकलता है। इस परि-
णाम पर ध्यान दें तो विचक्षण अर्जुन के मन में यह गणना नहीं रही
होगी यह मानने का कारण नहीं रह जाता। अर्जुन ने सेना माँगी
होती तो कृष्ण दुर्योधन के पक्ष में जाते, मान लें कि दुर्योधन के सारथी
न हुए होते, मात्र सलाहकार ही रहते, पर बलराम निश्चय ही दुर्यो-
धन की ओर से लड़ने गये होते। बलराम के मन में दुर्योधन के लिए
कोमल लगाव है। यदि अर्जुन ने चयन करने में भूल की होती तो
कृष्ण, सात्यकि और बलराम तीनों ही दुर्योधन के पक्ष में गये होते।
और "यतः कृष्णस्ततो जयः" के न्याय के अनुसार पांडवों की पराजय
हुई होती। अर्जुन की पसन्दगी सुनकर, वह और कृष्ण दोनों धोखा

खा गये हैं, ऐसे विश्वास के साथ (कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा) वह बल-राम के पास जाता है । तब बलराम उससे कहते हैं :

न चाहमुत्सहे कृष्णं विना स्थातुमपि क्षणम् ।
(उद्योग० ७; २५)

कृष्ण के बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकूँगा । इसीसे वे युद्ध में तटस्थ रहने का निर्णय करते हैं और दुर्योधन से 'क्षात्र-धर्म' के अनुसार युद्ध करने की प्रेरणा देते हैं । अर्जुन के पक्ष से दुर्योधन के सामने बलराम लड़ नहीं सकते, और कृष्ण जिसके पक्ष में हैं ऐसे अर्जुन के सामने हलधर कैसे लड़ सकता है ? अस्तु, अर्जुन की पसन्दगी का सीधा परिणाम यह होता है कि बलराम प्रतिपक्ष में जाते हुए रुक जाते हैं ।

कृष्ण भी यह बात जानते हैं । इसीसे तो वे अर्जुन से प्रश्न करते हैं : 'पार्थ, तूने युद्ध न करने के संकल्पवाले और शस्त्रहीन मुझ जैसे को क्यों पसन्द किया ?'

अर्जुन का उत्तर बड़ा ही सुन्दर है । वह कहता है : 'भगवान्, आप अकेले ही उन सबका नाश करने में समर्थ हैं, यह मैं जानता हूँ । मैं अकेला भी उन सबका नाश करने में समर्थ हूँ, यह भी मैं जानता हूँ ।'

अर्जुन ये शब्द अहंकारवश नहीं कहता, अपनी शक्ति और भगवान् की शक्ति की बराबरी करने की भी उसकी वृत्ति नहीं है । उसे अपनी शक्तियों का ख्याल है । इतना ही नहीं, अपनी मर्यादाओं का भी ख्याल है । अपनी महत्त्वाकांक्षाओं का भी ख्याल है । इसीसे वह कहता है :

भवांस्तु कीर्तिमान् लोके तद्यशस्त्वां गमिष्यति ।
यशसां चाहमप्यर्थी तस्मादसि मया वृतः ।।
(उद्योग० ७; ३३)

आप इस संसार में कीर्तिमान् हैं । आप जहाँ जाते हैं, यश भी वहीं जाते हैं । मुझे भी यश की अभिलाषा है, इसीसे मैंने आपको पसन्द किया ।

अर्जुन अपने स्वार्थ, अपनी महत्त्वाकांक्षा को छिपाकर नहीं रखता । कृष्ण बिना विजय यशपूर्ण न होती, यह बात वह अच्छी तरह से जानता है । जरासंध ने निन्यानवे राजाओं को हराकर बन्दी

बनाया था, यही नहीं, मथुरा के यादवों पर भी सफल हमले किये थे। कर्ण या दुर्योधन का पराक्रम भी कुछ कम होगा ऐसा नहीं था। पर कृष्ण हों, वहीं यश भी होता है। अर्जुन को केवल विजय नहीं चाहिये, उसे यशस्वी विजय चाहिये।

६. धर्म का बल

कृष्ण युद्ध के पक्ष में नहीं थे; वे युद्ध करने का, रणक्षेत्र में हथियार उठाने का संकल्प करते तो शायद भीष्म, द्रोण, कर्ण और यहाँ तक कि दुर्योधन भी युद्ध का विचार टाल देते। कृष्ण का प्रताप और प्रभाव सभी जानते थे। कृष्ण इस प्रकार युद्ध का निवारण कर सके होते, फिर भी कृष्ण ने ऐसा क्यों नहीं किया? वे चाहते थे 'अधर्म का नाश हो।' यदि दुर्योधन आधा राज्य भी देने को तैयार न हो, तो उसका नाश होना ही चाहिये। भीष्म, द्रोण या कर्ण कैसे भी महान् वीर क्यों न हों, पर वे अधर्म के पक्ष में थे।

तिस पर से किसी व्यक्ति को वह गलत कार्य कर रहा है, कभी-कभी इस बात की प्रतीति ही नहीं होती। द्रुपद का दूत जब दुर्योधन की राज्यसभा में संधिवार्ता करने जाता है तब कर्ण कहता है : शकुनि ने पांडुपुत्र युधिष्ठिर को द्यूतक्रीड़ा में पराजित किया था, और द्यूत की शर्त के अनुसार वे वन में गये। वे उस शर्त के अनुसार राज्य वापस माँगते होते तो बात दूसरी थी, पर युधिष्ठिर तो मत्स्य और पांचाल देश की सेना के बल का आश्रय लेकर राज्य माँग रहे हैं। कर्ण आगे कहता है :

दुर्योधनो भयाद्विद्वन् न दद्यात्पादमन्ततः।
धर्मस्तु महीं कृत्स्नां प्रदद्याच्छत्रवेऽपि च॥

(उद्योग० २१; १२)

हे विद्वन्! (यह कथन कर्ण द्रुपद के दूत को उद्देश्य कर कहता है) दुर्योधन डर के मारे तो किसीको पैर रखने लायक भूमि भी नहीं देगा, पर हाँ, यदि कोई धर्म से माँगे तो शत्रु को भी सारी पृथ्वी देने को तैयार है।

इससे पूर्व हमने दुर्योधन के मुख से एक मजेदार वाक्य सुना था।

उसने कृष्ण से कहा था कि आपका और हमारा सख्य, आपके और अर्जुन के सख्य के समान है। उस वक्त इस कथन पर हँसना या रोना यह समझ में नहीं आया था, अब धर्मशास्त्र के सूक्ष्म मर्म का जानकार जब इस संदर्भ में धर्म की बात करता है, तब हँसें या रोयें यह समझ में नहीं आता।

धृतराष्ट्र समूचे महाभारत का सबसे महान् खलपात्र है। पिता यदि अपने लड़कों को गलत मार्ग पर चलने से नहीं रोकता तो यह एक अपराध है; किंतु गलत मार्ग पर चलने हेतु प्रोत्साहित करे तो यह दूसरा और ज्यादा बड़ा अपराध है। भीष्म कर्ण को रोककर युद्ध की भयंकरता बताते हैं। यही नहीं, पर विराट्नगर में अभी हाल में अकेले अर्जुन ने भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन आदि महारथियों को हराया था इसका भी स्मरण दिलाते हैं। धृतराष्ट्र बात को यहीं लपेट रखना चाहते हैं। वे युद्ध द्वारा पांडवों का विनाश चाहते हैं, अथवा यह चाहते हैं कि पांडव युद्ध न करें और रास्ते पर भटकते भिखारी बने रहें। इसीसे वे दूत से कहते हैं : 'ब्रह्मदेव, आप जाइये। यह तो युद्ध-समाधान की गंभीर बात है। मुझे गहरा विचार करना पड़ेगा। बाद में मैं संजय को पांडवों के पास भेजूंगा !'

संजय पांडवों के पास जाकर धृतराष्ट्र का सूफियाना संदेश सुनाता है। धृतराष्ट्र पांडवों को उनका राज्य तो देना नहीं चाहते, उल्टे संजय से कहलवाते हैं :

न चेद् भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छन्ते तुभ्यमजातशत्रो।
भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥

(उद्योग० २७; २)

हे अजातशत्रु, यदि कौरव युद्ध किये बिना आपको आपके राज्य का हिस्सा नहीं देते तो अन्धक तथा वृष्णिवंश के क्षत्रियों के राज्य में भिक्षा माँगकर आप निर्वाह करें यही आपके लिये अच्छा है, पर युद्ध करके राज्य प्राप्त करें इसमें आपका श्रेय नहीं है।

इतना ही नहीं, संजय कहता है : 'यों तो आपने चाहा होता तो द्यूत में हारे थे तभी वनवास न जाते, कारण यह कि आपके पास

विशाल सेना थी, कृष्ण, सात्यकि और पांचाल के वीर आपके सहायक थे, इन सबके बल से आपने राज्य बनाये रखा होता। अब यदि आप राज्य के लिये चिरस्थायी विद्वेषरूपी युद्ध जैसा पाप करने के इच्छुक हैं, तो मैं यही कहूँगा कि आप कुछ और वर्षों तक दुःखमय वनवास के कष्ट भोगें यही अच्छा है।'

संजय की ये दलीलें आज भी युनाइटेड नेशन्स में कभी-कभी आचरित राजनीति जैसी हैं! तृणमात्र जमीन लिये बिना पांडव अन्य राज्यों के आश्रय में जाकर रहें यही धृतराष्ट्र चाहते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर कुछ भोले नहीं हैं, वे कहते हैं :

यत्राधर्मो धर्मरूपाणि बिभ्रद्
कृत्स्नो धर्मः दृश्यतेऽधर्मरूपः।
तथा धर्मो धारयन्धर्मरूपं
विद्वांसस्तं सम्प्रपश्यन्ति बुद्धया:॥
(उद्योग० २८; २)

कहीं तो अधर्म ही धर्म का रूप धारण कर लेता है, कहीं पूर्णतया धर्म अधर्म जैसा दिखाई पड़ता है; तथा कहीं धर्म अत्यन्त वास्तविक स्वरूप धारण करके रहता है, विद्वान् पुरुष अपनी बुद्धि से विचार करके उसके असल रूप को देख लेते हैं, समझ लेते हैं।

खलिल जिब्रान की वह सत्य और असत्य की कथा याद आती है। सत्य और असत्य दोनों बहनें अपने वस्त्र किनारे पर उतारकर नदी में नहाने गयीं। असत्य ने पहले नहा लिया, वह किनारे आयी और सत्य के कपड़े पहनकर चलती बनी। सत्य किनारे आयी तो उसके कपड़े नहीं थे, अतः असत्य के वस्त्र उसे पहनने पड़े। तभी से लोग असत्य-सत्य के बीच भ्रम में पड़ते रहते हैं।

युधिष्ठिर के इस श्लोक के आधार पर जिब्रान ने यह कथा रची होगी ऐसा चुटीला यह श्लोक है, यह कहता है कि कभी धर्म अधर्म जैसा लगता है और अधर्म धर्मरूप धारण करता है।

युधिष्ठिर भी इस भ्रम में पड़े हैं, अतः वे आखिरी निर्णय स्वयं नहीं लेते। वे कृष्ण की सलाह माँगते हैं। हमने पहले भी देखा है कि युधिष्ठिर केवल द्यूतक्रीड़ा छोड़कर बाकी प्रत्येक अवसर पर कृष्ण की

सलाह माँगते हैं। द्यूत खेलने के लिये कृष्ण की सलाह नहीं माँगी गयी है, कृष्ण इस बाबत इतना ही कहते हैं : मैं होता तो मैंने यह खेल खेलने ही न दिया होता।

संजय जब कौरवों की स्वार्थसिद्धि के लिये बातों का जाल बिछाते हैं, तब कृष्ण उपस्थित हैं। अतः कृष्ण बोलना शुरू करते हैं, इन शब्दों द्वारा :

अविनाशं संजय पांडवाना-
मिच्छाम्यहं भूमिमेषां प्रियं च।
तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत
सदाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम्॥
(उद्योग० २९; १)

संजय, मैं पांडवों के वास्ते अविनाश (उनका विनाश न हो) चाहता हूँ, उन्हें ऐश्वर्य मिले, उनका प्रिय हो यह भी हृदय से चाहता हूँ। इसके साथ ही, इसी प्रकार से, अनेक पुत्रोंवाले धृतराष्ट्र की भी मैं वृद्धि अर्थात् अभ्युदय चाहता हूँ।

कृष्ण स्पष्टवक्ता हैं, वे कहते हैं : मैं पांडवों का श्रेय चाहता हूँ, पर कौरवों का मुझे अहित नहीं करना है। किन्तु कौरवों ने एक अपराध किया है, वे 'परभूमि'—पराई भूमि पचा जाना चाहते हैं। पराया धन प्रकट रूप से या चोरी-छिपे हरण करनेवाले चोर, लुटेरे और दुर्योधन के बीच कोई अन्तर है क्या ?—कृष्ण यह प्रश्न पूछते हैं।

महाभारत की राज्य-व्यवस्थाओं में राजाओं को झुकाने की बात थी, पर कहीं भी किसीका राज्य ले लेने की बात नहीं है। जरासंध का वध करने के बाद उसका साम्राज्य ले लेने की बात लोगों के मन में नहीं आती, उस गद्दी पर तो जरासंध के पुत्र का ही अभिषेक होता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जिसे विस्तारवाद कहते हैं वह महाभारत में कहीं नहीं है, इस बात की जानकारी इरावती कर्वे ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'युगांत' में सोदाहरण दी है।

कृष्ण जब संजय का जवाब देते हैं, तब उसमें सत्य का बल है। कृष्ण के सत्य के समक्ष संजय का तर्क टिकता नहीं। यहाँ महाभारत-कार एक सरस उपमा कृष्ण के मुख में रखते हैं :

वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
व्याघ्रा वने संजय पांडवेयाः।
मा वनं छिन्धि स व्याघ्रं,
मा व्याघ्रान्नीनशो वनात्॥
(उद्योग० २९; ४७)

पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र एक वन हैं और पांडव उस वन के सिंह हैं। अतः न तो इस सिंहयुक्त वन को काटो, न वन के सिंहों का नाश करो। और कृष्ण इसका कारण भी कैसा प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं:

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम्।
तस्मात् व्याघ्रो वतं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत्॥

(उद्योग० २९; ४८)

यदि वनविहीन सिंह होते हैं तो उनका वध होता है और सिंहविहीन वन हो तो लकड़हारे बिना किसी भय के उसे काट डालते हैं। इससे बेहतर यही है कि सिंह वन की रक्षा करें और वन सिंहों का पालन करें।

कृष्ण धृतराष्ट्र के कुल का नाश नहीं चाहते थे, इसीसे तो इस अध्याय में वे संजय से बात करते हुए तरह-तरह की उपमाएँ देते हैं, धृतराष्ट्र के पुत्र लता जैसे हैं और पांडव शाल वृक्ष जैसे हैं, कोई भी लता बड़े वृक्ष के आश्रय के बिना आगे नहीं बढ़ सकती। यह सब संजय से कहने के बाद कृष्ण अंत में शांति की भीख नहीं माँगते और युद्ध की दुन्दुभि भी नहीं बजाते। वे तो केवल इतना ही कहते हैं:

धर्माचारी पांडव शांति के लिये स्थित (तैयार) हैं और युद्ध के लिये समर्थ हैं। (उद्योग० १९; ५१)। अतः तुझे जाकर राजा से जो कहना हो सो कहना।

संजय के द्वारा युधिष्ठिर जो कुशल-समाचार पुछवाते हैं उसे महाभारत के मानव-सम्बन्धों का छोटा-मोटा काव्य ही कहा जा सकता है। उद्योगपर्व के तीसवें अध्याय में युधिष्ठिर सबको यानी भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र आदि की तो निश्चय ही, पर दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, कर्णसहित सभी लोगों की कुशल पुछवाते हैं, वे राजरानियों की, राजकुमारियों की, 'वेशस्त्रियां' अर्थात् रूपाजीवाओं की, दास-दासियों की,

वृद्धों की, अंधे लोगों की—इस प्रकार समस्त लोगों की कुशल अपनी ओर से पूछने को कहते हैं। अंत में अपना संकल्प भी कह ही देते हैं :

न हीदृशा सन्त्यपरे पृथिव्यां
ये योधका धार्तराष्ट्रेण लब्धाः।
धर्मस्तु नित्यो मम धर्म एव
महाबलः शत्रुनिबर्हणाय।।

(उद्योग० ३०; ४२)

धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने पृथ्वी पर जिनकी जोड़ नहीं है ऐसे योद्धा एकत्र किये होंगे। पर धर्म ही नित्य है। मेरे पास इन सब शत्रुओं को नष्ट कर सके ऐसा महाबल है। वह है मेरा धर्म ! इसीसे वे दुर्योधन से कहते हैं :

ददस्व वा शक्रपुरं ममैव—
मेरा इन्द्रप्रस्थ मुझे वापस लौटा दो नहीं तो
युध्यस्व वा भारतमुख्यवीर।
अथवा भारत-वंश के प्रमुखवीर, तुम युद्ध करो।

(उद्योग० ३०; ४७)

युधिष्ठिर की यह धर्मनिष्ठा है कि वे प्रतिपक्ष का बल कम नहीं आँकते। भारतमुख्यवीर विरुद वे दुर्योधन को देते हैं। पर सब बल की अपेक्षा धर्म का बल अधिक है,—"धर्मस्तु नित्यो" यह हकीकत जानते हैं।

७. विदुर-नीति

संजय निष्ठावान् दूत है। वह युधिष्ठिर की सभा में अपने दूत-कार्य में तनिक भी चूकता नहीं। धृतराष्ट्र और उसकी संतानों की ओर से पाण्डवों को वाजिब और गैर-वाजिब सभी कुछ कह डालता है। इतना ही नहीं, कृष्ण या युधिष्ठिर जो कुछ कहते हैं वह शांति-पूर्वक सुन लेता है।

परन्तु संजय मात्र सन्देशवाहक नहीं है। वह धृतराष्ट्र के मन्त्रियों में से एक है। समूचे महाभारत-युद्ध को भगवान् व्यास संजय की दृष्टि

से निरूपित करना चाहते हैं, इसीसे संजय की सूझबूझ कितनी है और दमखम कैसा है इस बाबत वे पाठकों को अन्धकार में नहीं रखते।

युधिष्ठिर के पास जाकर युद्ध करने से तो भीख माँगना अच्छा है, यह कहनेवाला संजय हस्तिनापुर वापस लौटता है, तब क्या होता है ? कृष्ण इन तमाम घटनाओं में यों देखें तो कहीं भी नहीं हैं। पर कृष्ण न हों ऐसी कोई घटना दिखती है क्या ? संजय ने वापस लौटकर जो कुछ कहा और धृतराष्ट्र के मानस-पटल पर उसका जो भी असर हुआ वह बात इसलिये संगत है कि कृष्ण की ऐतिहासिक संधि-वार्ता की पृष्ठभूमि के रूप में ये सब घटनायें आती हैं। व्यास भगवान् ने पर्व के अन्तर्गत उपपर्व रखे हैं। इनमें हम इस समय जिनकी बात करने जा रहे हैं वे 'संजय दानपर्व', 'प्रजागर पर्व' और 'सनत्सुजात पर्व' के नाम से विख्यात हैं।

संजय वापस लौटते हैं तब रात हो चुकी होती है। व्यास भगवान् समय का निर्देश स्पष्ट रूप से तो नहीं करते, पर संयोग की दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि रात हो चुकी है। महाराज अन्तःपुर में हैं। संजय बाहर जाकर द्वारपाल से कहता है कि 'महाराज जागते हों तो कहना कि संजय आज्ञा मिलते ही अन्दर आयेगा।' 'धृतराष्ट्र जागते हों तो'—यह प्रश्न यों तो धृतराष्ट्र सो तो नहीं गये हैं, इस बाबत है पर यह 'जागर्ति' की पूछताछ का अर्थ धृतराष्ट्र की नींद अब उड़ी है या नहीं, ऐसा भी लगाया जा सकता है।

युधिष्ठिर की सभा में धृतराष्ट्र के सन्देश को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करने के बाद, अब धृतराष्ट्र के पास आकर वे जो कुछ कहते हैं उसकी तुलना करने योग्य है। संजय समूची परिस्थिति को अथ से इति तक समझ गया है।

धृतराष्ट्र को नींद कहाँ से आये ? इसके बावजूद वह सच्चे अर्थ में जागा हुआ भी नहीं है। वे संजय को तत्काल अन्दर बुलाते हैं। प्रारम्भिक कुशल-समाचार के आदान-प्रदान के बाद संजय तत्काल ही सीधे मुद्दे पर आता है। वह कहता है: जैसे डोरी से बँधी कठपुतली दूसरों द्वारा प्रेरित होकर नृत्य करती है, उसी तरह मनुष्य परमात्मा की प्रेरणा से ही सभी कार्यों में प्रवृत्त होता है। पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को जो कष्ट सहने पड़ रहे हैं वह देखकर मैं मानने लगा हूँ कि मनुष्य के पुरुषार्थ से भी अधिक दैव—ईश्वरीय विधान—अधिक बलवान् है।

और फिर वह धृतराष्ट्र से स्पष्ट रूप से कहता है कि अपनी स्वार्थ-वृत्ति की ओट में वे कौरवों की कुशल भी नहीं देख पाते। अन्त में वह कहता है :

स त्वा गर्हे भारतानां विरोधा-
दन्तो नूनं भवितायं प्रजानाम्।
नो चेदिदं तव कर्मपराधात्-
कुरून्दहेत् कृष्णवर्त्मेव कक्षम्॥
(उद्योग० ३२; २७)

संजय के ये शब्द चौंकानेवाले हैं, क्या मन्त्री अपने सम्राट् से ये शब्द कह सकता है ? पर ये शब्द भी धृतराष्ट्र की नींद उड़ाने में समर्थ नहीं होते। संजय स्पष्ट शब्दों में कहता है : 'आप भरतवंश में जो विरोध फैला रहे हैं उसके लिये मैं आपकी निंदा करता हूँ; कारण यह कि इस विरोध के फलस्वरूप समस्त प्रजा का विनाश होगा। आप यदि मेरे कहे अनुसार काम नहीं करेंगे तो तमाम अपराधों का फल यह होगा कि कृष्ण (अर्थात् अर्जुन) समस्त कौरववंश को इस तरह जला डालेंगे जैसे अग्नि घास की ढेरी को जला डालती है।'

आगे संजय कहता है : 'समस्त संसार में एकमात्र आप ही अपने स्वेच्छाचारी पुत्र की प्रशंसा करते हुए उसके अधीन होकर द्यूतक्रीड़ा के समय उसीका पक्ष ले रहे थे और राज्य का लोभ नहीं छोड़ पाये, तो अब उसका भयंकर परिणाम भी आप अपनी आँखों से देखियेगा।'

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं : 'आप इस पृथ्वी की रक्षा करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि आपने मनोदौर्बल्य प्रदर्शित किया है।'

इतना कहकर 'युधिष्ठिर का सन्देश अब कल सबेरे कौरव-सभा में कहूँगा' ऐसा सूचित करके वह चला जाता है।

संजय के इन शब्दों से धृतराष्ट्र की बेचैनी बढ़ जाती है। उत्ताप की परिसीमा में वे विदुर को बुलाते हैं। विदुर द्वारा कुछ सुनने को मिले तो शायद चैन आये, इस आशा से वह विदुर से कहते है : 'संजय मुझे खरी-खोटी सुनाकर चला गया और मेरी नींद उड़ गयी है।'
विदुर कहते हैं :

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम् ।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः ।।
कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप ।
कच्चिन्न परवित्तेषु गृध्यन्विपरितप्यसे ।।
(उद्योग० ३३; १३-१४)

बलवान् मनुष्य से झगड़ा हुआ हो ऐसे साधनविहीन दुर्बल मनुष्य को, कामी को, चोर को या पराये धन का लोभ रखनेवाले को नींद नहीं आती । हे नराधिप, आपको इन महादोषों में से किसीने स्पर्श तो नहीं किया है ?

विदुर ने ठीक मर्मस्थान पर अँगुली रख दी है । निद्रा न आने के कारणों में प्रमुख कारण है पराये धन का लोभ । पांडवों का हजम किया हुआ राज्य वापस नहीं देना है । इसीमें से सभी मुश्किलें उत्पन्न हुई हैं ।

धृतराष्ट्र नामक पात्र की यही विचित्रता है । उसे अच्छी वाणी सुननी है । धर्म क्या है, नीति क्या है यह जानना है, पर उसे आचरण में नहीं रखना है ।

'दरद बिन रैन न जागे कोई' हमारे इस प्रचलित गीत की पंक्ति याद आती है । धृतराष्ट्र रातभर जागते हैं, उनका दर्द यह है कि पांडवों को उनका हक नहीं देना है; लेकिन पांडवों के साथ युद्ध टालना है । ऐसा कैसे हो सकता है ? इस असम्भव को सम्भव बनाने का सन्ताप ज्ञान से टल सकता है क्या ?

यदि ज्ञान से टल सकना सम्भव होता तो 'विदुर-नीति' नाम से विख्यात इन आठ अध्यायों द्वारा प्रदत्त ज्ञान या फिर सनत्सुजात ने आकर जो ज्ञान सुनाया (जो सनत्सुजात पर्व के पाँच अध्यायों में है) वह धृतराष्ट्र की आँख खोलने के लिये यथेष्ट होता । विदुर कहते हैं :

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्येका परमा दृष्टिरहिंसैका सुखावहा ।।
(उद्योग० ३३; ४८)

केवल धर्म ही श्रेयस्कर है, शांति का सर्वोत्तम उपाय है क्षमा, विद्या ही परमदृष्टि है, और अहिंसा ही परम सुख है ।

इस एक श्लोक में विदुर जाने कितना कुछ कह देते हैं। धर्म का पारंपरिक अर्थ है, समाज को धारण करनेवाला तत्त्व, ('धारयति इति धर्मः') ऐसा धर्म ही कल्याणकारी होता है। शांति सिद्ध करनी हो तो क्षमा ही श्रेष्ठ उपाय है। क्षमा की बाबत अन्यत्र विदुर कहते हैं : क्षमाशील लोगों पर एक ही दोष लग सकता है, वह है असमर्थता का। क्षमाशील मानवों को लोग 'अशक्त' (निर्बल) मान लेते हैं। पर इस दोष को सहन करके भी क्षमाशील बने रहें तभी शांति सम्पन्न होती है। लोग चर्मचक्षु से देखते हैं, पर परम दृष्टि विद्या की होती है। और अहिंसा में परम सुख है।

धृतराष्ट्र यदि विदुर-नीति में से केवल इस एक श्लोक को अमल में लायें तो क्षमा तथा अहिंसा को आचरण में लाकर, धर्म और विद्या के मार्ग पर चलकर पांडवों का राज्य वापस लौटा दें। पर विदुरजी कहते हैं :

> य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये।
> सुखे सौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥
>
> (उद्योग० ३४; ४०)

जो दूसरों के धन की, रूप की, पराक्रम की, कुलीनता की, सुख की, सौभाग्य की या सत्कार की ईर्ष्या करते हैं उनकी यह व्याधि असाध्य है। उनके रोग का कोई इलाज नहीं है। दुर्योधन को पांडवों के धन, पराक्रम, सुख, सौभाग्य, उनको प्राप्त होते आदर-सम्मान—इन सबसे ईर्ष्या है और इसीसे यह ईर्ष्या का रोग असाध्य है, यह बात विदुरजी समझाते हैं।

धृतराष्ट्र की तो भीष्म, द्रोण आदि वृद्धों से अलंकृत राज-सभा है, पराक्रमी पुरुषों का साथ है, तो फिर उसकी विजय क्यों न होगी ? विदुर इसी बात को लक्षित करके कहते हैं :

> न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
> न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
> नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
> न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥
>
> (उद्योग० ३५; ४९)

जहाँ वृद्ध न हों वह सभा नहीं है, जो धर्म का उद्घोष न करें वे वृद्ध नहीं हैं, जिसमें सत्य न हो वह धर्म नहीं है और जिसमें छल हो वह सत्य नहीं है।

धृतराष्ट्र की सभा में वृद्ध हैं, पर वे धर्म का उद्घोष करने में डरते हैं, नहीं तो द्रौपदी-चीरहरण के समय भीष्म और द्रोण भला चुप रहते? आदमी उम्र से वृद्ध हो जाय तो भी वह वृद्ध नहीं होता, वह धर्म का उद्घोष कर सके तभी वृद्ध होता है। वृद्ध का अर्थ है—वृद्धि-प्राप्त—अभ्युदयप्राप्त भी होता है। इसीसे जो धर्म का उद्घोष नहीं कर पाते, वे बूढ़े होते हैं, वृद्ध नहीं होते। धर्म कभी भी सत्य से वंचित हो ही नहीं सकता। और जहाँ शकुनि का छल चलता हो, वहाँ सत्य कैसे टिक सकता है?

विदुर-नीति में कितनी ही सरस बातें हैं। भगवान् व्यास के ज्ञान और काव्य दोनों का स्पर्श इनमें होता है। वे कहते हैं: जैसे शुष्क सरोवर पर चक्कर काटकर हंस उड़ जाते हैं, पर उसमें प्रवेश नहीं करते, उसी प्रकार ऐश्वर्य, जिनका चित्त चंचल है, जो अज्ञानी है और इंद्रियों के गुलाम हैं, उनका त्याग करता है।

जो धृतराष्ट्र कुलरक्षा के लिये पांडवों को उनका उचित भाग देने से भी इनकार करता है, उस धृतराष्ट्र से विदुर कहते हैं: कुल की रक्षा के लिये पुरुष का, ग्राम की रक्षा के लिये कुल का, देश की रक्षा के लिये गाँव का और आत्मा के कल्याण के लिये सारी पृथ्वी का त्याग कर देना चाहिये। (उद्योग० ३७; १६)

विदुर की इतनी सारी बातें सुनने के बाद भी धृतराष्ट्र के मन को शांति नहीं मिलती, वह कहता है कि अभी मुझे और सुनना है। अतः विदुर ब्रह्मा के पुत्र तथा प्राचीन ऋषि सनत्सुजात का स्मरण करते हैं और ऋषि उपस्थित हो जाते हैं। यह ऋषि मानते हैं कि मृत्यु जैसी कोई चीज है ही नहीं। वे कहते हैं: प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृत है (उद्योग० ४२; ४)। कामनाओं के पीछे भागनेवाला मनुष्य कामनाओं के साथ ही नष्ट हो जाता है, पर ज्ञानी पुरुष कामनाओं का त्याग करके, जो दुःख का मूल है उसे ही नष्ट कर देता है (उद्योग० ४२; १०)। हे क्षत्रिय, जो विषयभोग की तनिक भी अपेक्षा

नहीं करते, उनके लिये फूस के शेर की तरह वृद्धावस्था भयानक नहीं होती।

(उद्योग० ४२; १७)

वृद्धावस्था को फूस के शेर की उपमा देते हुए महाकवि प्राचीन होते हुए भी कितने आधुनिक लगते हैं !

सनत्सुजात आगे कहते हैं : जो किसी तरह के मोह से होनेवाली मृत्यु को जानकर ज्ञाननिष्ठ हो जाता है, वह इस लोक में मृत्यु से कभी नहीं डरता, उसके पास आकर मृत्यु इस प्रकार विनाश पाती है जैसे मृत्यु के अधिकार में आया हुआ मर्त्य।

सनत्सुजात का एक और बोधवचन जानने योग्य है :

न वै मानं च मौनं च सहितौ चरतः सदा।
अयं हि लोको मानस्य असौ मौनस्य तद्विदुः ॥

(उद्योग० ४३; ३०)

मान और मौन एक साथ कभी भी नहीं रहते। मान से इस लोक में सुख प्राप्त होता है, और मौन से परलोक में।

मान और मौन के बीच का यह सूक्ष्म अंतर कितने आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया है !

रात का जागरण इस प्रकार व्यतीत हुआ है। विदुर के इस बोध के आठ अध्याय दुनिया में 'विदुर-नीति' के नाम से प्रकीर्तित हुए हैं : पर इस प्रकार बितायी रात धृतराष्ट्र का हृदय-परिवर्तन नहीं कर सकती। वह तो दूसरे दिन जब संजय सभा में अपनी संधि-वार्ता की फलश्रुति कहता है, और भीष्म तथा द्रोण दोनों ही सच्ची सलाह देते हैं, तब—

अनादृत्य तु तद्वाक्यमर्थवद् द्रोणभीष्मयोः।
ततः च संजयं राजा पर्यपृच्छत पाण्डवम् ॥

(उद्योग० ४८; ४६)

द्रोण और भीष्म की बात अर्थपूर्ण थी फिर भी उनका अनादर करके राजा धृतराष्ट्र पुनः संजय से पांडवों के समाचार पूछने लगे।

यह समूचा प्रसंग क्या सूचित करता है ?

व्यक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीनों में विद्यमान भेद की सूचना प्राप्त होती है। संजय 'युधिष्ठिर ने जो कहा है वह सभा में कहूँगा' ऐसा

कहकर, साथ ही 'आप अपने पुत्र के स्वार्थ के वशवर्ती हो कुरुकुल का विनाश आमन्त्रित कर रहे हैं' ऐसे शब्द सुनाकर चला गया तब जिसका चैन नष्ट हुआ है ऐसे धृतराष्ट्र की ज्ञान हेतु पिपासा क्या ? भ्रामक थी ?

नहीं !

धृतराष्ट्र की ज्ञान-पिपासा सच्ची थी। उनके मन को शांति प्रदान करें ऐसे शब्द सुनने थे।

पर विदुर या सनत्सुजात की कही बात ज्ञानियों के लिये भी दुर्लभ होने के बावजूद धृतराष्ट्र पर किसी प्रकार का असर न कर सकी।

कारण स्पष्ट है।

धृतराष्ट्र को सांत्वना चाहिये थी। सांत्वना माने व्यक्ति को मनभावे ऐसी बात। धृतराष्ट्र को तो वह और दुर्योधन जो कुछ करे उसका समर्थन चाहता था। ऐसा समर्थन जब इस ज्ञान की वाणी में नहीं मिलता तब सभी ज्ञान पत्थर पर पानी की तरह बह जाता है। इसीसे रातभर जागरण करके, विदुर और सनत्सुजात जैसे ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करके भी धृतराष्ट्र बदलता नहीं, उसमें ज्ञान मिथ्या नहीं होता, धृतराष्ट्र स्वयं ही मिथ्या सिद्ध होता है। विदुरनीति या सनत्सुजात की वाणी की महिमा इससे घटती नहीं है।

सत्य है, चाहे अपरिमित ज्ञान आदमी को धर्म के मार्ग पर प्रेरित न कर सके, ऐसे व्यक्तित्व भी होते हैं। इसकी प्रतीति धृतराष्ट्र के व्यक्तित्व से होती है। धृतराष्ट्र को इतना ढेर-सा ज्ञान मिला फिर भी ज्ञान का विनियोग वह नहीं कर सका।

संजय दूसरे दिन राजसभा में जो बात कहता है वह सर्वविदित है। संजय यह संदेश देते समय निरंतर कृष्ण का उल्लेख करता है। उसका पहला वाक्य ही यह है, 'युधिष्ठिर की आज्ञा से युद्ध में उद्यत ऐसे महात्मा अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण के सुनते हुए जो बात कही वह भले ही दुर्योधन सुने।' (उद्योग० ४७; २) बाद में भी कहता है : 'धीर ऐसे वासुदेव के सान्निध्य में मुझे यह संदेश दिया गया है।'

पांडवों के संदेश में बल भरा है, कारण यह कि वह कृष्ण के सुनते हुए दिया गया है। कृष्ण की मोहर उस पर लगी है। आगे वे कहते हैं : जो युद्ध द्वारा कृष्ण को जीतना चाहते हैं वह दोनों हाथों से

प्रज्वलित अग्नि को बुझाने की चेष्टा करते हैं, अथवा चन्द्र या सूर्य की गति को रोकने का प्रयत्न करते हैं। (उद्योग० ४७; ६५-६७)

संजय के इस संदेश में अर्जुन ने जो कुछ कहलवाया है उसकी बात है, अर्जुन स्वयं समस्त कुरुकुल का कृष्ण की सहायता से नाश करेगा उसकी बात है, भीष्म और द्रोण इस बात का समर्थन करते हैं। धृतराष्ट्र भीम के भीषण रूप का स्मरण करके काँप उठते हैं। संजय पुनः कृष्ण और अर्जुन से उनके अंतःपुर में वे द्रौपदी और सत्यभामा के साथ थे तब मिला था इसकी भी चर्चा करता है :

यत्र कृष्णौ च कृष्णा च सत्यभामा च भामिनी।

(उद्योग० ५९; ४)

और वहाँ कृष्ण के दोनों चरण अर्जुन की गोद में थे और अर्जुन का एक पैर द्रौपदी की गोद में और एक पैर सत्यभामा की गोद में। विशाल एवं सुवर्ण के एक ही आसन पर दोनों कृष्ण अर्थात् कृष्ण वासुदेव और अर्जुन बैठे थे।

श्यामौ बृहन्तौ तरुणौ शालस्कन्धाविवोद्गतौ।
एकासनगतौ दृष्ट्वा भयं मां महदाविशत्॥

(उद्योग० ५९; १०)

श्याम, बृहत्, तरुण और शालवृक्ष के स्कंधों जैसे उन्नत—ऐसे दोनों को एक आसन पर बैठे देखकर मेरे मन में महाभय प्रकट हुआ।

दो कृष्ण एक आसन पर बैठे तब उनके लिये दुर्जेय ऐसा कुछ बचेगा क्या ?

और यहाँ कृष्ण संजय को जो संदेश देते हैं वह भी नोट करने लायक है। कृष्ण सबसे पहले तो यह कहते हैं कि यह बात जब भीष्म और आचार्य द्रोण सुन रहे हों तब राजा धृतराष्ट्र से कहना (उद्योग० ५८, १८)। यह कहने में एक औचित्य है। राजा धृतराष्ट्र को अकेले जो यह संदेश मिले तो शायद कृष्ण ने चेताया नहीं था ऐसा भ्रम फैला रहे। कृष्ण फिर आगे कहते हैं :

तेजोमयं दुराधर्षं गाण्डीवं यस्य कार्मुकम्।
मद्द्वितीयेन तेनेह वैरं वः सव्यसाचिना॥

मद्द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमिच्छति।
यो न कालपरीतो वाप्यपि साक्षात्पुरंदरः॥
(उद्योग० ५८; २२-२३)

जिसके पास अजेय तेजस्वी गाण्डीव धनुष है, और दूसरा मैं हूँ, उस सव्यसाची के साथ आपने वैर किया है। जिसे काल ने घेर न लिया हो ऐसा कौन पुरुष, फिर भले ही वह साक्षात् पुरन्दर (इन्द्र) ही क्यों न हो, क्या उस अर्जुन के साथ लड़ने का साहस करेगा जिसके साथ दूसरा मैं हूँ ?

कृष्ण की इस वाणी में हमने पहले देखी वह नम्रता भी दिखायी पड़ती है, साथ ही साथ यह अधिकार-वाणी भी है। यह अर्जुन को प्रथम स्थान देती है और 'मद्द्वितीयेन' (दूसरा मैं) इस प्रकार दोनों बार कहती है।

एक तो मनुष्य और दूसरा भगवान् ये दोनों साथ हो जायँ तो इन्हें कौन जीत सकता है ?

८. शान्ति-वार्ता की पूर्वभूमिका

धृतराष्ट्र की इच्छा है कि राज्यश्री उसके पुत्रों के पास रहे, और युद्ध के भय से या किसी भी अन्य कारणवश युधिष्ठिर आदि पांडव अपना न्यायोचित दावा छोड़ दें। तदपि युद्ध के परिणामों के प्रति वह सशंक है। भीष्म, द्रोण, विदुर जैसे महापुरुषों की वाणी का अनादर करने का उसमें साहस नहीं है, तो उसे स्वीकारने की दृढ़ता भी नहीं है। धृतराष्ट्र का संकल्प युद्ध का नहीं है, बल्कि राज्य किसी तरह उसके पुत्रों के पास रहे इतना ही है। इसका समर्थन केवल दुर्योधन, कर्ण और शकुनि, तीन लोगों से प्राप्त होता है।

दुर्योधन कहता है : कृष्ण तो हमारा सर्वनाश करके समूचा राज्य पांडवों को सौंपना चाहते हैं। मान लो कि इस युद्ध में हमारी विजय नहीं है, तो हम क्या करें ? हमारे पास तीन विकल्प हैं—

तत्र किं प्राप्तकालं नः प्रणिपातः पलायनम्।
प्राणान्वा संपरित्यज्य प्रतियुध्यामहे परान्॥
(उद्योग० ५४; ११)

इस परिस्थिति में हमारा कर्त्तव्य क्या है ? हम उनके पैरों पड़ें ? पलायन कर जायँ ? कि प्राण का मोह त्याग कर उनसे युद्ध करें ?

कृष्ण ने संजय से कहा था कि मैं अनेक पुत्रोंवाले धृतराष्ट्र की बढ़ती चाहता हूँ। युधिष्ठिर ने तो मात्र शक्रपुर (इन्द्रप्रस्थ) वापस माँगा है। हस्तिनापुर पर दावा नहीं किया है। तिसपर भी दुर्योधन यह उत्तर देता है। कारण यह कि वह युद्ध के लिये कृतसंकल्प है। उसे युद्ध करना ही है।

धृतराष्ट्र संजय की वाणी सुनता है। पांडवों के पक्ष में युद्ध की तैयारी कैसी है यह भी सुनता है, इसीसे वह दुर्योधन से कहता है : पांडवों के साथ समाधान कर लेना ही इष्ट है। कारण यह कि पांडव कौरवों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। पर दुर्योधन अपने बल पर इतराया है। माता गांधारी भी कहती हैं, फिर भी दुर्योधन सुनता नहीं।

धृतराष्ट्र की विचित्रताओं का पार नहीं है। वह जानता है कि उसका पुत्र कृष्ण के विरुद्ध खड़ा है। केवल पांडवों के सामने खड़ा होता तो कदाचित् उसका पुत्र पराक्रम के बल पर जीत जाय ऐसी थोड़ी-सी आशा भी की जा सकती थी। पर कृष्ण जिनके साथ हैं ऐसे पांडवों का सामना करने पर पराजय तो निश्चित ही है। धृतराष्ट्र जानता है कि इस समय पुत्र को रोकने के सभी प्रयत्न निरर्थक हैं, अतः वह कृष्ण से ही प्रार्थना करता है :

सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराणमनादि मध्यान्तमनन्तकीर्तिम् ।
शुक्रस्य धातारमजं जनित्रं परं परेभ्यः शरणं प्रपद्ये ॥

(उद्योग० ६९; ६)

सहस्र मस्तकवाले वे पुराण-पुरुष हैं जिनका आदि, मध्य या अंत नहीं है, जो अनन्त कीर्ति से सुशोभित हैं, जो शुक्र को धारण करने-वाले हैं, अजन्मे, नित्य तथा परात्पर परमेश्वर हैं, ऐसे श्रीकृष्ण के मैं शरणागत हूँ।

धृतराष्ट्र की यह शरणागति मात्र वाणी में है, भय से प्रगट हुई है, आदमी जब संकट में फँसता है तो जैसे व्रत, मनौती आदि मानने लगता है ऐसी वृत्ति में से उपजी है। यदि धृतराष्ट्र की यह शरणागति सच्ची

होती तो उसने उसे केवल वाणी तक ही सीमित न रखा होता। शरणागति की भावना हो पर शरणागति कार्यरूप में रूपान्तरित न हो पाये तब वह निरर्थक हो जाती है। धृतराष्ट्र की यह प्रार्थना इसीका उदाहरण है।

युद्ध की बाबत दुर्योधन की छावनी में यह स्थिति है—तो यहाँ पांडवों के यहाँ क्या परिस्थिति है ?

संजय संधिवार्ता करके वापस गये कि तत्काल ही युधिष्ठिर कृष्ण के पास गये और कहा कि हमें केवल आपकी शरणागति है। ये शब्द देखने लायक हैं :

अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मे जनार्दन।
न च त्वदन्यं पश्यामि यो न आपत्सु तारयेत्॥
(उद्योग० ७०; २)

अब वह समय आ गया है, हे कृष्ण, कि जब आपको मित्रों की सहायता करनी पड़ेगी। एक ओर युधिष्ठिर जब कृष्ण का मित्र के रूप में उल्लेख करते हैं तब वे उनके भगवद्रूप से अनजान नहीं हैं, अतः उसी साँस में कहते हैं, इस विपत्ति से हमें उबारे ऐसा और कोई मुझे नहीं दिखता।

युधिष्ठिर यह भी जानता है कि युद्ध में कुछ भी अच्छा नहीं होता, उसमें तो केवल संहार ही होता है। 'किंनु युद्धेऽस्ति शोभनम्' युद्ध में शोभायमान ऐसा कुछ भी नहीं है। परंतु इसके साथ ही वह राज्य का त्याग करके युद्ध का निवारण करने को तत्पर नहीं है। कारण यह कि राज्य का बल न हो तो शत्रु उनका नाश करेंगे ऐसा भय सतत बना रहता है। इसीसे वह कृष्ण से कहता है : 'न हम राज्य का त्याग करना चाहते हैं, न कुल का विनाश करना चाहते हैं।' और यह शर्त मंजूर हो तो—

अत्र या प्रणिपातेन शान्तिः सैव गरीयसी।
(उद्योग० ७०; ७८)

हमारे प्रणिपात करने से भी शांति स्थापित हो तो बेहतर है। इससे पहले हमने देखा कि दुर्योधन प्रणिपात की अपेक्षा युद्ध पसन्द करता है। यहाँ युधिष्ठिर को प्रणिपात की शर्म नहीं है। राज्य वापस

मिलता हो, कुल का संहार रुकता हो तो वह नम्रता का मार्ग लेने को तैयार है।

युधिष्ठिर प्रणिपात के लिये तैयार हैं—पर इसमें कायरता नहीं हैं। सच्चे स्वरूप को वे जानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे मांस के टुकड़े के लिये दो कुत्ते लड़ते हैं और जो बलवान् होता है वह मांस खाता है, 'एवमेव मनुष्येषु !' मनुष्यों में होनेवाले युद्धों की भी यही गति है। इसी कारण इस श्वानवृत्ति से बचने हेतु वह शांति की इच्छा करता है!

युधिष्ठिर की यह वाणी सुनकर कृष्ण कहते हैं :

उभयोरेव वामर्थे यास्यामि कुरुसंसदम् !

(उद्योग० ७०; ७९)

दोनों पक्षों की भलाई के लिये मैं कुरुओं की संसद् में जाऊँगा।

कृष्ण कुरुसभा में जाने को तैयार हुए, यह जानकर युधिष्ठिर कहता है : 'मैं आपको वहाँ भेजना नहीं चाहता ! कारण यह कि युद्ध के लिये उत्सुक कौरव आपकी बात मानेंगे नहीं और शायद आपको पकड़ लें तो ?'

पर कृष्ण निर्भय हैं। वे कहते हैं कि दुर्योधन मान जायगा ऐसी आशा लेकर मैं वहाँ नहीं जा रहा हूँ। पर एक बार शांति का आखिरी प्रयत्न मैं करूँगा तो हम 'सर्वलोके महीक्षताम्' सारे संसार के शासकों के समक्ष निंदा के पात्र नहीं होंगे। और मेरा अहित कौन कर सकता है ? यदि कौरव इस हेतु लेशमात्र भी प्रयत्न करेंगे तो मैं उन सबको भस्मीभूत कर सकने में समर्थ हूँ। पर मेरा प्रयत्न निष्फल नहीं होगा। समाधान नहीं होगा, तो भी निंदा से बच जायँगे। इस प्रकार मेरी संधि-वार्ता सार्थक है।

कृष्ण की संधि-वार्ता की पूर्वभूमिका में जो बातें होती हैं उनमें पांडवों के साथ कृष्ण के सम्बन्ध और इन पांडवों के मन का सत्य स्वरूप प्रकट हुए बिना नहीं रहता। युद्ध और शांति की बाबत युधि-ष्ठिर का अभिप्राय तो हमने जाना : कृष्ण जब दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि दुर्योधन के जीते जी पांडवों को राज्य नहीं मिल सकता और संहार के अलावा और कोई रास्ता नहीं है तो और कोई नहीं पर दुःसह और कठोर गिना जाता भीमसेन बोल उठता है :

यथा यथैव शान्तिः स्यात् कुरूणां मधुसूदन।
तथा तथैव भाषेथा मा स्म युद्धेन भीषयेः ।।

(उद्योग० ७२; १)

हे मधुसूदन, आप कौरवों के बीच जाकर इस प्रकार बात कीजियेगा कि जिससे हमारे बीच शान्ति स्थापित हो सके। युद्ध की बात सुनाकर उन्हें डरा मत दीजियेगा।

वह आगे कहता है : हे भयंकर पराक्रमी श्रीकृष्ण, आप उनसे जो कुछ कहें वह मधुर कोमल वाणी में कहियेगा, धीरे-धीरे कहियेगा। धर्म और अर्थ से युक्त हो ऐसी बात कहियेगा। देखियेगा, उसमें उग्रता न आ जाय, साथ ही यह भी ध्यान रखियेगा कि आपकी बातें अधिकतर उनकी रुचि के अनुकूल हों····

भीम की यह वाणी आश्चर्य पैदा करनेवाली है। एक जाने-माने समाजशास्त्री ने कहा था कि प्रत्येक क्रूर और कठोर मनुष्य में अत्यन्त मृदु अंश भी होता है, और प्रत्येक मृदु मानव में क्रूरता का अंश विद्यमान होता है। इसीसे भीम नामक पात्र के साथ एकरस हुई कठोरता के अनुसन्धान में यह मृदुवाणी अचंभित कर देती है। यह आभास केवल हमें ही नहीं होता, कृष्ण भी यह सुनकर हँस देते हैं और व्यंग्य करते हैं :

अब तक तो धृतराष्ट्र-पुत्रों को मसल डालने को तू उत्सुक था। यह वैर का बदला लेने के लिये तू रात-दिन जागता रहा है। तेरा यह रतजगा और बेचैनी सबने देखी है। और अब तू शान्ति की बात करता है ?

अहो युद्ध प्रतीपानि युद्धकाल उपस्थिते।
पश्यसि वा प्रतीपानि किं त्वां भीर्भीम विन्दति ।।

(उद्योग० ७३; १५)

युद्धकाल उपस्थित हो उससे पहले ही युद्ध की अभिलाषा रखनेवाला तू, आज इतना बदल गया है कि इससे विपरीत विचार कर रहा है ? कहीं तुझे युद्ध का भय तो नहीं लग रहा है ?

भीम इस प्रश्न का उत्तर बड़े ही अच्छे ढंग से देता है : वह कहता है कि मेरी युद्ध-प्रीति तनिक भी घटी नहीं है—

न मे सीदन्ति मज्जानो न ममो द्वेपते मनः ।
सर्वलोकादभिक्रुद्धान् न भयं विद्यते मम ।।

(उद्योग० ७४; १७)

न तो मेरी मज्जाएँ शिथिल हो रही हैं, न मेरा हृदय काँप रहा है, सारा संसार क्रोधावेश में आकर मुझ पर आक्रमण करे तो भी मैं डरूँगा नहीं। मैंने जो शान्ति-प्रस्ताव रखा है वह तो केवल सौहार्द ही है। मैं दयावश सभी क्लेश सहने को तैयार हूँ और चाहता हूँ कि हमारे कारण भरतवंशियों का नाश न हो।

उग्र पराक्रमी भीम जब ये शब्द कृष्ण से कहता है तो मानव-संबंधों का मनोरम कवच निर्मित हो जाता है।

युधिष्ठिर धर्म के ज्ञाता हैं; युद्ध श्वान का कर्त्तव्य है, यह जानने के बाद भी वह राज्य के त्याग के मोल पर युद्ध का निवारण नहीं चाहते। भीम में सबसे पहले विषाद प्रकट हो गया और कृष्ण ने भीम के तेज को उद्दीप्त किया। पर अर्जुन के लिये विषाद बाद में आने-वाला है। इस चरण में तो वह सब कुछ कृष्ण पर डाल देता है। वह कहता है कि आप हमारे लिये जो कुछ भी उचित हो वह सत्वर तय करके कहें।

कृष्ण जाते है संधि-वार्ता करने। पर परिणाम से वे अनभिज्ञ नहीं हैं। वे अर्जुन से कहते हैं :

यत्तु वाचा मया शक्यं कर्मणा वापि पाण्डव ।
करिष्ये तदहं पार्थं न ्त्वाशंसे शमं परैः ।।

(उद्योग० ७७; १८)

मेरी वाणी से या मेरे कर्म से जो कुछ भी सम्भव है वह करूँगा। पर शान्ति हो, समाधान हो, ऐसी रंचमात्र आशा मुझे नहीं है।

नकुल भी इस अवसर पर अपना अभिप्राय व्यक्त करता है : पहले तो सांत्वनापूर्वक बात कीजियेगा और बाद में युद्ध का भय भी दिखाइयेगा।

अब मानव-हृदय की अगमता और गहनता का एक सुन्दर चित्र कविवर व्यास प्रस्तुत करते हैं। अब तक सबने शान्ति के हित आग्रह और युद्ध हेतु तैयारी की बात की। पर अब सहदेव बोलने को खड़े होते हैं। सहदेव तो त्रिकालज्ञानी है। वह कौरवों का नाश और

पाण्डवों की विजय देख सकता है। वह कृष्ण की संधि-वार्ता की निरर्थकता भी देख सकता है। अतः सहदेव द्वारा उच्चरित चार श्लोक इस संधि की पूर्वभूमिकारूप अध्याय में सर्वाधिक उल्लेखनीय बन जाते हैं। वह कहता है :

'हे शत्रुदमन कृष्ण, महाराज युधिष्ठिर ने जो कुछ कहा, वह तो सनातन धर्म है। पर मेरा कथन यह है कि आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे युद्ध होकर रहे। शायद कौरव पाण्डवों के साथ संधि करना चाहें तो भी वे युद्ध के लिये प्रेरित हों ऐसी ही योजना आप कीजिएगा। पांचाली को जिस हालत में सभा के बीच ले जाया गया था वह देखने के बाद दुर्योधन के प्रति उपजा मेरा क्रोध उसके वध के बिना क्या शान्त हो सकता है ?'

इतना कहने के बाद अंत में सहदेव कहता है :

यदि भीमार्जुनो कृष्ण धर्मराजश्च धार्मिकः ।
धर्ममुत्सृज्य तेनाहं योद्धुमिच्छामि संयुगे ।।

(उद्योग० ७९; ४)

हे कृष्ण ! भीम, अर्जुन और धर्मराज धर्म का अनुसरण करते हों तो मैं उस धर्म का त्याग करके भी रणक्षेत्र में दुर्योधन के साथ युद्ध करने की इच्छा रखता हूँ।

सात्यकि सहदेव के वचन का समर्थन ही नहीं करता बल्कि कहता है कि सहदेव का मत ही हम सब योद्धाओं का मत है।

इनके बाद द्रौपदी बोलने के लिये खड़ी होती है। वह क्या कहती है के स्थान पर, वह क्या करती है इसका महत्त्व अधिक है। महाभारतकार वर्णन करते हैं :

लम्बे काले केशवाली 'स्वसितायत मूर्धजा' ऐसी 'सुता द्रुपदराजस्य' द्रुपदराज की पुत्री—

सम्पूज्य सहदेवं च सात्यकिं च महारथम्

(उद्योग० ८०; २)

सहदेव तथा महारथी सात्यकि की पूजा करके वह बोली।

शांति की बात करते युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन या नकुल की वह पूजा नहीं करती, वह तो युद्ध के लिये तत्पर सहदेव और सात्यकि की

पूजा करती है। द्रौपदी की व्यथा कोई ऐसी-वैसी नहीं है। वह कहती है—मैं द्रौपदी हूँ। इस पृथ्वी पर मेरे जैसी कोई स्त्री है क्या ? वह किसलिये अनन्य है यह बात हम उसीके मुख से सुनें :

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात्समुत्थिता।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रिया सखी ॥

(उद्योग० ८०; २१)

मैं द्रुपदराज की पुत्री हूँ, यज्ञवेदी के मध्य भाग से मेरा उद्भव हुआ है। वीर धृष्टद्युम्न की मैं बहन हूँ और हे कृष्ण ! मैं आपकी प्रिय सखी हूँ।

कृष्ण और द्रौपदी के बीच सख्य की बात एक बार द्रौपदी चीर-हरण के प्रसंग में आयी थी, आज कृष्ण के सामने ही आती है। द्रौपदी की बात यहाँ पूरी नहीं होती। वह कहती है : मैं राजा पांडु की पुत्रवधू हूँ और—

महिषी पांडुपुत्राणाम् पंचेन्द्र समवर्चसाम् !

(उद्योग० ८०; २२)

पाँच इन्द्रों जैसे सुशोभित पांडवों की मैं पटरानी हूँ और फिर भी—

साहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभां गता।

मेरे माथे के बाल पकड़कर, मुझे क्लेश देकर सभा के बीच लाया गया, और यह सब हुआ इसका द्रौपदी को अधिक दुःख इसलिये है कि यह सब हुआ तब—पश्यतां पांडुपुत्राणां—पांडु के पुत्र उसे देख रहे थे, और 'त्वयि जीवति केशव'—और हे केशव, आपके हयात होने के बावजूद ऐसा हुआ है।

अंतिम दो चरणों में धारदार व्यंग्य वेदना में से प्रकट हुआ है। द्रौपदी अपना अपमान भूली नहीं है। और यह अपमान अपने पराक्रमी पतियों की नजर के सामने, अपने प्रिय सखा कृष्ण हयात थे, फिर भी हुआ, इसका उसे भारी दुःख है। इसीसे द्रौपदी सर्प जैसे कांतिमान् अपने केशकलाप हाथ में लेकर कृष्ण के पास जाती है और कहती है—

अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः।
स्मर्तव्यः सर्वकालेषु परेषां संधिमिच्छता ॥

(उद्योग० ७०; ३६)

हे कमलनयन, आप शत्रुओं के साथ संधि की इच्छा से जो भी कार्य या प्रयत्न करें उस समय दुःशासन के हाथ से खींचे गये इन केश-कलापों को स्मरण में रखियेगा।

और इस प्रकार कहकर चौधार आँसू बहाती द्रौपदी को सांत्वना देते हुए कृष्ण कहते हैं: कुछ ही समय बाद कुरुकुल की स्त्रियाँ अपने स्वजनों की हत्या होने के कारण इसी प्रकार रुदन करेंगी।

कृष्ण शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नामक चार अश्वजुड़े रथ पर बैठकर संधि-वार्ता के लिये चलते हैं तो दो सावधानियाँ बर्तते हैं। दूत निःशस्त्र होना चाहिये; पर यदि प्रपंच का भय हो तो शस्त्र हाथ में हो यह जरूरी है और महारथी सात्यकि को वे अपने साथ लेते हैं।

कृष्ण की यह सावधानी बेमतलब नहीं है। कारण यह कि कृष्ण को पकड़कर पाण्डवों को अपने वश में लाने की युक्ति दुर्योधन के मन में है ही।

कृष्ण हस्तिनापुर जाकर तत्काल ही जिनसे मिलते हैं उनमें कुंती मुख्य है। कुन्ती और कृष्ण के सम्बन्ध तो बुआ-भतीजे के हैं। पर कुन्ती जानती है कि उसका भतीजा प्रताप में बहुत आगे निकल चुका है। कुंती ने चौदह बरस से अपने पुत्रों का मुँह नहीं देखा है। वह कहती है: 'हे यदुनंदन, यदि अदृश्य होना, दिखाई न पड़ना ही मृत्यु है तो मेरे पुत्र मेरे लिये मर चुके हैं, क्योंकि मैंने चौदह साल से उन्हें देखा नहीं है।'

कुंती स्त्री है। सहदेव को छोड़कर पाण्डव सब कुछ भूलकर शांति के लिये प्रयत्न करने को कह सकते हैं, पर कुंती तो संधि करने के प्रयोजन से आये कृष्ण से कहती है:

नाध्यगच्छत्तथा नाथं कृष्णा नाथवती सती!

(उद्योग० ८८; ८६)

सनाथ होने के बावजूद कृष्ण उस कुरुसभा में उसकी रक्षा कर सके ऐसा नाथ नहीं पा सकी।

कृष्ण सन्धि करने चलते हैं तब सब किसीके प्रतिभाव ऐसे रसप्रद हैं। इन सबमें सहदेव, सात्यकि, द्रौपदी और कुंती ये चार पात्र ऐसे

हैं, जो स्पष्टतः कह देते हैं कि हमें समाधान नहीं खपेगा। युद्ध होना ही चाहिये ऐसा उनका मत है।

९. दूत श्रीकृष्ण

कृष्ण का दूत-कार्य महाभारत के सिरमौर प्रसंगों में से एक है। ऐसे तो राजा द्रुपद के पुरोहित ने सबसे पहले दूत-कार्य किया था, संजय भी राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकर दूत-कार्य के लिए पाण्डव-सभा में गये थे। पर कृष्ण कोई सामान्य दूत नहीं हैं, वे प्रज्ञावान् हैं। वे जानते हैं कि यह दूत-कार्य सफल नहीं होगा, फिर भी उसमें कोई खामी न रहे ऐसी उनकी इच्छा है। उनका दूत-कार्य मात्र कौरव-सभा तक ही सीमित नहीं है। वे कुन्ती माता से मिले, फिर तुरन्त ही दुर्योधन से मिलने जाते हैं और वहीं से यह दूत-कार्य आरम्भ हो जाता है।

दुर्योधन खूब शानोशौकत से कृष्ण का स्वागत करता है। उनके लिये स्वर्णजटित पलंग, जल, भोजन आदि सुविधाएँ भी उसने रखी हैं। पर कृष्ण इनमें से किसीको भी स्वीकार नहीं करते; भोजन के लिए भी ना कहते हैं, तब दुर्योधन 'मृदुपूर्वक शठोदर्क' (आरम्भ में मृदु पर बाद में शठतापूर्ण) वाणी में कहता है—'आप क्यों हमारा आतिथ्य स्वीकार नहीं करते? आप तो दोनों पक्षों की ओर समभाव रखते हैं; आपने दोनों पक्षों की मदद की है। तब फिर हमारा भोजन स्वीकार करने में आपको अड़चन कौनसी है?'

कृष्ण इसका उत्तर सनसनाता हुआ देते हैं :

> सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
> न च संप्रीयसे राजन् न चाप्यापद्गता वयम्॥

(उद्योग० ८९; २५)

किसीके घर पर भोजन या तो प्रीति से या प्रेम हो इस कारण हो सकता है; अथवा विपत्ति में आ फँसे हों तब किसी और के यहाँ भोजन किया जा सकता है। आपका हम पर प्रेम नहीं है, और हम किसी विपत्ति में पड़े नहीं हैं।

कृष्ण के इस उत्तर पर थोड़ा रुककर विचार करने योग्य है; वे दुर्योधन के भोजन का अनादर करते हैं, तब स्पष्टतः कहते हैं : आपका

हम पर प्रेम नहीं है। कृष्ण ने तो अपनी विशाल नारायणी सेना दुर्योधन के पक्ष से लड़ने के लिए दी है। अतः कृष्ण के प्रेम के प्रति दुर्योधन शंका कर सकने की स्थिति में नहीं है, पर कृष्ण के लिए दुर्योधन के अन्तर में सहज प्रीति नहीं है। यदि दुर्योधन प्रेम से नहीं, पर कपटभाव से कृष्ण का आगत-स्वागत करे तो कृष्ण किसलिए उसके यहाँ भोजन करने जायँ ? वे किसी आफत में भी नहीं फँसे हैं। वे 'वयम्' शब्द का प्रयोग करते हैं, 'हम किसी विपत्ति में पड़े नहीं हैं' ऐसा कहते हैं। कारण यह कि वे दूत के रूप में हस्तिनापुर आये हैं, अतः वे अपनी ओर से नहीं, पर समग्र पाण्डव-पक्ष की ओर से बोलते हैं। इन शब्दों से ही वे यह आभास दे देते हैं कि पाण्डव आफत में फँस गये हैं अतः मैं संधि-वार्ता करने आया हूँ ऐसी बात नहीं है।

इसी अवसर पर वे स्पष्टतः दुर्योधन से कहते हैं कि तू अपने भाइयों—पाण्डवों के प्रति द्वेष करता है। और जो पाण्डवों से द्वेष करता है वह मुझसे भी द्वेष करता है। क्योंकि पाण्डवों के साथ मेरा 'ऐकात्म्य' है। यहाँ का आपका अन्न दुर्भावना से भरा है अतः वह मेरे खाने योग्य नहीं है; मैं तो विदुर के यहाँ ही भोजन करूँगा।

कृष्ण जब जानते हैं कि दुर्योधन दुष्टात्मा है और उसका अन्न भी उनके ग्रहण करने योग्य नहीं है, तब वे किस कारण से संधि-वार्ता के लिए आये हैं ? ऐसे दुरात्मा का उनकी वाणी सुनकर हृदय पलट सकेगा, ऐसा कोई भ्रम कृष्ण के मन में नहीं है। पर कृष्ण की इस संधि-वार्ता के प्रयत्न से विदुर को बहुत आश्चर्य हुआ है। वह पूछता है :

तेष्वेवमुपपन्नेषु कामक्रोधानुवर्तिषु।
समर्थमपि ते वाक्यं असमर्थं भविष्यति॥

(उद्योग० ९०; २०)

जो ऐसा निश्चय कर बैठे हैं (कि इन्द्र भी हमारी सेना को पराजित नहीं कर सकते) और जो काम तथा क्रोध के अनुगामी हैं, ऐसे इन कौरवों के प्रति आपकी बात कितनी ही समर्थ क्यों न हो, असमर्थ ही सिद्ध होगी।

कृष्ण की वाणी तो समर्थ ही होती है, विदुर को इसमें शंका नहीं है। पर साथ ही उनका यह दृढ़ विचार है, उनकी यह स्पष्ट आर्षवाणी

है कि ऐसा समर्थ वाक्य भी, काम-क्रोध का अनुसरण करनेवाले लोगों के लिए तो असमर्थ ही सिद्ध होगा।

कृष्ण इसका उत्तर बढ़िया देते हैं। कृष्ण की संधि-वार्ता के पीछे धर्म है। धर्म और पुण्य का विवेक कैसा हो सकता है यह बात कृष्ण यहाँ करते हैं, वे कहते हैं :

पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुंजराम्।
यो मोचयेन्मृत्युपाशात् प्राप्नुयाद्धर्ममुत्तमम् ।।
(उद्योग० ९१; ५)

अश्व, रथ तथा हाथियों के साथ ही यह समूची पृथ्वी विनष्ट होने को तैयार है, जो उसे मृत्युपाश में से मुक्त करने का प्रयत्न करेगा उसे उत्तम धर्म प्राप्त होगा।

स्वयं वे पृथ्वी को इस मृत्युपाश में से उबारने का प्रयत्न करने आये हैं, इसके बावजूद इस प्रयत्न की असफलता भी वे अच्छी तरह जानते हैं। इसीसे तो तत्काल ही कहते हैं : मनुष्य अपनी तमाम शक्ति खर्च करके कोई धर्म-कार्य करने का प्रयत्न करे और न कर सके तो भी उसे इस निमित्त का पुण्य तो मिलता ही है इसमें संशय नहीं है (उद्योग० ९१; ६), इसी प्रकार जो आदमी मन से पाप का विचार करने के बावजूद उसमें रुचि न होने के कारण उसको कार्य में रूपान्तरित नहीं करता उसे इस पाप का फल नहीं मिलता।

कृष्ण बारम्बार 'अभयया'—निष्कपट भाव से वे सन्धि का प्रयत्न करनेवाले हैं, ऐसा कहते हैं और साभार मानते हैं कि ऐसा प्रयत्न करने के बावजूद उसमें निष्फल होनेवाला निंदा का भागी नहीं होता।

इस प्रकार कृष्ण जानते हैं कि धर्म क्या है और उसे आचरण में रखते हैं। अन्य लोग भी इस धर्म को जानते हैं और आचरण में लाने की इच्छा रखते हैं, पर यदि वे दूसरों को धर्म के अनुवर्त्तन के लिए कहें और दूसरे उसका अनादर करें तो इसमें कृष्ण की निंदा नहीं की जा सकती।

दूसरे दिन राज्य-सभा में कृष्ण को निमन्त्रित करने के लिए दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि विदुर के यहाँ आते हैं। ये दोनों अभी कृष्ण पिघलेंगे ऐसी आशा लेकर आते हैं, या राज्य के नियमों के वशवर्ती

होकर आते हैं या शायद बात न माने तो जिन्हें बन्दी बनाना है ऐसे कृष्ण को तौलकर देखने हेतु आते हैं, यह भगवान् व्यास ने हमारी कल्पना पर छोड़ दिया है।

कृष्ण राज्य-सभा में प्रवेश करते हैं कि तुरन्त ही देख पाते हैं कि इस सभा में हाजरी देने महान् ऋषि पधारे हैं, और वे अभी तक खड़े हैं। कृष्ण की मूल्य-चेतना यहीं प्रकट होती है। वे चुपके से शांतनुतनय भीष्म से कहते हैं : "इन ऋषियों का सत्कार करके इन्हें आसन पर निमन्त्रित करें, क्योंकि इनके बैठे बिना कोई भी बैठ नहीं सकेगा।" (उद्योग० ९२; ४२-४३) जब ये ऋषि सुन्दर आसनों पर बैठे, इसके बाद ही कृष्ण ने सभा के बीच रखा अपना आसन ग्रहण किया।

कृष्ण जैसे युग के पुरुषशिरोमणि संधि-वार्ता करने आये हों तो सभी में कौतूहल 'और क्या होगा' की जिज्ञासा हो यह स्वाभाविक ही है। इसीसे कृष्ण के आते ही सभा शान्त हो गयी। और तब कृष्ण ने बोलना शुरू किया। भगवान् व्यास संधिकार कृष्ण का दो विशेषणों के साथ वर्णन करते हैं : 'सुदंष्ट्रो'—सुन्दर दंतावलि से शोभित तथा 'दुन्दुभिस्वनः'–दुन्दुभि जैसे स्वरवाले। संधिकार कृष्ण के लिए ही ये विशेषण उचित हो सकते हैं। दत्तचित्त मौन रहकर सुन रहे राजाओं और ऋषि-मुनियों की आँखें देखती हैं सुन्दर दंतावलि और कान सुनते हैं—दुन्दुभि जैसा स्वर। और फिर एक उपमा दी जाती है :

जीमूत इव धर्मान्ते सर्वां संश्रावयन् सभाम्।
धृतराष्ट्रं अभिप्रेक्ष्य समभाषत माधवः॥
(उद्योग० ९३; २)

ग्रीष्मऋतु पूरी हो और बादल गरजें ऐसी गम्भीर गर्जना के साथ समूची सभा सुने इस प्रकार धृतराष्ट्र की ओर देखकर उन्होंने इस प्रकार कहा।

कृष्ण यहाँ असहाय होकर नहीं आये हैं, उन्होंने दुर्योधन से प्रथम मुलाकात में ही कहा था कि हम किसी आफत में नहीं पड़े हैं। अतः वे गर्जनाभरे स्वर में बोलते हैं। वे कहते हैं धृतराष्ट्र से, पर समग्र सभा को साक्षी रखकर कहते हैं। सारी सभा सुन सके ऐसी जोर की आवाज में—गरजती आवाज में कहते हैं। तथापि कहते हैं प्रार्थना-

वचन। वे कहते हैं क्षत्रिय वीरों में युद्ध न हो और कौरव तथा पांडवों में शान्ति स्थापित हो इस हेतु मैं आया हूँ।

कृष्ण इतना कहते हैं तब वे जानते हैं कि इस विषय पर यहाँ सुननेवालों के समक्ष बहुत-कुछ कहा जा चुका है, अतः उनकी बात का सार-सर्वस्व यह शान्ति-संस्थापन है इस बात पर ही जोर देते हैं।

वे पहले तो कुरुकुल की प्रशस्ति करते हैं और ऐसे उत्तम कुल में अनुचित कार्य हो यह ठीक नहीं ऐसा तर्क प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं, बाहर से और भीतर से जो कौरव मिथ्या आचरण करते हैं उन्हें मैं रोकने का प्रयत्न करता हूँ।

कृष्ण की इस संधि-वार्ता का एक-एक शब्द तौल-तौलकर बोला गया है। वचन धर्मसंयुक्त और तर्कसंयुक्त दोनों ही हैं इसीसे इतना कहने के बाद तत्काल ही वे यह मिथ्या आचरण करनेवाले कौन हैं उनका नाम लेकर बात करते हैं। यह दुर्योधनादि आपके पुत्र अपने ही मुख्य बंधुओं के साथ अशिष्ट आचरण करते हैं। लोभ के कारण इनकी मर्यादा टूट चुकी है। यह कुरुकुल पर आयी आफत है। जो इस पर ध्यान नहीं दिया गया तो 'पृथिवीं घातयिष्यति' सारी पृथ्वी का नाश हो जायगा, ऐसी चेतावनीभरी वाणी कृष्ण बोलते हैं।

सबसे पहले वे पाण्डवों के साथ संधि करने के लाभों का वर्णन करते हैं। पांडवों से यदि धृतराष्ट्र और कौरव सुरक्षित हों तो देवताओं सहित इन्द्र भी उन्हें जीत नहीं सकता। पाण्डवों जैसे संरक्षक खोजने पर भी पृथ्वी के पटल पर दूसरे कोई नहीं मिलेंगे, ऐसी बात भी कृष्ण धृतराष्ट्र से कहते हैं। यदि पाण्डव-कौरव एक हो जायँ तो पृथ्वी के सभी राजा धृतराष्ट्र के वशवर्ती होकर रहेंगे और वे जगत् के सम्राट् बन जायेंगे। लेकिन यदि ऐसा नहीं होगा तो—

संयुगे वै महाराज दृश्यते सुमहान्क्षयः।
क्षये चोभयतो राजन् कं धर्ममनुपश्यसि॥

(उद्योग० ९३; २८)

महाराज, यदि संयुग हो—युद्ध हो तो मुझे महान् क्षय ही दिखायी देता है; महान् संहार ही दिखायी देता है। और दोनों पक्षों का क्षय हो इसमें आपको कौनसा धर्म दिखायी देता है?

कृष्ण को जिसमें संहार दिखायी पड़ता है वही घटित हो ऐसी

धृतराष्ट्र की इच्छा है। धृतराष्ट्र को इसमें कौनसा धर्म दिखाई देता है यह प्रश्न केवल धृतराष्ट्र के प्रति नहीं है, समूची कौरव-सभा सुने इस प्रकार से पूछा गया है।

पाण्डव कौरवों का संहार करेंगे ही ऐसी श्रद्धा कृष्ण व्यक्त नहीं करते। वे तो कहते हैं कि पाण्डव और कौरव दोनों ही समान वीर और समान युद्ध-उत्सुक और शस्त्र-विद्या में समान पारंगत हैं। इन दोनों का क्षय होने से आपको कौनसा सुख प्राप्त होगा ?

कृष्ण की वाणी में सचाईभरा आर्जव है, वे कहते हैं :

त्राहि राजन् इमं लोकं न नश्येयुरिमाः प्रजाः।
त्वयि प्रकृतिमापन्ने शेषः स्यात्कुरुनन्दन ॥

(उद्योग० ९३; ३३)

हे कुरुनन्दन, आप इन लोगों की रक्षा करें, जिससे समस्त प्रजाओं का नाश न हो। आप यदि प्रकृति पर स्थिर रहेंगे तो सब लोग बच जायँगे।

युद्ध एक विकृति है और शान्ति प्रकृति है। राजा का धर्म प्रकृति में स्थिर रहने का है।

यह कहने के बाद पाण्डवों का धृतराष्ट्र के नाम संदेश भी वे कहते हैं। इसके द्वारा कृष्ण, धृतराष्ट्र के हृदय के द्वार खोलने का प्रयत्न करते हैं। धृतराष्ट्र को पुत्र-भाव से भेजा गया यह संन्देश भी जितना धृतराष्ट्र के लिये है उतना ही कौरव-सभा के लिये भी है। इसीसे कृष्ण कहते हैं :

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥

(उद्योग० ९३; ४८)

जहाँ सभासदों के देखते हुए अधर्म द्वारा धर्म का, अनृत (मिथ्या) द्वारा सत्य का वध होता हो, वहाँ सभासद भी मारे गये ही समझना चाहिये।

अधर्म से मारा गया धर्म, यदि सभासद अधर्म के काँटे निकाल नहीं फेंकते तो, नदी किनारे के वृक्षों को जैसे नदी नष्ट कर देती है, इसी प्रकार सभासदों को नष्ट कर देता है।

नहीं रखते ऐसे कृष्ण ही गीता का उच्चार कर सकते हैं। गीता को समझने के लिए भी इस संघ-सम्भाषण के निकट जाना श्रेयस्कर है।

१०. विश्वरूप

कृष्ण की सन्धि-वार्ता जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही महिमा कुरुसभा में इस सन्धि-प्रस्ताव की बाबत हुए विचार-विमर्श की है। कृष्ण की प्रभावशाली वाणी सुनने के बाद किसी 'पार्थिव' मनुष्य की हिम्मत न थी कि बोले। जब सभी राजनेता मूक हो गये, तब जमदग्नि के पुत्र परशुराम खड़े हुए।

परशुराम, कण्व और नारद एक-एक कथाओं का आश्रय लेकर दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न करते हैं। परशुराम नर-नारायण की कथा कहते हैं। दम्भोद्भव राजा अपने बल के मद में उन्मत्त होकर मानने लगता है कि पृथ्वी पर उसके समान कोई नहीं है। गन्धमादन पर्वत पर तप करते दो तपस्वी नर और नारायण के साथ मुकाबला करने में दम्भोद्भव का मद उतर जाता है। परशुराम कहते हैं कि अर्जुन और कृष्ण इन्हीं नर और नारायण के अवतार हैं अतः इनके साथ युद्ध करने में दुर्योधन को श्रेय नहीं मिलेगा।

कण्व ऋषि ने राजा इन्द्र के सारथि मातलि की कथा कही। मातलि अपनी पुत्री के लिए वर ढूँढ़ने निकला, नागराज आर्यक के पौत्र सुमुख को उसने पसन्द किया। सुमुख के पिता को गरुड खा गये हैं और अगले महीने सुमुख को खा जाने की धमकी दे गये हैं। मातलि उसे लेकर इन्द्र के पास जाते हैं। इन्द्र सुमुख को आयुष्य प्रदान करते हैं। गरुड इससे कुपित होते हैं, उन्हें अभिमान होता है। वह इन्द्र से कहते हैं कि भगवान विष्णु को धारण करने वाला बल मैं ही हूँ। इसी समय भगवान विष्णु अपना हाथ गरुड पर रखते हैं और गरुड के होश उड़ जाते हैं। वह तुरन्त क्षमा याचना करते हैं। भगवान के समक्ष मद करनेवाले की क्या हालत होती है इसकी भगवान परशुराम और कण्व मुनि जैसे लोगों द्वारा कही गयी ये बोधकथाएँ दुर्योधन पर असर नहीं कर सकतीं। अतः अन्त में देवर्षि नारद उठ खड़े होते हैं।

धर्म यह है कि पाण्डवों को उनका राज्य सौंप देना। कृष्ण धर्म जानते हैं। दुर्योधन धर्म को माननेवाला नहीं है, पर जानता है, तो भी धर्म का पालन करवाने के लिये यह मरा हुआ प्रयास वे किसके लिये करते हैं ?

अहं तु तव तेषां च श्रेय इच्छामि भारत।
धर्माद् अर्थात् सुखात् चैव मा राजन् नीनशः प्रजाः॥
(उद्योग० ९३; ४९)

हे भारत, मैं तो आपका तथा पांडवों दोनों का श्रेय चाहता हूँ। आप समस्त प्रजा को धर्म, अर्थ और सुख से वंचित न करें।

युद्ध हो तब दोनों पक्ष के राजाओं के जो हित साधने हैं या नष्ट होने हैं वे सधें या नष्ट हों, पर दोनों देशों की प्रजा तो धर्म अर्थात् समाज को धारण करनेवाले बल, अर्थ अर्थात् अस्तित्व का समग्र उद्देश्य तथा सुख, इन तीनों से वंचित होती है। प्रजाओं पर आयी यह विपत्ति टल जाय यह कृष्ण की इच्छा है। पाण्डव तो धृतराष्ट्र को बुजुर्ग मानकर सेवा करने को भी तैयार हैं और युद्ध करने के लिये भी तैयार हैं। अतः अब आपको जो 'पथ्य' लगे उस मार्ग पर खड़े हों।

कृष्ण दो मार्ग बताते हैं; एक है मैत्री का मार्ग, दूसरा है युद्ध का।

इनमें धृतराष्ट्र को, उसके पुत्रों को और इस समूची कौरव-सभा को कौनसा मार्ग पथ्य लगता है इस बात का निर्णय लेना है। इस 'पथ्य' शब्द में कृष्ण का तीखा व्यंग्य भी है और साथ ही साथ परि-स्थिति का आकर्षक वर्णन भी है।

कृष्ण जब ये शब्द कह चुकते हैं तब कौन इनके उत्तर में कुछ कह सकता है ? और खास करके स्वार्थ से या कृष्ण के द्वेष से या किसी अन्य कारण से भी कृष्ण के दास रहे ये राजा कहाँ से कुछ भी कह सकते हैं ?

इस मौन के साथ ही उद्योगपर्व का ९३वाँ अध्याय कृष्ण के संधि-वार्ता संबंधी भाषण का अध्याय समाप्त होता है।

गीता की पूर्वभूमिका के रूप में भी यह संधि-संभाषण समझने लायक है। कृष्ण के धर्म का आदर्श यहाँ समरूपपन में प्रकट हुआ है, और युद्ध टालने के साथ ही युद्ध से डरकर उससे दूर भागने में विश्वास

ये सभी ऋषि दुर्योधन को सीधे प्रबोध नहीं करते। कारण यह कि साम्प्रत राजकारण में पक्षधर होना इन ऋषियों को पसन्द नहीं है, पर सत्य को छुपाना भी अभीष्ट नहीं है। इसीसे वे अभिमान के कारण कैसी दशा होती है और अभिमान का परित्याग करने से कैसे फल प्राप्त होते हैं इसकी कथा कहते हैं। प्रस्तुत दो कथाओं में तथा देवर्षि नारद जो तीसरी कथा कहते हैं उसमें मदोन्मत्त मानवी का गर्व खण्डन होता है, पर प्रायश्चित्त के बाद उसके मान की पुनः स्थापना भी होती है। इन कथाओं द्वारा तीनों ऋषि चाहते हैं कि दुर्योधन भी अपना अभिमान त्यागकर गौरव की पुनः स्थापना करे।

नारद जो कथा कहते हैं उसमें हठाग्रह और अभिमान के दुष्परिणामों के साथ ही उस युग के समाज की कथा भी है, जिस समाज में द्रौपदी के साथ पाँच पतियों का विवाह धर्म द्वारा निर्वाह्य था, उसी समाज में माधवी चार भिन्न-भिन्न राजाओं को पुत्र प्रदान करे ऐसी भी घटना होती है। यह उपाख्यान अनेक प्रकार से बहुत ही सुन्दर है।

विश्वामित्र ऋषि तप कर रहे थे तब गालव ऋषि ने उनकी बड़े ही प्रेम से परिचर्या की। विश्वामित्र ऋषि गालव की सेवा से अत्यंत प्रभावित हुए। विश्वामित्र ऋषि से विदा लेते हुए गालव ऋषि ने कहा—'आप मुझे बतायें मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा प्रदान करूँ।' विश्वामित्र ने कहा—तुम जाओ, 'गच्छ-गच्छ'। विश्वामित्र के ऐसे शब्दों के विरुद्ध गालव ने 'मैं क्या दूँ' (किं ददामीति) की जिद पकड़ ली। विश्वामित्र क्रोध में आकर बोले—'चन्द्रमा जैसे श्वेत रंगवाले तथा एक कान काला हो ऐसे आठ सौ अश्व मुझे दे।'

यह माँग सुनते ही गालव की स्थिति विचित्र हो गयी। अपने दुराग्रह का यह फल होगा इसकी उन्हें कल्पना भी नहीं थी और गुरुदक्षिणा न दे सकें तो अपनी विद्या व्यर्थ जायगी ऐसी स्थिति थी। वे प्रभु से प्रार्थना करते हैं। विष्णु की प्रेरणा से विनता का पुत्र गरुड गालव के पास आता है और कहता है कि आप कहें वहाँ मैं आपको ले जाऊँ। इसके बाद गरुड पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर इन चारों दिशाओं का जिस प्रकार वर्णन करते हैं वह अत्यन्त रमणीय और काव्यात्मक है। भगवान सूर्य ने आचार्य कश्यप को दक्षिणा के रूप में जिस दिशा का दान किया था वह है दक्षिण। अत्यन्त पूर्वकाल में पहले जो दिशा

देवताओं से जो आवृत है वह है पूर्व। दिवस के अवसान के बाद सूर्यदेव जहाँ अपनी किरणों का विसर्जन करते हैं वह है पश्चिम दिशा। जिस मार्ग पर चलते हुए मनुष्य के प्राणों का उद्धार होता है वह उत्तरायण मार्ग अर्थात् संसार सागर से पार उतारने वाला मार्ग वह है उत्तर दिशा। दिशाओं के ऐसे अद्भुत वर्णन के चार अध्यायों के (उद्योग १०६-९) बाद गरुड की पीठ पर बैठे गालव को आकाशगति का अनुभव होता है। गालव अन्त में गरुड से अपनी द्विधा कहते हैं कि ऐसी गुरुदक्षिणा न दे सकूँ तो मैं प्राणों का परित्याग करना चाहता हूँ, तब विनतात्मज गरुड कहते हैं—

नाति प्रज्ञोऽसि विप्रर्षे योऽऽत्मानं त्यक्तुमिच्छसि।
न चापि कृत्रिमः कालः कालो हि परमेश्वरः॥
(उद्योग० १११; २०)

हे विप्रर्षि, आप प्राणत्याग की इच्छा करते हैं अतः प्रज्ञ नहीं लगते। काल कभी भी कृत्रिम नहीं होता (मतलब यह कि आप जब चाहें तब नहीं आता)। काल तो परमेश्वर है। प्रभु हमारे समक्ष हम चाहें तब नहीं, वह स्वयं चाहें तब प्रगट होते हैं।

गरुड़ गालव को राजा ययाति की राजसभा में ले जाते हैं और राजा ययाति से गालव की परेशानी की बात बताते हैं। राजा ययाति भी परेशान होते हैं। उनके पास ऐसे अश्व नहीं हैं और ब्राह्मण याचक को वापस करने की वृत्ति भी नहीं है। अतः वे कहते हैं, 'चार कुलों की स्थापना करनेवाली देवकन्या जैसी मेरी पुत्री माधवी मैं गालव ऋषि को प्रदान करता हूँ। इसे पाने के लिए राजा लोग अपना-अपना राज्य भी दे देंगे, फिर आठ सौ अश्वों की तो बात ही क्या है?'

गालव माधवी को लेकर इक्ष्वाकु नृपतिशिरोमणि हर्यश्व के पास अयोध्या जाते हैं। हर्यश्व माधवी को देखकर विह्वल हो जाते हैं। पर उनके पास केवल दो सौ अश्व ही हैं। अतः वे कहते हैं यह कन्या मुझे दें। इससे मैं केवल एक सन्तान ही प्राप्त करूँगा और फिर कन्या आप को सौंप दूँगा। विकल होते ऋषि से कन्या कहती है—'मुनिवर, मुझे एक महात्मा ने वरदान दिया है कि प्रत्येक प्रसव के बाद तू फिर कन्या बन जायगी। और मुझे केवल चार ही पुत्र होंगे। अतः चार राजाओं से दो-दो सौ घोड़े लेकर ही मुझे सौंपें।

हर्यश्व को माधवी से पुत्र प्राप्त हुआ फिर गालव माधवी को लेकर राजा दिवोदास के पास जाते हैं। उनसे दो सौ अश्व लेते हैं। इसके बाद भोजनगर के राजा उशीनर के पास जाते हैं। इन तीनों राजाओं को माधवी द्वारा तीन प्रतापी पुत्र प्राप्त होते हैं और गालव को छः सौ अश्व मिलते हैं। इस बीच गरुड गालव से मिलकर बताते हैं कि इस प्रकार के कुल एक हजार अश्व ही थे। इनमें से चार सौ झेलम नदी की बाढ़ में बह गये—वे कहीं से भी प्राप्त नहीं हो सकते। अतः अब आप ये छः सौ अश्व और बाकी दो सौ के बदले में माधवी को ही विश्वामित्र ऋषि को गुरुदक्षिणा के रूप में प्रदान करें। गुरु यह दक्षिणा सहर्ष स्वीकार करते हैं। माधवी ऋषि विश्वामित्र को पुत्र प्रदान करके तपोवन में तत्पश्चर्या करने चली जाती है।

राजा ययाति अनेक पुण्य कर्म करके स्वर्ग में जाते हैं, पर स्वर्ग में अभिमानवश वे अपने आगे सबको तुच्छ गिनने लगते हैं अतः उनका पतन होता है। वे पृथ्वी पर आते हैं तब माधवी और उनके चारो दौहित्र अपना-अपना पुण्य-फल उन्हें देते हैं और ययाति पुनः स्वर्ग में स्थान पाते हैं। ययाति ब्रह्मा से पूछते हैं, "मैंने अनेक यज्ञ और दान द्वारा जो महान पुण्य फल अर्जित किया था वह एकाएक क्षीण क्यों हो गया और मुझे स्वर्ग से पृथ्वी पर क्यों आना पड़ा?" ब्रह्मा कहते हैं, "तुम्हारे अभिमान के कारण ही तुम्हें स्वर्गलोक से नीचे गिरना पड़ा था।"

नारद की यह कथा सुनकर भी दुर्योधन का हृदय-परिवर्तन नहीं होता।

ऋषिगण बोधकथाओं द्वारा दुर्योधन के दिमाग में धर्म की प्रेरणा जगाने का प्रयत्न करते हैं। पर दुर्योधन की मति तो युद्ध में स्थिर हो चुकी है। दुर्योधन पर इनमें से किसी के कहने का कोई भी असर नहीं पड़ता। अतः धृतराष्ट्र कहते हैं, "मैं अपने वश में नहीं हूँ। जो हो रहा है वह हमें प्रियकर नहीं है। आप यदि दुर्योधन को सन्धि के लिए राजी कर सकें तो हे पुरुषोत्तम, कहा जायगा कि आपने सुहृत्कार्य किया।"

कृष्ण जानते हैं कि दुर्योधन पर उनके अपने सन्धिप्रवचनों का या इन तीन ऋषियों ने जो कुछ कहा उसका असर नहीं हुआ है। तब अपनी बात फिर से कहने का कोई असर नहीं होगा। फिर भी वे दुर्योधन को

सलाह देने को तत्पर होते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, "तुम्हारी विपरीत वृत्ति ही अधर्म है और यह घोर तथा प्राणहर है।" कृष्ण दुर्योधन के पराक्रम को कम करके नहीं कूतते। वे उसे पुरुषव्याघ्र कहकर सम्बोधित करते हैं और कहते हैं कि "प्राज्ञ, शूर, महोत्साही और मानी ऐसे पाण्डवों के साथ तू सन्धि कर ले।"

कृष्ण नारायण के अवतार हैं, यह बात सभा में परशुराम सदृश ऋषि कह गये हैं। कृष्ण द्रौपदी से कह चुके हैं, "आज तू रो रही है, इसी प्रकार एक बार कौरवों की पत्नियाँ रणक्षेत्र में अपने वैधव्य को रोती होंगी।" इस प्रकार वे सब कुछ जानते हैं, फिर भी वे दुर्योधन को समझाने का प्रयत्न करते हैं। धर्म के लिए मंथन करना इसी का महत्त्व है। सफल हो या निष्फल, यह अलग बात है। इसी से महाभारत युद्ध के समय कृष्ण ने धर्म-स्थापना के लिए या शान्ति के लिए मन्थन नहीं किया ऐसा कोई भी कह सके ऐसा कुछ बचता नहीं है।

कृष्ण ने जो कुछ कहा उसकी पुष्टि में भीष्म, द्रोण वगैरह भी अपनी राय दे चुके हैं। भगवान वेदव्यास भी इस सन्धिवार्ता सभा में उपस्थित हैं। वे भी पहले दुर्योधन को सम्बोधित कर चुके हैं। व्यास महाभारत के प्रणेता हैं। साथ ही महाभारत द्वारा वे अपने ही वंश की बात कर रहे हैं। कारण यह कि धृतराष्ट्र, पांडु तथा विदुर उन्हीं की सन्तान हैं। व्यास कवि के रूप में और व्यास पात्र के रूप में, दोहरी भूमिका में हैं, पर कवि अपने पात्र को कहीं भी अधिक उभारते नहीं हैं, इस हद तक वे सजग हैं। हम बहुत से उपन्यासों में आत्मकथा के अंश देखते हैं। इस महाकाव्य में व्यास अपनी ही कुल-कथा अंकित करते हैं। फिर भी वे कितने निरपेक्ष रह सके हैं; यह तटस्थता अलग से अध्ययन का विषय है।

इतने सारे महानुभावों द्वारा कहने के बावजूद दुर्योधन के मन में अभी कोई बात उतरी नहीं है, वह तो अपने बल पर जमा है। उसका अभिमान, दंम्भोद्भव, गरुड़ या राजा ययाति से भी अधिक है। उसका हठाग्रह विश्वामित्र से गुरुदक्षिणा माँगने का हठ करते गालव जैसा पवित्र या निःस्वार्थ नहीं है। उसका हठाग्रह स्वार्थी है। इसी से वह कहता है :

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण माधव ।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान्प्रति ।।

(उद्योग० १२५; २६)

सुई की सूक्ष्म नोक द्वारा छेदी जा सके इतना भी भूमि का अंश पाण्डवों को नहीं मिल सकेगा।

दुर्योधन एक ओर से ऐसी सूच्यग्र—सुई की नोक खड़ी रह सके इतनी—जमीन भी पाण्डवों को न देने को कृतसंकल्प था, दूसरी ओर उसे भय था कि कृष्ण के वचनों के प्रभाव में आ गये स्वयं उसके पिता और गुरुजन उसे कैद करके कृष्ण के हवाले कर देंगे। ऐसा कुछ हो उससे पहले ही कृष्ण को कैद कर लेने का विचार दुर्योधन के मन में प्रगट होता है और उस पर अमल कैसे करना इस बाबत शकुनि आदि साथियों से मन्त्रणा करने के लिए वह सभा से बाहर जाता है।

कृष्ण दूत के रूप में आये हैं। दूत का सन्देश अप्रिय हो तो भी उसे अवध्य मानने की परम्परा है; हनुमान जैसे नटखट को दूत जानकर रावण ने उनका वध न करने को ही उचित माना था। इसी प्रकार दूत को पकड़ा भी नहीं जा सकता। परन्तु दुर्योधन इन नियमों की परवाह करे ऐसा नहीं है, यह बात कृष्ण अच्छी तरह जानते थे। इसी से उन्होंने सात्यकि को और अपनी सेना को साथ लिया था। सात्यकि दुर्योधन का आशय तत्काल समझ गया। उसने अपने सैनिकों को सावधान किया और सभा में आकर धृतराष्ट्र आदि को इस बाबत चेतावनी दी।

इस प्रसंग में कृष्ण कहते हैं :

एतान्हि सर्वान्संरब्धान् नियन्तुमहमुत्सहे ।
न त्वहं निन्दितं कर्म कुर्यां पापं कथंचन ।।

(उद्योग० १२८; २५)

यों तो क्रोध से उफनते सभी कौरवों को बन्दी बनाने की मेरे पास शक्ति है, पर मैं कोई भी निन्दित कर्म या पाप नहीं कर सकता।

कृष्ण दूत के रूप में अपने कर्त्तव्य के प्रति सचेत हैं। दूत युद्ध की घोषणा करे यह उचित नहीं है, वह युद्ध करे यह भी अनुचित है। कृष्ण में यह कर्त्तव्य-भावना सतत् विद्यमान है। यह सन्धिवार्ता भी

कर्त्तव्याभास से प्रेरित होकर की गयी है। भविष्य के इतिहास में कृष्ण ने युद्ध के निवारण के प्रयत्न नहीं किये ऐसा न लिखा जाय इस हेतु वे यह सन्धिवार्ता करने आये हैं। सहदेव जैसे त्रिकालज्ञ ने वह युद्ध करेंगे ही ऐसा कहा, तब सबके समक्ष इतना तो स्पष्ट हो ही गया था कि युद्ध होकर ही रहेगा। कृष्ण अकेले ही कौरवों को पराजित करने की शक्ति रखते हैं। वे सिर्फ यह बात कहते ही नहीं, करके भी बता देते हैं। दुर्योधन सभा में पुनः आता है तब कृष्ण अपना विश्वरूप प्रगट करते हैं। यह रूप आगे चलकर कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को भी देखने को मिलने वाला है। कौरवों के समक्ष यह विश्वरूप सबसे पहले प्रगट होता है। दुर्योधन को सम्बोधित करके वे विश्वरूप प्रगट करते हैं।

अर्जुन के समक्ष कुरुक्षेत्र में विश्वरूप दर्शन होता है तब वह अर्जुन की सान्त्वना के लिए है। कुरुसभा में 'मैं अकेला नहीं हूँ' कहकर कृष्ण अट्टहास करके अपना विश्वरूप दुर्योधन के समक्ष प्रगट करते हैं, तब दुर्योधन को डराने का वह निमित्त बन जाता है। भगवान का एक ही रूप धर्ममार्ग पर चलनेवाले के लिए सान्त्वना बनता है, तो धर्ममार्ग पर न चलनेवाले के लिए काल बन जाता है। कृष्ण दुर्योधन से कहते हैं :

इहैव पाण्डवाः सर्वे तथैवान्धकवृष्णयः।
इहादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च महर्षिभिः॥

(उद्योग० १२९; ३)

देख, सभी पांडव यहाँ हैं, अन्धक तथा वृष्णीवंश के समस्त वीर यहीं है। आदित्य, रुद्र, वसु और महर्षिगण भी यहीं हैं।

विश्वरूप के इन दो दर्शनों को निकट से देखना चाहिए। अर्जुन भी भौतिक आँखों से यह रूप नहीं देख सकता। अतः कृष्ण उसे दिव्य चक्षु प्रदान करते हैं। इस सभा में भी कृष्ण का यह घोर रूप और दुःसह तेज सभी राजपुरुषों को अन्धा कर देता है। केवल द्रोण, भीष्म, विदुर, संजय और तपस्वी महर्षिगण ही, जिन्हें जनार्दन ने दिव्य चक्षु दिये हैं यह विश्वरूप देख सकते हैं।

कुरुसभा के विश्वरूप दर्शन के पीछे कृष्ण परमात्मा हैं और वे जिस पक्ष में हों उसके साथ लड़ने में सर्वनाश होगा ऐसी अनुभूति से

प्रेरित होकर दुर्योधन युद्ध से विरत रहने हेतु तैयार हो जाय इसका प्रयत्न है; जबकि कुरुक्षेत्र में अर्जुन के समक्ष प्रगट किये गये विश्वरूप में अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने की प्रेरणा है। इस प्रकार यह दोनों विश्वरूप-दर्शन एक दूसरे से भिन्न हैं। एक युद्ध के निवारण हेतु तो दूसरी बार युद्ध हो इस हेतु कृष्ण अपने विराट् स्वरूप का दर्शन कराते हैं।

कृष्ण की यह सन्धिवार्ता तो विफल हो गयी। वे कुरुसभा से विदा लेते हैं तब सन्धिवार्ता विफल हुई पर कृष्ण का उद्देश्य सफल हो गया है। कारण यह कि वे शान्ति के लिए अपना यथाशक्य प्रयत्न कर चुके हैं। वे कहते हैं :

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वृत्तं कुरु संसदि।
यथा चाशिष्टवन्मन्दो रोषादसकृदुत्थितः ।।

(उद्योग० १२९; ३०)

कौरव सभा में जो हुआ है वह आप सबने अपनी आँखों से देखा है। अब कोई किसी को दोष नहीं दे सकेगा। कृष्ण के शान्ति प्रयत्न और उनके सामने अशिष्ट तथा मन्दमति दुर्योधन का व्यवहार।

कृष्ण इस प्रकार अपने कार्य की साक्षी के रूप में समूची कुरु-सभा को रखकर विदा लेते हैं, तब उसमें निष्फलता नहीं, सफलता के आसार दिखते हैं।

आपृच्छे भवतः सर्वान् गमिष्यामि युधिष्ठिरम्।

(उद्योग० ५९; ४)

मैं आप सबकी आज्ञा लेकर युधिष्ठिर के पास जाता हूँ।

उन्हें विदा देने हेतु रथ तक पहुँचाने जो कुरुगण जाते हैं उनकी सूची भगवान व्यास देते हैं। यह सूची महत्त्वपूर्ण है। इसमें ऐसे लोग हैं जो दुर्योधन के पक्ष से लड़े पर जिनकी भक्ति कृष्ण में थी। ये वीर हैं—भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर, धृतराष्ट्र, अश्वत्थामा, विकर्ण और युयुत्सु। विकर्ण का नाम लेने के साथ ही द्रौपदी-वस्त्रहरण के समय यही एकमात्र महारथी था जो द्रौपदी के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए खड़ा हुआ था यह बात भूलने लायक नहीं है।

इतने वीर जिसे रथ तक विदा देने आये ऐसे कृष्ण की सन्धिवार्ता विफल हो गयी ऐसा कौन कह सकता है?

११. कृष्ण-कर्ण संवाद

राम-रावण के बीच भी युद्ध हुआ था, फिर भी गीता पांडव-कौरव युद्ध के समय ही क्यों लिखी गयी ? पांडव-कौरव युद्ध को व्यास भगवान ने 'ज्ञाति-समागम' के रूप में पहिचनवाया है। इतना ही नहीं, पर ऐसे महाभारत युद्ध में कोई भी दिल लगाकर नहीं लड़ा था। कृष्ण जब सन्धिवार्ता के लिए गये तब भी भीम जैसे वीर ने भी उन्हें सन्धि करने का प्रयत्न कीजियेगा यह विनती की थी। धृतराष्ट्र-गांधारी भी दुर्योधन से इस युद्ध से हटने के लिए कहते हैं। माना धृतराष्ट्र-गांधारी युद्ध में शामिल नहीं हुए थे; पर कौरवों के सर्वप्रथम सेनापति भीष्म भी कहते हैं :

शुश्रुषुमनसूयं च ब्रह्मण्यं सत्यसंगरम्।
प्रतियोत्स्यामहे पार्थमतो दुःखतरं नु किम्॥

(उद्योग० १३७; ३)

सुश्रुषा-सेवा करने वाले, असूया बिना के, ब्रह्मनिष्ठ सत्यवक्ता पार्थ के साथ मुझे युद्ध करना पड़े, इससे बड़ा दुःख और कौन-सा हो सकता है ?

भीष्म कुरुओं के सेनापति होनेवाले हैं; पर इस युद्ध में वे दुःख के साथ उतरते हैं। कारण यह कि वे स्वयं जिसके साथ लड़ रहे हैं उसके पक्ष में सत्य है, यह बात भीष्म अच्छी तरह जानते हैं। इसीसे भीष्म दत्तचित्त होकर नहीं लड़े। गीता का विषादयोग केवल अर्जुन के सन्दर्भ में है, पर यह विषादयोग प्रत्येक पात्र कभी न कभी अनुभव किये बिना नहीं रहता।

द्रोण कुरुओं के शस्त्रगुरु हैं, वे कहते हैं :

तं चेत्पुत्रात्प्रियतरं प्रतियोत्स्ये धनंजयम्।
क्षत्रधर्ममनुष्ठाय धिगस्तु क्षत्रजीविकाम्॥

(उद्योग० १३७; ५)

धनंजय मुझे अपने पुत्र से भी अधिक प्रिय हैं। मैं उसके विरुद्ध लड़ूँ ? क्षत्रिय धर्म के पालन में अटल अर्जुन—उसके विरुद्ध युद्ध करना

पड़े तो इन क्षत्रियों के जीवन को धिक्कार है। द्रोण के कथनानुसार क्षत्रिय धर्म में निष्ठावान अर्जुन के साथ युद्ध करना क्षत्रियों के लिए वर्ज्य है। और स्वयं वे ब्राह्मण हैं, पर उनका अपना अर्जुन के साथ सम्बन्ध कैसा है ? अर्जुन उन्हें अश्वत्थामा से भी अधिक प्रिय हैं।

द्रोण दुर्योधन से कहते हैं कि तुम युधिष्ठिर से जीत नहीं सकोगे क्योंकि—

मंत्री जनार्दनो यस्य भ्राता यस्य धनंजयः।

(उद्योग० १३७; १९)

जनार्दन जैसे जिसके मंत्री हैं, और धनंजय जैसा जिसका भाई है, ऐसे युधिष्ठर को जीतने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। द्रोण को एक अतिरिक्त कारण भी मिलता है। 'तपोघोरव्रता', 'सत्यवादिनी' जैसी द्रौपदी जिसकी विजय के लिए अभिलाषा करती हो उसकी पराजय किसी के द्वारा भी हो सकता है क्या ?

कुरुक्षेत्र का युद्ध आरम्भ हो उसकी पूर्वभूमिका के रूप में ऐसे अनेक विषादयोग आते ही जाते हैं, इस 'ज्ञातिसमागम' में शायद ही कोई दिल लगाकर लड़ा है। भीष्म, द्रोण वगैरह तो ठीक, पर दुर्योधन के आस-पास के, उसके अंतरंग साथियों में से कर्ण—वह भी मन से लड़ा था क्या ?

कर्ण महाभारत का अनूठा पात्र है। प्राचीन काल से अब तक अनेक कवि और साहित्यकार इस पात्र की ओर आकर्षित होते रहे हैं। कितने ही लोग उसे सामाजिक अन्याय के प्रतीक के रूप में देखते हैं तो कोई उसे पराक्रम, वीरश्री के प्रतीक के रूप में देखते हैं। मैत्री-सम्बन्ध की दृष्टि से कर्ण की परीक्षा करना सबसे संगत है। प्रसिद्ध अंग्रेज रचनाकार श्री ई. एम. फोर्स्टर ने एक बार कहा था कि अपने देश और अपने मित्र के बीच द्रोह करने में चयन करने का अवसर आये तो हे भगवान ! मुझे देश के प्रति द्रोह करने का बल प्रदान करना। कर्ण के जीवन में ऐसा ही चयन करने का अवसर आया था और उसने मित्र के प्रति द्रोह करने की अपेक्षा देश से द्रोह को ज्यादा पसन्द किया था।

भीष्म या द्रोण की सलाह का दुर्योधन पर कुछ भी असर नहीं होता। भीष्म या द्रोण किसी समय दुर्योधन के पक्ष से हट भी जायँ

तो दुर्योधन को इसकी परवाह नहीं है, पर कर्ण यदि युद्ध करने से इन्कार करे तो दुर्योधन भी युद्ध करने को तत्पर न हो। इस तरह कर्ण व्यूहात्मक बिन्दु पर है। वह चाहे तो इस महाभारत युद्ध को रोक सकता है, और उसके फलस्वरूप सृष्टि का साम्राज्य भी भोग सकता है, यह सम्भव है। पर कर्ण क्यों यह कदम नहीं उठाता ? उसके जीवन में मैत्री, स्नेह, वात्सल्य का अधिक मूल्य है।

कृष्ण सन्धि-वार्ता के बाद नगर से बाहर जाते हैं, तब कर्ण को अपने रथ में बैठाते हैं। इस समय कर्ण और कृष्ण के बीच जो संवाद होता है, वह हमारे युग में रवीन्द्रनाथ ने और गुजराती भाषा में सुन्दरम, उमाशंकर जैसे कवियों ने, अपने ढंग से काव्यस्थ किया है। पर आइये हम तो व्यास भगवान द्वारा आलेखित कृष्ण-कर्ण संवाद की ओर ही देखें। कृष्ण बात शुरू करते हैं कर्ण के धर्म की बाबत ज्ञान से। कर्ण अधर्म के पक्ष में है इसका कारण यह नहीं है कि धर्म क्या है इसका उसे ख्याल नहीं है। कृष्ण उससे कहते हैं :

त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान्सनातनान्।
त्वं ह्येव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः॥

(उद्योग० १३८; ७)

हे कर्ण, तू सनातन वेदवाद का जानकार है, तू धर्मशास्त्र के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मर्म को भी जानता है।

फिर कृष्ण कर्ण से उसके जन्म का रहस्य बताते हैं। कुन्ती अविवाहित थी तब उसने कर्ण को जन्म दिया था। परन्तु शास्त्रविद् लोग 'कानीन'–विवाह से पहले पैदा हुए पुत्र का पिता, कन्या का पाणिग्रहण करनेवाला पुरुष ही माना जाय, ऐसी व्यवस्था देते हैं। अतः कर्ण पाण्डु पुत्र है और धर्मशास्त्र के अनुसार वह युधिष्ठिर का बड़ा भाई है तथा राजा होने का हकदार है। कर्ण से कृष्ण कहते हैं, तू सूतवंशी नहीं है––

पितृपक्षे हि ते पार्था मातृपक्षे च वृष्णयः,

(उद्योग० १३८; १०)

पितृपक्ष से तू पृथावंशी है और मातृपक्ष से वृष्णिवंशी हैं। ऐसे दो समर्थ कुलों की तुझे सहायता प्राप्त है।

कृष्ण कर्ण से कहते हैं कि इसी क्षण तू मेरे साथ चल। पाण्डवों को जानकारी होगी कि तू कुन्ती का पुत्र है, तो पाँचों पाण्डव, द्रौपदी के पाँचों पुत्र और सुभद्रानन्दन अभिमन्यु, ये सब लोग तुझे प्रणाम करेंगे, तेरा चरण-स्पर्श करेंगे।

इतना ही नहीं—

षष्ठे च त्वां तथा काले द्रौपद्युपगमिष्यति।
(उद्योग० १३८; १५)

वर्ष का छठा भाग, द्रौपदी तुझे पांडुपुत्र मानकर तेरी सेवा में तेरे पास रहेगी।

पांडवों के पुरोहित धौम्य तेरा राज्याभिषेक करेंगे। तू राजाओं का राजा होगा। युधिष्ठिर तेरा युवराज होगा। भीम तुझे चँवर डुलायेगा। अर्जुन तेरा रथ हाँकेगा। अभिमन्यु तेरी सेवा करेगा। और मुझ सहित असंख्य राजा तेरे अनुयायी बनेंगे।

कर्ण के समक्ष कृष्ण ने जो प्रलोभन रक्खे हैं वे कोई मामूली नहीं हैं। एक तो राजलक्ष्मी, दूसरे द्रौपदी जैसी काम्य चारुसर्वांगी स्त्री का सहवास और सबसे बड़ा प्रलोभन तो यह था कि कृष्ण जैसे कृष्ण उसके अनुयायी बनेंगे।

शायद ही किसी मनुष्य के आगे ऐसे प्रलोभन आये होंगे। और प्रलोभन यदि मार की ओर से रक्खे जायँ तो बुद्ध की भाँति उनका प्रतिकार करना सरल है, कारण यह कि ये आसुरी प्रलोभन हैं। पर यह तो भगवान स्वयं प्रलोभन दिखा रहे हैं। अभी कुछ ही समय पूर्व कुरुसभा में जिनके विराट् स्वरूप का दर्शन हर किसी ने किया है ऐसे कृष्ण कर्ण से यह सब कह रहे हैं। कच्चे और दुर्बल व्यक्ति के लिए तो इतना ही बहुत है। राजपद, द्रौपदी का भर्तापद तथा कृष्ण का सखापद ये तीनों एक साथ पा सकें ऐसा विरल योग कोई हाथ से जाने ही नहीं दे सकता। पर कर्ण तो और ही मिट्टी का बना है। कर्ण अधर्म के पक्ष में है, पर इसी में उसका धर्म है। वह मूल्यहीन दुर्योधन का साथ करता है; पर इसमें उसके जीवन के मूल्य निहित हैं। कर्ण जो उत्तर देता है वह मानव संबंधों के आदर्श के रूप में युगों से टिका हुआ है और युगों तक बना रहेगा।

कृष्ण ने जो कहा उसके पीछे छल नहीं है, पर सौहार्द, प्रणय तथा कर्ण का श्रेय करने की वृत्ति है। इस बाबत अपनी प्रतीति से कर्ण का उत्तर आरंभ होता है। इतना ही नहीं, पर कर्ण कहता है—

सर्वं चैवाभिजानामि पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः।
(उद्योग० १३९; २)

वह तो सब कुछ जानता है। स्वयं पांडु का पुत्र है, इतना ही नहीं, बल्कि धर्म के सूक्ष्म मर्म के जानकार होने के कारण उसे इस बात का भी ज्ञान है कि धर्म की कसौटी पर ज्येष्ठ पांडुपुत्र के रूप में उसका दावा मान्य हो सकेगा। कृष्ण जो कहते हैं उसमें से बहुत कुछ कर्ण जानता है। सूर्य देव के अंश से माता कुन्ती ने उसे जन्म दिया था और फिर त्याग दिया था, इससे भी कर्ण वाकिफ है।

एक ओर धर्मशास्त्र है। इस धर्मशास्त्र के अनुसार कर्ण ज्येष्ठ पांडुपुत्र के रूप में राजपद पा सकता है यह सही है।

दूसरी ओर मानव-सम्बन्ध है। कुन्ती द्वारा त्यक्त इस बालक का अधिरथ और राधा ने पालन-पोषण किया था। उसका मलमूत्र धोया था।

धर्म हमेशा शास्त्र में नहीं होता। मानव संबंध में ज्यादा बड़ा धर्म है। अधिरथ-राधा के स्नेह का अनादर करके कर्ण धर्म का पालन करने का दावा कर सकता है क्या ?

यहाँ एक समानान्तर बात याद आती है। कृष्ण के जीवन में भी यह द्विधा आयी थी। कृष्ण वसुदेव-देवकी के पुत्र थे और जसोदा-नन्द ने पुत्र मानकर पाला-पोसा था। कृष्ण जब समय आया तो नन्द-जसोदा को त्याग सके। तो कर्ण भी अधिरथ-राधा को त्यागकर कुन्ती के पास, पाण्डवों के पास क्यों नहीं जा सकता ?

देखने में दोनों परिस्थितियाँ समान प्रतीत होती हैं पर इनके ऊपर एक बहुत बड़ी असमानता है। कृष्ण के लिए एक बहुत बड़े कार्य का आवाहन आया था कंस, जरासन्ध, कालयवन इत्यादि अधर्मियों को नाश करने का और प्रतिकारहेतु कृष्ण के लिए ब्रजभूमि छोड़ना अनिवार्य था। जबकि कर्ण की परिस्थिति भिन्न है, उसके सामने ऐसा कोई आवाहन नहीं है। वैभव, काम और सुख की आकांक्षा से ही वह अपने

पालक माता-पिता का त्याग कर सकता है। और इसीसे कृष्ण ने इस प्रकार की परिस्थिति में भिन्न ही निर्णय लिया। अक्रूर के रथ में बैठ कर कृष्ण कण्टक-शय्या की तरफ गये थे। कृष्ण के रथ पर बैठकर कर्ण सुख की सेज की ओर जा सकता था। अतः प्रगट परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में कृष्ण ने जो निर्णय लिया, वह अपने स्थान पर सही था, और कर्ण ने जो निर्णय लिया वह उसकी दृष्टि से ठीक था।

कर्ण के कारण और भी हैं, वह कहता है :

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः।
हर्षाद् भयाद् वा गोविन्द अनृतं वक्तुमुत्सहे ॥
(उद्योग० १३९; १२)

यह समूची पृथ्वी, या स्वर्ण का ढेर मिले, हर्ष हो या भय—ऐसे किसी भी प्रलोभन द्वारा मैं असत्य बोलूँगा ऐसा नहीं है।

कर्ण मूल्य-भावना से प्रेरित है। वह राजा है। तेरह वर्ष से निष्कंटक राज्य कर रहा है। इसके लिए वह दुर्योधन का कृतज्ञ है। दुर्योधन ने पाण्डवों के साथ युद्ध करने की जो हिम्मत की है, उसका कारण यह है कि उसके पीठ-पीछे कर्ण का बल है। अर्जुन के विरुद्ध जीत भले न सके पर डटकर मुकाबला कर सके ऐसा वीर कौरवों के पक्ष में एकमात्र कर्ण ही है। इसीसे कर्ण कहता है, "वध, बन्धन-भय या लोभ से विचलित होकर धीमान धृतराष्ट्रपुत्र के साथ मैं असत्य व्यवहार नहीं कर सकता।"

इतना ही नहीं, कर्ण और अर्जुन के बीच जो प्रतिस्पर्धा की भावना स्थापित हुई है उसके परिप्रेक्ष्य में अब यदि कर्ण और अर्जुन युद्ध में आमने-सामने न उतरें तो दोनों का अपयश होगा।

इतना ही नहीं, कर्ण पाण्डवों की धर्मप्रीति जानता है, अतः कृष्ण से कहता है; मैं कुन्तीपुत्र हूँ यह बात आप पाण्डवों से छुपा रखें क्योंकि धर्मात्मा युधिष्ठिर को इसकी जानकारी होगी तो मुझे राज्य सौंप देंगे। और मेरे हाथ में यह राज्य आया तो मैं उसे दुर्योधन को सौंप दूँगा। पुनः कर्ण कहता है :

स एव राजा धर्मात्मा शाश्वतोऽस्तु युधिष्ठिरः।
नेता यस्य हृषीकेशो योद्धा यस्य धनंजयः ॥
(उद्योग० १३९; २३)

वह धर्मात्मा युधिष्ठिर शाश्वत राजा बना रहे—जिसके नेता हैं हृषीकेश और जिसके योद्धा हैं धनंजय।

इसके बाद कर्ण एक अद्‌भुत काव्य-रचना करता है। समूचे महा-भारत-युद्ध के परिणाम को कर्ण अपनी आर्षदृष्टि से देखता है। वह कहता है : धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने शस्त्ररूपी यज्ञ का अनुष्ठान आरम्भ किया है। कृष्ण इस यज्ञ को कराने वाले ब्रह्मा हैं, इतना ही नहीं, यज्ञ के अध्वर्यु हैं। अर्जुन होता है। शस्त्रविद्या के मन्त्र यज्ञ के मन्त्र हैं। अभिमन्यु ग्रावस्तोत्र गानेवाला होगा। वीरों का रक्त इसका हवि बनेगा। और :

यदा द्रक्ष्यसि मां कृष्ण निहतं सव्यसाचिना।
पुनश्चितिस्तदा चास्य यज्ञस्याथ भविष्यति ।।
(उद्योग० १३९; ४६)

हे कृष्ण, सव्यसाची द्वारा हने गये मुझे आप देखेंगे तब मेरी मृत्यु यज्ञ की पुनश्चिति के समान होगी।

और कर्ण मानो भविष्य में देख रहा हो इस भाँति कहता है :

दुर्योधनं यदा हन्ता भीमसेनो महाबलः।
तदा समाप्स्यते यज्ञो धार्तराष्ट्रस्य माधव ।।
(उद्योग० १३९; ४९)

जब महाबली भीमसेन के हाथों दुर्योधन मारा जायगा तब धृतराष्ट्र के पुत्रों द्वारा आरंभ किया यह यज्ञ समाप्त होगा।

कृष्ण इसके बाद भी कर्ण को लुभाने का प्रयत्न करते हैं। कृष्ण अच्छी तरह जानते हैं कि कर्ण दुर्योधन का पक्ष छोड़ दे तो यह महायुद्ध नहीं होगा। और कृष्ण यह भी जानते हैं कि यह महायुद्ध होकर रहेगा।

कर्ण को अब कोई प्रलोभन के वश में नहीं कर सकता। कर्ण कृष्ण द्वारा पुनः कही बातों के उत्तर में कहता है कि शुभ शकुन की दृष्टि से या सभी दृष्टियों से विजय तो पाण्डवों की ही है। दुर्योधन को तो सभी दिशाएँ सुलगती दिखाई पड़ती हैं। उसकी पराजय निश्चित है, इतना ही नहीं, वह अपने द्वारा देखे गये एक स्वप्न की चर्चा करता है।

कर्ण के स्वप्न में युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ हजार खम्भेवाले एक ऊँचे महल पर चढ़ रहा है। इन सब लोगों ने श्वेत वस्त्र पहन

रक्खे हैं, उनका छत्र श्वेत है, उनके आसन भी श्वेत हैं। स्वप्न के अन्त में कर्ण देखता है कि पृथ्वी रक्त से भर गयी है। और युधिष्ठिर हड्डियों के ढेर पर बैठे सुवर्णपात्र में घी और दूध पी रहे हैं।

कर्ण के स्वप्न में पांडवों की विजय सुनिश्चित है। पर उसमें वह केवल विजय ही नहीं देखता, विजय का विषाद भी देखता है। हड्डियों के ढेर पर बैठकर सुवर्णपात्र में घी-दूध पीने में युधिष्ठिर को कौन सा आनन्द प्राप्त होनेवाला है ? और श्वेत वस्त्र, श्वेत छत्र, श्वेत आसन; कर्ण के स्वप्न में स्वर्गारोहण पर्व का ही आर्ष हो रहा है, क्या ऐसा प्रतीत नहीं होता ?

कर्ण अधर्म के पक्ष में है। वह कृष्ण से कहता है कि दुर्योधन के पक्ष में रहकर मैंने आपको, पांडवों को अनेक कटुवचन कहे हैं। पर साथ ही उसे इस बात की श्रद्धा भी है :

विदितं मे हृषिकेश यतो धर्मस्ततो जयः।

(उद्योग० १४१; ३३)

हे कृष्ण, मैं यह भी जानता हूँ कि जिधर धर्म है, उधर ही जय भी होगी। कर्ण तिसपर भी अन्त में कहता है :

अपि त्वा कृष्ण पश्याम जीवन्तोऽस्मान्महारणात्।
समुत्तीर्णा महाबाहो वीरक्षयविनाशनात्॥

(उद्योग० १४१; ४५)

फिर भी हे कृष्ण, वीरों का विनाश करनेवाले इस महायुद्ध को पार करके यदि मैं जीवित बचा, तो आपसे मिलूँगा।

नहीं तो :

अथवा संगमः कृष्ण स्वर्गे नो भविता ध्रुवम्।
तत्रेदानीं समेष्यामः पुनः सार्धं त्वयाऽनघ॥

(उद्योग० १४१; ४६)

अथवा तो हे कृष्ण स्वर्गलोक में हम अवश्य मिलेंगे। हे निष्पाप, अब तो उसी स्थान पर आपका और मेरा मिलाप सम्भव है।

कर्ण 'जीते रहेंगे तो मिलेंगे' कहता है। पर यह तो "कैसे हैं—अच्छी तरह से" जैसा रूढ़िगत कथन है। इसी से वह उसी साँस में कहता है, "नहीं तो हम स्वर्ग में मिलेंगे"।

उसे स्वर्ग निश्चय ही प्राप्त होगा ऐसा कर्ण मानता है। इस युद्ध में अर्जुन के हाथों अपना वध निश्चित है, यह भी वह जानता है। और मृत्यु के बाद उसकी गति जहाँ कृष्ण होंगे वहीं होनेवाली है, यह भी उसका दृढ़ मत है। यह केवल कृष्ण की श्रद्धा नहीं है। कृष्ण ने कहा—कर्ण वैसे ही धर्मशास्त्र के गूढ़ मर्मों का ज्ञाता है। इस कारण वह प्रतीति सहित ये वाक्य कहता है।

कर्ण तथा कृष्ण का यह संवाद मानव सम्बन्धों में एक नया आदर्श स्थापित करता है। कर्ण के दो पहलू हैं। एक कर्ण दुर्योधन, शकुनि और दुःशासन के साथ हाँ में हाँ मिलाता है। पर कृष्ण के पास आता है तब अहम् के सभी पर्दे हट जाते हैं, निरावृत सत्य प्रगट होता है और कर्ण का यह दूसरा पहलू अधिक मनोरम है—इसी से शायद कवियों को, मनुष्यमात्र को वह आकर्षित करता है।

१२. कर्ण और कुन्ती

हमने पहले देखा कि महाभारत के युद्ध में कोई जी लगाकर नहीं लड़ा। इनमें भी यदि भीष्म, द्रोण या कर्ण जैसे वीर थोड़ा जी लगाकर लड़े होते तो पाण्डवों के लिए विजय इतनी सरल न होती। कुन्ती यह जानती थी। कुन्ती यह भी जानती थी कि कृष्ण की सन्धिवार्ता के बाद भीष्म और द्रोण जी लगाकर नहीं लड़ेंगे। कृष्ण की सन्धिवार्ता के बाद विदुर कुन्ती से मिलते हैं। विदुर के जाने के बाद कुन्ती मन-ही-मन विचार करती है।

नाचार्यः कामवाञ्शिष्यैर्द्रोणो युध्यते जातुचित्।
पाण्डवेषु कथं हार्दं कुर्यान्न च पितामहः॥

(उद्योग० १४२; १५)

आचार्य द्रोण अपने प्रिय शिष्यों से अपनी इच्छा से युद्ध नहीं करेंगे। पितामह भी पाण्डवों पर स्नेह क्यों न रक्खें?

मात्र कर्ण ही एक ऐसा है, जो जी लगाकर लड़ेगा।

कृष्ण कर्ण के पास जाते हैं तब उनका आशय लोककल्याण का है। कृष्ण कर्ण को समझकर सम्भावित युद्ध रोकना चाहते हैं। कर्ण को वे उसके अधिकार से 'राजपद' देना चाहते हैं।

कुन्ती माँ है, फिर भी कर्ण के साथ उसका अनुबन्ध उतना दृढ़ नहीं है। कर्ण उसका पहला पुत्र है। तथापि उसके विषय में जब वह पहले-पहल विचार करती है तब 'दुर्मते' 'मोहानुवर्ती', आदि शब्द उसके मन में आते हैं। यह कर्ण ही दुर्योधन के मोह में फँसकर हमेशा पाण्डवों से द्वेष करता रहता है। कर्ण उसका पुत्र है, वह उसके स्नेह से और जिस राज्य पर उसका अधिकार है उससे वंचित रहा है अतः उससे मिलने हेतु कुन्ती उत्सुक नहीं है। पर कर्ण पाण्डवों का 'महत अनर्थ' हो ऐसा काम करता रहता है। उसे इस कार्यसे रोकने और उसको यथातथ्य बात कहकर उसका मन पाण्डवों की ओर मोड़ने हेतु वह कर्ण के पास जाने का निर्णय करती है। जो कर्ण कुँवारी-कन्या अवस्था में मेरे गर्भ में आरक्षित रहा है वह—

कस्मान्न कुर्याद वचनं, पथ्यं भ्रातृहितं तथा।

(उद्योग० १४२; २५)

भाइयों के हित में कहा गया मेरा वचन क्यों नहीं स्वीकार करेगा?

भीष्म और द्रोण के मन में पाण्डवों के लिए कोमल लगाव के प्रति कुन्ती आश्वस्त है, पर कर्ण के हृदय में भी ऐसी कोई ममता है इस बाबत उसे शंका है।

तो इस तरह कुन्ती कर्ण के पास जाती है तब उसका प्रयोजन कृष्ण से भिन्न है। कृष्ण परमार्थ के लिए कर्ण के पास गये थे, कुन्ती स्वार्थ के लिए जाने का उपक्रम करती है।

भगवान् वेदव्यास विचित्र कवि हैं। कन्यावस्था में जन्म देकर कुल-मर्यादा के कारण जिसे त्याग दिया है ऐसे पुत्र से माता का प्रथम मिलन वे कितनी अद्‌भुत चित्रात्मकता से निरूपित करते हैं। कुन्ती गंगातट पर जाती है।

कर्ण वीर है या खल? इस बाबत जमकर चर्चाएँ होती रही हैं। मराठी में शिवाजी सामन्त ने 'मृत्युञ्जय' उपन्यास में कर्ण को वीर के रूप में—'एक बालिश्त ऊँचे मानव' के रूप में चित्रित किया है, और दाजी पणसीकर के अभी हाल में प्रकाशित ग्रन्थ 'महाभारत : सूडाचा एक प्रवास' (महाभारत : एक शत्रुता यात्रा) में कर्ण चाण्डाल-चौकड़ी का एक सदस्य था ऐसी स्थापना की गयी है, ऐसा मैंने अपने मराठी मित्रों से सुना। पर मूल महाभारत के सान्निध्य में जायँ तो

कर्ण के इन दोनों पहलुओं का परिचय देने में भगवान् वेदव्यास कसर नहीं रखते। कृष्ण ने कर्ण को 'धर्म के सूक्ष्म ज्ञान के जानकार' कहकर सम्बोधित किया था; कुन्ती कर्ण के पास जाती है तब गंगातट पर उपासनारत कर्ण के वर्णन में महाभारतकार दो शब्दों का प्रयोग करते हैं—'घृणिनः'—दयालु तथा 'सत्यसंगीन्'—सत्य का संग करनेवाला; ये दो विशेषण व्यास ने व्यर्थ ही इस्तेमाल नहीं किये हैं। कर्ण में दया न होती तो उसे कृष्ण या कुन्ती के समक्ष मृदु होने की कोई जरूरत नहीं थी। और वह सत्यसंगी न होता तो मैत्री के सत्य का द्रोह करके राज्यसत्ता के मोह की ओर प्रेरित हुआ होता।

ऐसे कर्ण के पीछे जाकर कुन्ती खड़ी रहती है।

अतिष्ठत्सूर्यतापार्ता कर्णस्योत्तरवाससि।
कौरव्यपत्नी वार्ष्णेयी पद्ममालेव शुष्यती।।
(उद्योग० १४२; २९)

कुरुकुल में जन्मे पाण्डु की पत्नी तथा वृष्णिवंश में उत्पन्न हुई कुन्ती, सूर्य के प्रचण्ड ताप में पद्ममाला की तरह मुरझाने लगी थी; पर वह कर्ण के उत्तरीय वस्त्र की छाया का सहारा लेकर खड़ी रही। दोनों हाथ ऊँचे करके पूर्व दिशा की तरफ मुड़कर सूर्य को अर्घ्य देते कर्ण के उत्तरीय की छाँह उसकी माँ को मिलती है। कुन्ती इस उम्र में भी कितनी सुकुमार रही होगी इसका आभास व्यास ने उसे पद्ममाला की जो उपमा दी है उससे होता है। और यह ताप केवल सूर्य का है या पुत्रत्याग जैसे कर्म का ताप उसे जला रहा है? या फिर 'जातिवध' या 'जातिक्षय' जैसे शब्दों से कुन्ती जिसका उल्लेख करती है उस महाभारत-युद्ध का प्रताप उसे जला रहा है? जो भी हो, कर्ण के उत्तरीय की छाँह लेने की बात जितनी रमणीय है उतनी ही सूचक भी है। ऐसे महाभारत-युद्ध में कर्ण के पास किसी राहत की आशा से आयी कुन्ती अन्त में उसके उत्तरीय की शीतलता पाती है। यह बात हम आगे देखेंगे।

कर्ण अपना जप पूरा करके पीछे घूमता है और तत्काल ही उसकी दृष्टि कुन्ती पर पड़ती है। वह कुन्ती को पाण्डवों की माता के रूप में ही नहीं जानता, स्वयं कुन्ती के गर्भ से जन्मा है यह हकीकत भी जानता है। यदि इसमें कर्ण के मन में कोई शंका रही भी होगी तो

उसे कृष्ण ने उसके जन्म का रहस्य बताकर दूर कर दिया है। स्वयं को जन्म देनेवाली माँ मिलने आयी है तब कर्ण उसे प्रणाम करके जो शब्द कहता है उनकी गुरुता और कुलाभिमान दोनों अनूठे हैं।

राधेयोऽहमाधिरथिः कर्णस्त्वामभिवादये।
प्राप्ता किमर्थं भवति ब्रूहि किं करवाणि ते॥
(उद्योग० १४३; १)

राधा और अधिरथ का पुत्र कर्ण, मैं आपका अभिवादन करता हूँ।

कर्ण कुन्ती के समक्ष वह 'राधेय' है ये शब्द सगर्व बोलता है। जिस माता ने उनका पालन-पोषण किया है, उसे किसी राजवंशीय मोह के हेतु वह छोड़ने को तैयार नहीं है। और 'कौन्तेय' कहलाने के बदले 'राधेय' कहलाने में उसे अधिक गौरव का बोध होता है। दूसरी बात यह कि वह जानता है कि कुन्ती किसी 'अर्थ' के लिए आयी है, इसीसे पूछता है :

आप किस अर्थ (काम) के लिए आयी हैं ? मुझे कहें मैं आपका कौन-सा काम करूँ ?

'राधेय' शब्द कर्ण ने जान-बूझकर कहा था। ये शब्द कुन्ती को चुभेंगे यह भी वह जानता था। उसका वाग्बाण ठीक मर्म पर प्रहार करता है। कुन्ती तुरत ही कहती है :

कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता।
नासि सूतकुले जातः कर्ण तद्विद्धि मे वचः॥
(उद्योग० १४३; २)

कर्ण का वाक्य 'राधेय' शब्द से शुरू हुआ था, कुन्ती का उत्तर 'कौन्तेय' शब्द से आरम्भ होता है। कुन्ती कहती है, "तू कुन्ती का पुत्र है, राधा का नहीं। अधिरथ तेरा पिता नहीं है। तेरा जन्म सूत-कुल में नहीं हुआ है। कर्ण तेरे जन्म का रहस्य मैं तुझे बताने आयी हूँ।' और ऐसा कहकर वह कर्ण से उसके जन्म की, कन्यावस्था में अपने बटोरे और त्याग दिये कलंक की कथा कहती है, और कृष्ण के कहे हुए वे सब प्रलोभन देने के साथ वह आगे बढ़कर कहती है कि आज अच्छा हो कि कौरव लोग कर्ण और अर्जुन का मिलाप देखें—

कर्णार्जुनौ वै भवतां यथा रामजनार्दनौ।
(उद्योग० १४३; १०)

बलराम और कृष्ण की भाँति कर्ण और अर्जुन की जोड़ी भी विख्यात हो।

कुन्ती के इन वचनों के साथ सूर्यनारायण भी आकाशवाणी द्वारा कहते हैं :

सत्यमाह पृथा वाक्यं कर्ण मातृवचः कुरु।

(उद्योग० १४२; २)

पृथा जो कहती है वह सत्य है। कर्ण, तू अपनी माता के वचनों का पालन कर।

कर्ण की कैसी कड़ी परीक्षा यहाँ होती है। पहले तो कृष्ण जैसे कृष्ण उसके आगे अनेक प्रलोभन रख जाते हैं, फिर कुन्ती आती है फिर तो स्वयं भगवान् सवितानारायण भी उससे कुन्ती जैसा कहती है वैसा करने को कहते हैं।

कर्ण यहाँ बुद्ध की कक्षा में पहुँचता है। मार के विविध प्रलोभनों के समक्ष जैसे बुद्ध टिक सके वैसे ही कर्ण भी टिक सकता है। कर्ण के प्रलोभकों में कृष्ण और सूर्य जैसे प्रतापी पुरुष हैं, उन्हीं के साथ कुन्ती, उसकी जन्म-माता भी है। पुनः यदि वह इन सबकी बात मान लेता है तो राजपाट मिलेगा, और दूसरे पक्ष में कर्ण जान गया है कि केवल मृत्यु है। फिर भी कर्ण अटल है। कृष्ण ने जैसा कहा कर्ण धर्म का ज्ञाता है। माता-पिता के वचन का पालन करना यह एक धर्म है। परन्तु इस धर्म को वह अपने वैयक्तिक धर्म के साथ रखता है। वह कहता है—सच है तू मेरी माँ है; तेरी आज्ञा पालन करना मेरे लिए धर्म का द्वार है यह भी सच है; पर तूने मेरा जन्म होते ही मेरा त्याग किया जिससे मेरा यश और कीर्ति दोनों ही नष्ट हो गये। तेरी यह बात भी सच है कि मेरा जन्म सूतकुल में नहीं हुआ है, मैं जन्मना क्षत्रिय हूँ। पर मुझे 'क्षत्रसत्क्रियाम्' क्षत्रिय संस्कार नहीं मिले हैं। तूने जो किया, उससे अधिक बुरा क्या मेरा कोई दुश्मन भी कर पाता? जब मुझ पर दया करने का समय था तब तूने दया नहीं की, पर अब जब दया करने का समय बीत गया है, तब तू मुझे आज्ञा पालन करने को कहती है? (उद्योग० १४४; ४-७)

कर्ण बहुत ही कठोर सत्य कुन्ती से कह रहा है। वह तो स्पष्टतः कहता है कि तेरी यह बात मेरे किसी हित के लिए नहीं है वह तो 'केवलात्महितैषिणी'—मात्र आत्महित की इच्छा से कही गयी बात है।

तथापि इस कारण से कर्ण माता की आज्ञा का अनादर नहीं करता, वह कहता है :

> कृष्णे न सहितात्को वै न व्यथेत, धनंजयात् ।
> कोऽद्य भीतं न मां विद्यात्, पार्थानां समिति गतम् ।।
> (उद्योग० १४४; ९)

कृष्ण और अर्जुन दोनों एक साथ हों तो कौन भयभीत न होगा ? एक तो अर्जुन का बल और उसमें कृष्ण की प्रेरणा मिले यह बात ही भय प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। अतः यदि आज मैं पाण्डवों की सभा में, पार्थों की समिति में आ जाऊँ तो कौन मुझे भयभीत नहीं मानेगा ?

> अभ्राता विदितः पूर्वं युद्धकाले प्रकाशितः ।
> पाण्डवान्यदि गच्छामि किं मां क्षत्रं वदिष्यति ।।
> (उद्योग० १४४; १०)

पहले से मैं अभ्राता—भाई बिना का गिना जाता रहा हूँ, अब युद्धकाल में मैं अपनी यह सगाई प्रगट करके पाण्डवों के पास जाऊँ तो क्षत्रिय मेरे लिए क्या कहेंगे ?

कर्ण और कृष्ण के जीवन की समान्तरता हमने पहले देखी थी; कृष्ण ने राजवंश में जन्म लिया, ग्वालों के यहाँ पले और पुनः राजवंश में चले गये। कारण यह कि कृष्ण को जीवन में कुछ कार्य करने थे। कर्ण को पाण्डवों के साथ जुड़कर ऐसा कोई जीवन-कार्य नहीं करना है। वह राजगद्दी और द्रौपदी के साथ वर्ष के षष्ठांश में विलास—इन दो के लिए पाण्डवों के पास जाय ? आज तक वह 'अभ्राता' था और अब भाइयों की जरूरत नहीं है। युद्धकाल में वह पाण्डवों के भाई के रूप में प्रकाश में आना नहीं चाहता।

वीरत्व कर्ण के इनकार का एक कारण है, दुर्योधन ने जो कुछ किया उसके लिए कृतज्ञता यह दूसरा कारण है। महाघोर युद्ध को पार करने की इच्छा करनेवाले दुर्योधन ने कर्ण को अपनी नौका के रूप में वरण किया है। अब कर्ण उसे कैसे त्याग सकता है ? स्वयं दुर्योधन--उपजीवी है—उसी के सहारे अपना गौरव प्राप्त कर सका है। अब प्राणरक्षा का विचार किये बिना उस उपकार का बदला चुकाने का वक्त आ पहुँचा है।

लेकिन कुन्ती यहाँ आई है उसका उद्देश्य कुछ दूसरा ही है। उसके
मन में कर्ण के लिए स्नेह छलक नहीं रहा है। केवल अपने पुत्रों की
रक्षा ही उद्देश्य है। कर्ण ही जी लगाकर लड़ेगा ऐसा वीर है। कृष्ण
और अब कुन्ती—इन दोनों की मुलाकातों ने कर्ण के युद्धसंकल्प को
निर्बल बना दिया है।

माँ की आज्ञा का पालन करना चाहिए, यह कर्ण जानता है। पर
आज्ञा जिस स्वरूप में है उस रूप में दुर्योधन का पक्ष छोड़कर पाण्डवों
के साथ मिलकर उसका पालन करना सम्भव नहीं है। तो अब कर्ण
माता जो चाहती है वही करना चाहता है। इसीसे वह कहता है :

अर्जुनेन समं युद्धं मम यौधिष्ठिरे बले।
(उद्योग० १४४: २१)

युधिष्ठिर की समूची सेना में मैं केवल अर्जुन के साथ ही युद्ध
करूँगा। युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव आदि वध के योग्य हैं तो भी
मैं उनका वध नहीं करूँगा। इतना ही नहीं। वह वचन देता है कि—

न ते जातु न शिष्यन्ति पुत्राः पंच यशस्विनी।
निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयी॥
(उद्योग० १४४; २२)

हे यशस्विनी, तेरे पाँच पुत्र कायम रहेंगे। अर्जुन यदि मर जायगा
तो कर्ण सहित और कर्ण मरेगा तो अर्जुन सहित।

इस प्रकार कुन्ती कर्ण के संकल्प को डगमगा देती है। कर्ण अब
सिवा अर्जुन के किसी के भी सामने जी लगाकर नहीं लड़ सकेगा,
क्योंकि बाकी के चार भाइयों को उसने अभयदान दिया है। कर्ण के
वीरत्व का जो वर्णन कर्ण पर्व के बीच आता है उसे देखते हुए यदि कुन्ती
ने यह अभयदान न माँगा होता तो शायद पाँच पाण्डव युद्ध के अन्त में
अखण्डित न रह पाये होते। इतना ही नहीं, कर्ण का युद्धसंकल्प यदि
फीका न पड़ा होता तो शायद 'यतो धर्मस्ततो जयः', इतना तो खैर
निश्चित था, पर यह जय पाण्डवों को कुछ अधिक महँगी पड़ी होती।

कर्ण से इतना बड़ा वचन माँग लिया, बदले में माता पुत्र को
कौनसा आशीर्वाद देती है ?

कुन्ती पाण्डवों को ही चाहती थी, कर्ण को नहीं। कर्ण को ज्येष्ठ
पाण्डव के रूप में स्थापित करके उसे राजगद्दी देने का निर्णय भी इन

पाण्डवों के प्राण बचें इसी हेतु लिया गया था ! कर्ण ने माता की यह इच्छा पूरी की।

कर्ण प्रणाम करता है, तब कुन्ती आशीर्वाद देती है; कुन्ती यहाँ तनिक भी दम्भ नहीं करती। वह उसे शतायु होने का या चिरंजीवी होने का आशीर्वाद नहीं देती। वह तो कहती है—

(उद्योग० १४४; २६)

अनामयं स्वस्ति—

'रोगरहित रहना !'

कर्ण का वचन और माता का प्रतिभाव—इन दोनों पर मनन करें तो कर्ण एक बित्ता ऊँचे मानव के रूप में प्रस्थापित हुए बिना नहीं रहता।

१३. सेना का केन्द्रबिंदु

कृष्ण का दूतकार्य पूरा हुआ। अब शान्ति की कोई सम्भावना नहीं है। 'जाति-संहार' निवारण की कोई सम्भावना नहीं रही है। युद्ध की तैयारी ही तो अब सबके लिए बच रही है। पाण्डवों के शिविर में जब सेनापति कौन हो इस बाबत चर्चा चल रही है, तब युधिष्ठिर कहते हैं :

एष नो विजये मूलमेष तात विपर्यये।
अत्र प्राणश्च राज्यं च भावाभावौ सुखासुखे॥

(उद्योग० १४९; ३)

हे तात, (भीम ने शिखण्डी को सेनापति नियुक्त करने की बात कही, उसके बाद युधिष्ठिर ये शब्द उसे अर्थात् भीम को सम्बोधित करके कहते हैं) कृष्ण ही हमारी विजय या पराजय के मूलाधार हैं। हमारे प्राण, हमारा राज्य, हमारे भाव-अभाव तथा हमारे सुख-असुख कृष्ण में ही प्रतिष्ठित हुए हैं।

कृष्ण में पाण्डवों का समर्पणभाव इस हद तक दृढ़ हुआ है। इसी से अब जब सेनापति कौन बने इसकी चर्चा में रात बीतने आयी है, तब कृष्ण जिसका नाम बतायें वही हमारा सेनापति हो ऐसी भावना युधिष्ठिर व्यक्त करते हैं। दुर्योधन अन्य लोगों के आश्रय से युद्ध करता है। पाण्डव कृष्ण के आश्रय में युद्ध में प्रवृत्त हैं। दुर्योधन ने जिनका

सहारा लिया है उनमें से कोई भी युद्ध करने या युद्ध टालने को दृढ़ संकल्प नहीं है। लेकिन कृष्ण तो युद्ध-निवारण के तमाम प्रयत्न कर चुके हैं। अतः कृष्ण के आश्रय में होकर पाण्डव भी कृष्ण की तरह निष्कलंक इस युद्ध में प्रवेश करते हैं।

युधिष्ठिर पूर्व-अनुभव से जानते हैं कि कृष्ण की सम्मति बिना कोई कार्य सफल नहीं होता। इसी से वे सेनापति पद पर कौन होना चाहिए इसकी चर्चा में रात बीत जाय इसकी अपेक्षा कृष्ण ही इसका निराकरण प्रस्तुत करें यह चाहते हैं।

दुर्योधन के पक्ष में तो युद्ध की तैयारी की शुरुआत ही पक्ष को निर्बल करनेवाले संकेतों से होती है। कृष्ण की सन्धिवार्ता विफल होने के बाद भी 'जाति-संहार' की सम्भावना से काँप उठते धृतराष्ट्र दुर्योधन को समझाने का एक प्रयत्न किये बिना नहीं रह पाते। वे दुर्योधन जिस आकांक्षा पर युद्ध की इमारत खड़ी करता है उसी को पाये में से हटा लेने की इच्छा करते हैं, वे कहते हैं :

मय्यभागिनि राज्याय कथं त्वं राज्यमिच्छसि,
(उद्योग० १४७; ३०)

मैं ही जिस राज्य का हिस्सेदार नहीं हूँ, उस राज्य की तू कैसे अभिलाषा करता है ?

यह राज्य पाण्डु का है और उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्रों का है, यह बात एक बार फिर से धृतराष्ट्र स्वयं कहते हैं, पर व्यर्थ।

सेनापति पद किसे देना यह दुविधा दुर्योधन के लिए नहीं है। भीष्म कुल के बुजुर्ग हैं, इतना ही नहीं, योद्धाओं में भी प्रमुख हैं। भीष्म का पाण्डवों के लिए शुभ अभिगम आरम्भ से ही सर्वविदित है। इसी से वे सेनापति पद स्वीकार करते हैं, तब कहते हैं : यह अहंभावी कर्ण या तो शुरू में लड़े, या तो मैं आरम्भ में लड़ूँ। कर्ण के उफान को तोड़ने का क्या यह सहेतुक प्रयास था ? या फिर राजवंशी होने के अभिमान के कारण सूतपुत्र की तरफ की हिकारत यहाँ व्यक्त हो रही थी ?

युधिष्ठिर सेना के सात भाग करके इनके सात सेनापति नियुक्त करते हैं। इनमें द्रुपद, विराट, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु, शिखण्डी और मगधराज सहदेव हैं। राजसूय से पहले कृष्ण-अर्जुन-भीम ने गिरि-

व्रज जाकर जरासंध की हत्या की थी; पर जरासंध का पुत्र पाण्डवों की ओर से लड़ता है ? इतना ही नहीं, पाण्डवों का एक सेनापति भी है। इन सबमें सम्पूर्ण सेनाओं के सेनापति के रूप में धृष्टद्युम्न को रक्खा जाता है। अर्जुन इन सब सेनापतियों का पति है, और :

अर्जुनस्यापि नेता च संयन्ता चैव वाजिनाम्।
संकर्षणानुजः श्रीमान् महाबुद्धिर्जनार्दनः ।।
(उद्योग० १५४; १४)

पर इस अर्जुन का नेता कौन है ? अर्जुन और उसके अश्वों दोनों को काबू में रखनेवाला सारथि है संकर्षण—बलराम के अनुज श्रीमान् महाबुद्धि जनार्दन।

थोड़े से शब्दों में महाकवि कृष्ण के लिए कितना कुछ कह देते हैं ! वे अर्जुन के नेता हैं, इतना ही नहीं, उसके अश्वों को वश में रखनेवाले हैं। इन्द्रियों के लिए भी अश्व शब्द का प्रयोग होता है। अर्जुन को वे समग्ररूप से वश में रखनेवाले हैं। और फिर उन्हें तीन विशेषण दिये गये हैं; संकर्षण के भाई, बलराम का प्रताप कितना रहा होगा, इसका ख्याल इस विशेषण से आता है, श्रीमान्—श्री जिसके पास है ऐसे और महाबुद्धि—बुद्धि में जिनका जोड़ा नहीं है ऐसे जनार्दन कृष्ण।

पाण्डवों की सेना के सिरमौर हैं श्रीकृष्ण, फिर अर्जुन, फिर धृष्टद्युम्न, फिर अन्य छः सेनापति। पाण्डवों की सैन्यरचना सुश्लिष्ट है। ऐसे असंख्य महारथी साथ हैं, जबकि दुर्योधन की छावनी में या तो भीष्म लड़ें, या कर्ण, ऐसी परिस्थिति, युद्ध हो उससे पहले ही बन जाती है।

ऐसे महाभारत युद्ध में जब विविध प्रतापी पुरुष दो पक्षों में बँट गये थे, तब कोई तटस्थ भी रहा था क्या ?

एक तो बलराम तटस्थ रहे थे। दुर्योधन, कृष्ण की नारायणी सेना प्राप्त करके प्रसन्न हुआ था। अर्जुन ने 'अयुद्धमानः'—युद्ध न करनेवाले कृष्ण को पसन्द किया था। जब अर्जुन ने यह पसन्दगी की तभी बलराम के लिए दुविधा उत्पन्न हो गयी थी। बलराम का समभाव दुर्योधन के लिए था। यह बात बलराम छिपाते नहीं। युद्ध के लिए उत्सुक पाण्डवों की छावनी में बलराम आते हैं, तब बात की शुरुआत ही 'यह कृष्ण मेरा कहा नहीं मानता' जैसे शब्दों से करते हैं : 'तथ्यं

मे नाकरोद् वाक्यं त्वदर्थे मधुसूदनः'—'आपका (पाण्डवों) होकर, कृष्ण कौरव-पाण्डवों दोनों के साथ समान व्यवहार करने की मेरी बात नहीं मानता' ऐसी फरियाद करने के बावजूद कृष्ण पाण्डवों के पक्ष में हैं तब :

ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति मे निश्चिता मतिः ।
तथा ह्यभिनिवेशोऽयं वासुदेवस्य भारत ॥
(उद्योग० १५४; ३०)

पाण्डवों की विजय निश्चित है, ऐसा मैं मानता हूँ, कारण यह कि कृष्ण ऐसा ही चाहते हैं।

पाण्डव जीतेंगे, पाण्डव पराक्रमी हैं, पर सामने के पक्ष में भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा, किसी का भी पराक्रम कम नहीं है। पर पाण्डव जीतें यह कृष्ण का अभिनिवेश है; कृष्ण चाहते हैं कि पाण्डव जीतें इसलिए पाण्डव जीतेंगे।

बलराम कृष्ण के विरुद्ध नहीं होना चाहते और दुर्योधन अपना प्रियपात्र शिष्य है इस कारण कृष्ण के साथ रह नहीं सकते। इसी से युद्ध में भाग नहीं लेते।

कृष्ण के लिए निर्व्याज प्रेम के कारण बलराम युद्ध से दूर रहते हैं तो भीष्मक का पुत्र रुक्मी निर्व्याज अहंकार के कारण युद्ध से दूर रहता है। वह दोनों पक्षों से कहता है : आपको गरज हो तो मैं आपकी सहायता करूँ, मैं अकेला आपको विजय दिलाने में समर्थ हूँ।

निर्व्याज प्रेम और निर्व्याज अहंकार—ये दोनों इस युद्ध से दूर रहे।

महाकवि व्यास परिस्थिति का निरूपण करते हैं, तब पूरी नाट्यात्मकता से निरूपित करते हैं। अपनी युद्धखोरी प्रगट करने मात्र से दुर्योधन को सन्तोष नहीं हुआ है। वह तो पाण्डवों पर बोली-ठोली मारना चाहता है। पाण्डव अब यहाँ तक पहुँचकर किसी कारणवश युद्ध का विचार त्याग दें तो, ऐसी आशंका ही दुर्योधन के मन में रही होगी। इस कारण वह उलूक को पाण्डवों के शिविर में भेजकर पाण्डवों को अपमानित करनेवाला सन्देश भेजता है। पाण्डवों को उनकी प्रतिज्ञा याद दिलवाता है। विराट नगर में भीम रसोइये के रूप में और अर्जुन बृहन्नला के रूप में रहे थे इस बात की याद दिलाकर दुर्योधन

पाण्डवों को ललकारता है। कृष्ण पाण्डवों के साथ हैं इस बात का उसे बिलकुल ही भय नहीं है, इस बात को स्पष्ट करते हुए वह कहता है :

न भयाद् वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युध्यस्व सह केशवः ॥
(उद्योग० १५८; ३४)

यह राज्य अब वासुदेव के भय से या अर्जुन के भय से मैं वापस नहीं लौटाऊँगा, अतः हे अर्जुन, अब कृष्ण को साथ लेकर लड़ने को तैयार हो जा। दुर्योधन की यह शेखी कहाँ तक पहुँचती है ? वह कहता है : जिसका बाण कभी व्यर्थ नहीं जाता, ऐसे मेरे सामने सहस्र वासुदेव और 'शतानि' (सैकड़ों) अर्जुन दश दिशा में भाग जायँगे। अभिमान में औचित्य नहीं रहता, अतः अपने प्रहार से सैकड़ों अर्जुन दूर भागेंगे यह कहने के साथ ही हजारों वासुदेव भी दूर भागेंगे ऐसा कहकर कृष्ण को अर्जुन से भी नीचे उतरते चित्रित करने की चेष्टा करता है।

उलूक के ये शब्द पाण्डवों को सुलगा देते हैं : कारण यह कि इनमें द्यूतसभा, द्रौपदी की विवशता, भीम की प्रतिज्ञा, विराट नगर का गुप्तवेश—सब याद करके दुर्योधन ने वाक् प्रहार किया था। पाण्डव क्रोध में आकर कुछ कहें इससे पहले कृष्ण उन्हें रोक कर कहते हैं :

श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत्ते तथास्तु तत्।
(उद्योग० १५९; ६)

कृष्ण उलूक से कहते हैं : तू दुर्योधन से जाकर कहना, कि तेरी बात हमने सुनी। उसका अर्थ ग्रहण किया। तेरा जैसा मत है, वैसा ही होगा।

दुर्योधन युद्ध चाहता है, वह विजय नहीं चाहता। इसी से तो कृष्ण दुर्योधन के इस मत को 'तथास्तु' कहने से हिचकते नहीं। इतनी उग्र, कड़ुवी, वक्रोक्ति भरी वाणी के अन्त में कृष्ण कहते हैं—'तथास्तु' अर्थात् कि ठीक है ऐसा ही हो। बोली-ठोली के बहाने दुर्योधन पाण्डवों के पौरुष को ललकारता है, पर अब पाण्डवों का पौरुष उसका उत्तम उत्तर देगा ही।

कृष्ण बहुत कम अवसरों पर अपने बारे में कोई बात कहते हैं, पर यहाँ कहते हैं : यदि तू (दुर्योधन) यह मानता हो कि कृष्ण मात्र पाण्डवों के सारथि ही हैं तो तू भूल करता है। मैं सारथि अवश्य हूँ पर कैसा :

> यद्युत्पतसि लोकांस्त्रीन् यद्याविशसि भूतलम्।
> तत्र तत्रार्जुनरथं प्रभाते द्रक्ष्यसेऽग्रतः ।।
> (उद्योग० १५९; ११)

तू भले ही त्रिलोक को लाँघ जा, या पृथ्वी के तल में प्रविष्ट हो जा, तो भी अगली सुबह जिस स्थान पर तू होगा उसके आगे (अग्र-भाग में) अर्जुन का रथ देखेगा।

कृष्ण अर्जुन के सारथि हैं, उसका यह प्रताप है।

दुर्योधन भीष्म को आगे बढ़ाता है, तब भीष्म फिर एक बार कर्ण का अपमान करते हैं। भीष्म कौरवों के रथियों, महारथियों आदि की गिनती करते हैं तब कर्ण को अर्धरथी गिनाते हैं। इतने सारे योद्धाओं के समक्ष अपना यह 'तेजोवध' कर्ण सहन नहीं कर पाता। दुर्योधन के पक्ष में इस तरह पहले से ही फूट पड़ जाती है। पर वही भीष्म जब पाण्डवों के बल का वर्णन दुर्योधन के समक्ष करने बैठते हैं तो कहते हैं :

> लोहिताक्षो गुडाकेशो नारायणसहायवान्।
> उभयोः सेनयोर्वीरः रथी नास्तीह तादृशः ।।
> (उद्योग० १६६; २८)

लोहिताक्ष—लाल आँखोंवाला अर्जुन : एक तो अर्जुन स्वयं कोपायमान हो तब कितना दुःसह होगा ? और फिर उसमें 'नारायण-सहायवान्'—उसकी सहायतार्थ नारायण हैं, कृष्ण हैं।

आधे चरण में ही अर्जुन का यह वर्णन करने के बाद, भीष्म उसी साँस में कहते : दोनों सेनाओं में अनेक वीर हैं, पर उसके जैसा रथी दूसरा कोई नहीं है।

इसके साथ ही भीष्म के मुख से, दुर्योधन की पराजय का, भवितव्य, युद्ध शुरू होने से पहले ही महाकवि कहलाते हैं। वे दो बातें सामने रखते हैं :

स हि स्त्रीपूर्वको राजन् शिखंडी यदि ते श्रुतः ।
कन्या भूत्वा पुमान् जातो न योत्स्ये तेन भारत ।।
(उद्योग० १६९; २०)

हे दुर्योधन, तुमने सुना ही होगा कि शिखण्डी पहले स्त्री था, फिर वह पुरुष हो गया । उसके साथ मैं युद्ध नहीं करूँगा ।

एक बात भीष्म ये कहते हैं । फिर दूसरी बात कहते हैं :

सर्वांस्त्वन्यान्हनिष्यामि पार्थिवान्भरतर्षभ ।
यान्समेष्यामि समरे न तु कुन्तीसुतान्नृप ।।
(उद्योग० १६९; २१)

इसके अलावा अन्य सभी राजाओं को मैं मारूँगा, पर कुन्ती के पुत्रों को मैं नहीं मार सकूँगा ।

भीष्म जिन्होंने परशुराम जैसे श्रेष्ठवीर की हँफा डाला था, वे पाण्डुपुत्रों के समक्ष पीछे हटेंगे ऐसी तर्कहीन बात व्यास नहीं कहते । पर भीष्म कुन्तीपुत्रों को मारना ही नहीं चाहते ।

दुर्योधन इन दोनों की बाबत कारण पूछता है तब भीष्म की चतुराई देखने योग्य है । वे शिखण्डी की हत्या क्यों नहीं करेंगे इस बाबत एक लम्बी कथा कहते हैं । इस कथा में सब रमे हुए हैं तब वे कुन्तीपुत्रों को क्यों नहीं मारेंगे यह बात चुपके से टाल जाते हैं ।

युद्ध के लिए जब दोनों सेनाएँ तैयार हैं, तब दुर्योधन भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, कर्ण आदि से पूछता है कि आप लोग कितने समय में पाण्डवों की सेना का नाश कर सकते हैं ? भीष्म और द्रोण एक-एक महीना कहते हैं, कृपाचार्य दो महीने कहते हैं, अश्वत्थामा 'दस रात' में स्वयं यह सिद्ध कर सकता है ऐसा कहता है । कर्ण कहता है : मैं यह केवल पाँच रात में सिद्ध कर सकता हूँ ।

अर्जुन से युधिष्ठिर ऐसा ही प्रश्न पूछता है तब अर्जुन का उत्तर सुन्दर है । कृष्ण की सहायता है तो निमेष मात्रा में मैं इस कौरव सेना का संहार कर सकने में समर्थ हूँ ।

इनमें से प्रत्येक की समय-मर्यादा की बाबत बहुत गहरी मीमांसा की जा सकती है : पर अर्जुन की कृष्ण के प्रति श्रद्धा उसे 'निमेषमात्र' यह शब्द कहने को प्रेरित करती है । जो 'निमित्तमात्र' बन सकता है वही 'निमेषमात्र' में दुर्योधन की सेना के संहार की बात कह सकता

है। अर्जुन के अभिगम में और दुर्योधन के वीरों के अभिगम में विद्य-
मान प्रमुख अन्तर यह है कि दुर्योधन के पास वीरत्व की कमी नहीं है,
पर कृष्ण कहीं नहीं हैं। इधर युधिष्ठिर की सेना में भी वीरत्व की
कमी नहीं है, पर कृष्ण की उपस्थिति इस वीरत्व की वृद्धि करती है।
इसी से उद्योगपर्व के अन्त में जब युधिष्ठिर की समग्र सेना का वर्णन
हुआ है, तब उसमें सभी वीरों की बात तो है ही, पर साथ ही महा-
कवि व्यास वर्णन करते हैं :

अन्वयातां ततो मध्ये वासुदेवधनंजयौ।

(उद्योग० १९७; १५)

और इस सेना के मध्य मैं हैं वासुदेव तथा धनंजय।

कृष्ण युद्ध तक पहुँची इस समूची परिस्थिति में शांति के हिमायती
रहे, धर्म के पुरस्कर्ता रहे, और युद्ध के लिए तत्पर रहे। क्या ये संयोग
ही 'यतो कृष्णस्ततो जयः' का उद्घोष नहीं करते ?

सैन्य कितना है इसकी महिमा नहीं है, सेना के केन्द्र में कौन है
इसकी महिमा है। दुर्योधन की सेना के केन्द्र में भीष्म कर्ण के बीच
का विवाद है। पाण्डवों के सैन्य का नाश करने हेतु की क्षमता के
भिन्न-भिन्न वीरों के भिन्न-भिन्न परिमाण हैं। युधिष्ठिर की सेना
के बीच में दो कृष्ण हैं : एक कृष्ण वासुदेव और दूसरा कृष्ण धनंजय।

१४. धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे

महाकवि व्यास सृजक के साथ ही प्रयोगधर्मी भी हैं। एक तो वे
अपनी कुल गाथा कह रहे हैं, धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर व्यास की
संतान हैं। इस कथा में वे अपने आप को पात्र रूप में भी प्रस्तुत
करते हैं। साथ ही महाभारत के इस विराट युद्ध की छोटी से छोटी
घटनाओं का विवरण कैसे पाठक के समक्ष प्रस्तुत करना यह कौशल
भी उन्होंने सोच लिया है। भीष्म पर्व के आरंभ में ही व्यास धृतराष्ट्र
से मिलते हैं और कहते हैं कि तुझे यदि यह घोर संग्राम देखना हो तो
मैं तुझे दिव्य दृष्टि देने को तत्पर हूँ। पर धृतराष्ट्र इस कुलसंहार
को देखकर सहन कर सकने योग्य नहीं है। जन्म धारण करके जो
कुछ भी नहीं देख सका, वह केवल कुलसंहार देखने हेतु ही दृष्टि

प्राप्त करे यह विधिवक्रता धृतराष्ट्र को स्वीकार्य नहीं है। फिर भी इस संग्राम में क्या होगा यह जानने हेतु धृतराष्ट्र की उत्सुकता लेश मात्र भी कम नहीं है। इस दृष्टि से संजय सर्वज्ञ बनता है। गुप्त या प्रकट सभी बातें संजय जान सकेगा। दिन या रात में जो कुछ भी घटेगा वह संजय जान सकेगा। वह थकेगा नहीं। शस्त्र उसका स्पर्श नहीं कर सकेंगे। इस महायुद्ध में वह बच जायगा।

इसके बाद व्यास इस युद्ध की भीषणता का भयकारक दृश्य उपस्थित करके धृतराष्ट्र से कहते हैं :

> कालोऽयं पुत्ररूपेण तव जातो विशाम्पते,
> न वधः पूज्यते वेदे हितं नैत त्कथंचन।
>
> (भीष्म० ३;५४)

साक्षात् काल तेरे यहाँ पुत्र का रूप लेकर पैदा हुआ है। वेद में भी वध पूजनीय नहीं है, हितकारी नही है।

और पुनः दुर्योधन ने जिस संहार का आरम्भ किया है वह कैसा है ? जिसकी आवश्यकता नहीं है, जिसका निवारण हो सकता है ऐसे संहार की उसे लत लगी है।

व्यास यह भी जानते हैं कि धृतराष्ट्र प्रत्यक्ष रूप से 'वे असहाय है' ऐसा कहा करते हैं, पर शासक के रूप में अपने अधिकार का प्रयोग करके युद्ध का निवारण करने की ओर प्रवृत्त नहीं हैं। जो कभी समझनेवाला नहीं है उस दुर्योधन को समझाने के लिए वह अवश्य ही प्रयास करता है; पर यह व्यर्थ है यह बात वह जानता है। जहाँ कृष्ण हैं वहीं जय है यह बात ढोल बजाकर उसके कान तक पहुँचायी गयी है, तथापि दिल में धृतराष्ट्र मानता है कि दुर्योधन की सेना बड़ी है, दुर्योधन के पक्ष में भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि महारथी हैं, अतः दुर्योधन जीतेगा ऐसा उसका अंतरमन कहता रहता है। व्यास धृतराष्ट्र के इस भ्रम को इन शब्दों से भंजित करते हैं :

> न बाहुल्येन सेनाया जयो भवति भारतः
> अध्रुवो हि जयो नाम दैवं चात्र परायणम्,
> जयन्तो ह्यापि संग्रामे क्षयवन्तो भवल्युत।
>
> (भीष्म, ३; ८५)

बहुत बड़ी सेना हो तो ही विजय होगी यह कोई निश्चित नहीं, जय अध्रुव—अनिश्चित हैं; वह दैवपरायण है अर्थात् भाग्य के अधीन है। संग्राम में जिसे विजय मिलती है वह कृतकृत्य हो जाता है।

व्यास ने इन शब्दों द्वारा कहने योग्य सभी कुछ कह दिया। अब धृतराष्ट्र और संजय के बीच का वार्तालाप आगे चलता है। धृतराष्ट्र अपने मन को किसी अन्य मार्ग पर मोड़ना चाहते हैं। उनके पुत्र उनके वश में नहीं हैं यह तो वह व्यास से ही कह चुके हैं; इतना ही नहीं धृतराष्ट्र स्वयं सच क्या है और गलत क्या है यह अच्छी तरह समझते हैं। पर उन्होंने स्वयं ही अपने पिता व्यास के समक्ष स्वीकार किया है उस प्रकार :

> स्वार्थे हि संमुह्यति तात लोको
> मां चापि लोकात्मकमेव विद्धि।
>
> (भीष्म० ३; ६०)

हे तात, जब स्वार्थ की बात आती है तो लोग मोहग्रस्त होते हैं; और मैं ऐसे ही लोगों में से एक हूँ।

धृतराष्ट्र स्वयं लोकोत्तर होते तो शायद पुत्र को युद्ध के मार्ग से वापस लौटा सके होते। अब जब वे ऐसा नहीं कर सके हैं और 'पुत्र की विजय निश्चित नहीं है' ऐसा अनुभव करते हैं तब अपना ध्यान दूसरी ओर मोड़ना चाहते हैं। वे कहते हैं : 'इस पृथ्वी के लिये राज-पुरुष जीवन का मोह त्याग देते हैं, एक दूसरे की हत्या करते हैं। यह देखकर प्रतीत होता है कि पृथ्वी में कुछ गुण होने चाहिये। संजय तुम्हें तो अब ज्ञान-चक्षु प्राप्त हुए हैं अतः तुम मुझे पृथ्वी का यह कौन सा प्रभाव है इसका वर्णन सुनाओ।'

संजय उत्क्रांति की कथा कहता है। प्राणी दो प्रकार के होते हैं, स्थावर और जंगम। जंगम प्राणी तीन प्रकार के होते हैं : अंडे से पैदा होनेवाले, प्रस्वेद में से पैदा होनेवाले और जरायु (गर्भ) से उत्पन्न होनेवाले। इन जंगम जीवों में जरायुज—जरायु से जन्मनेवाले श्रेष्ठ हैं। इनमें सिंह, बाघ, वराह, पडवा, हाथी, रीछ और बन्दर ये सात अरण्यवासी हैं जबकि मनुष्य, गाय, बकरी, भेंड़, घोड़ा, खच्चर और गधा ये सात ग्रामवासी हैं। इन चौदह में पाँच स्थावर भूत

अर्थात् तृण या वनस्पति मिला दें तो उन्नीस हो जायेंगे। इनमें आकाश, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु पंच महाभूत मिला दें तो चौबीस हो जायेंगे। चौबीस वर्ण की गायत्री की भाँति यह चौबीस भूतोंवाली पृथ्वी भी गायत्री है :

भूमौ च जयते सर्वम् भूमौ सर्वं विनश्यति,
भूमिः प्रतिष्ठा भूतानाम् भूमिरेव सनातनम्।

(भीष्म० ४; २०)

भूमि में से सब पैदा होते हैं; भूमि में ही सब विनष्ट होते हैं, भूमि ही सब भूतों की, जीवों की प्रतिष्ठा करती है, भूमि ही नित्य है।

इस नित्य भूमि के लिए अनित्य जीव हमेशा संहार की प्रयोजना करते रहते हैं, इसी बात पर संजय जोर देता है। भूमि का, भूमि पर स्थित पर्वतों, नदियों आदि का वर्णन संजय से सुनकर धृतराष्ट्र कहते हैं : अब इनमें से जिस भारतवर्ष में दुर्योधन का मन लुभा है, पाण्डवों का मन लुभा है और मेरा मन लुभा है उस भारतवर्ष का तुम विस्तार से वर्णन करो।

धृतराष्ट्र के ये शब्द सुनकर, जिसे अब ज्ञान-चक्षु प्राप्त हुए हैं ऐसा संजय सबसे पहले तो यह उत्तर देता है :

न तत्र पांडवा गृद्धा; शृणु राजन् वचो मम,
गृद्धो दुर्योधनस्तत्र शकुनिश्चापि सौबलः।

(भीष्म. ९; ३)

राजन्, आप मेरी बात सुनें, पांडवों का मन उसमें लुभा नहीं है। केवल दुर्योधन और सुबलराज के पुत्र शकुनि, इन दो का मन इसमें लुभा हुआ है।

संजय यह स्पष्टीकरण देने के बाद ही भारतवर्ष का वर्णन करता है। इसमें भी भरतखंड में रहनेवाली आर्य, म्लेच्छ तथा संकर जातियाँ जिन नदियों का जल पीती है उनकी बाईस श्लोकों में दी गयी सूची मनोरम है। भारतवर्ष के शहरों और प्रदेशों के नामों की सूची भी इतनी ही आकर्षक है।

व्यास की कथा कहने की शैली नाट्यात्मक है। यह सब कहने के बाद अचानक तेरहवें अध्याय का आरम्भ होता है तब भूत भविष्य की जानकारी रखनेवाला प्रत्यक्षदर्शी संजय आकर कहता है :

हतो भीष्मः शान्तनवो भरतानां पितामहः ।

(भीष्म. १३; ३)

हे महाराज, भरतवंश के पितामह, शांतनु के पुत्र, भीष्म मारे गये ।

स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः,
तव दुर्मन्त्रिते राजन् यथा नार्हःस भारत ।

(भीष्म. १३; १३)

(परशुराम जैसे को जिन्होंने हँफा डाला था और दस दिन में जिन्होंने दस अर्बुद सैनिक मार डाले थे) वह भीष्म आज तुम्हारी कुमंत्रणा के कारण पवन से टूट गये वृक्ष की भाँति भूमि पर पड़े हैं। वे कभी ऐसी स्थिति के योग्य नहीं थे, तथापि ।

इस तरह अचानक संजय दस दिन आगे निकल जाता है और फिर दस दिनों के बीच क्या हुआ इतनी बात पश्चात् कथन की शैली में कहता है ।

भीष्म मारे गये, शरशय्या पर पड़े हैं, यह बात धृतराष्ट्र को विचलित कर डालती है। भीष्म कैसे मारे गये यह बात वह जानना चाहते हैं। संजय क्रम से सब बात कहता है। इसमें दो महत्त्वपूर्ण बातें आती हैं। युधिष्ठिर कौरवों की भीष्म-द्रोण आदि के नेतृत्व से सुसज्जित सेना देखकर विषाद का अनुभव करता है। तब अर्जुन उससे कहता है : 'यतः कृष्णस्ततो जयः' नारद द्वारा कथित यह वाक्य आप भूल गये क्या ? आगे वह कहता है :

गुणभूतो जयः कृष्णे पृष्ठतोऽभ्येति माधवम्,
तद्यथा विजयश्चास्य संनतिश्चापरो गुणः ।

(भीष्म. २१; १३)

जय, यह कृष्ण का गुण है। माधव जहाँ होंगे वहाँ यह उनके पीछे-पीछे आती है। पुनः विजय जैसे कृष्ण का गुण है वैसे ही संनति (सत् के प्रति गति) यह उनका दूसरा गुण है ।

युधिष्ठिर को इस प्रकार आश्वस्त करने के बाद जब दोनों सेनाएँ अपने-अपने व्यूह के अनुसार संगठित हुई हैं, तब कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, तुम रथ से नीचे उतर कर दुर्गास्तोत्र का पाठ करो। रथ से नीचे उतर कर कृतांजली—हाथ जोड़ कर अर्जुन इस स्तोत्र का पाठ करता

है। प्रत्येक पुराण में इस प्रकार के स्तोत्र मिलते हैं। इन स्तोत्रों की महिमा बाद में स्थापित हुई है। महाभारत में ऐसे स्तोत्र बहुत कम हैं और उनमें से यह एक स्तोत्र है। भीष्म पर्व के तेरह श्लोकों में यह स्तोत्र आता है। यह स्तोत्र पूरा होते ही देवी प्रगट होकर अर्जुन से कहती हैं।

स्वल्पेनैव तु कालेन शत्रून् जेष्यसि पाण्डव,
नरस्त्वमसि दुर्धर्ष नारायण सहायवान्।

(भीष्म. २३; १८)

हे पाण्डव ! स्वल्प काल में ही तू शत्रुओं को जीतेगा। कारण यह कि एक तो तू दुर्धर्ष पुरुष है—और फिर इसमें नारायण की सहायता है।

महाभारतकार यह 'नारायण सहायवान्' की बात बारम्बार रटते हैं। अर्जुन दुर्धर्ष है इसलिए नहीं बल्कि नारायण उसकी सहायता करते हैं, इसलिए वह शत्रुओं को जीत सकेगा।

संजय दिव्य दृष्टि से यह सब देखता है और वर्णन करता है। और फिर इन सब बातों के अन्त में वह जिस निष्कर्ष पर पहुँचा है वह धृतराष्ट्र के सामने रखता हैं :

यत्र धर्मो श्रुतिः कान्तिर्यत्र ह्रीः श्रीस्तथा मतिः,
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।

(भीष्म. २३; २८)

जहाँ धर्म है वहाँ ही द्युति और कान्ति है; जहाँ लज्जा है वहाँ ही श्री और बुद्धि है। जहाँ धर्म है वहाँ कृष्ण हैं, और जहाँ कृष्ण हैं वहाँ ही जय है।

संजय का यह वाक्य यत्र-तत्र सर्वत्र उद्घोषित होते रहनेवाला सर्वाधिक महत्त्व का है।

पर धृतराष्ट्र है जिसका नाम ! वह इस वाक्य को निगल जाता है। यह सम्पूर्ण वाक्य ऐसा है जो शायद ही कोई निगल सके। यह सुनने के बाद आदमी मूढ़ हो जाता है। पर धृतराष्ट्र जिसने भीष्म मारे गये हैं यह जान लिया है इसके बावजूद हारा जुआरी हारी हुई बाजी पुनः जीतने के लिए जैसे खेलता जाता है उसी भाव से प्रश्न

पूछता है : किसने पहला प्रहार किया ? किस पक्ष के योद्धा अधिक उत्साह में थे ? किस पक्ष के योद्धाओं की मालायें ताजी और सुगन्धित थीं ?

संजय इनका भी समुचित उत्तर देता है। पर अपने युद्ध-उत्सुक पुत्रों की युद्ध में क्या गति हुई यह जानने के लिए उत्सुक धृतराष्ट्र भीष्म पर्व के १५वें अध्याय में यह प्रश्न पूछते हैं :

धर्मक्षेत्रें कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः,
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।

(भीष्म. २५; १)

श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से देश तथा परदेश में सुविख्यात ग्रन्थ अब आगे के अठ्ठारह अध्यायों में विस्तार पाता है। 'गीता का बोध' यह कृष्ण के मुख से प्रगटे शाश्वती में मढ़े वचन हैं। तथापि गीता का आरम्भ किससे होता है ? धृतराष्ट्र के प्रश्न से !

गीत, गंगा, गायत्री और गोविन्द इन चार 'ग' कारों का अनुशीलन करनेवाले का पुनर्जन्म नहीं होता। इस गीता में कृष्ण ने ६२० श्लोक कहे हैं। अर्जुन के मुख में ७५ श्लोक रक्खे गये हैं। धृतराष्ट्र के मुख में केवल ४ श्लोक रक्खे गये हैं। पर इन श्लोकों से गीता आरम्भ होती है।

गीता की बाबत हमारे यहाँ अनेक भाष्य हुए हैं। हमारे महान् आचार्यो ने इसकी बाबत विस्तार से चर्चा की है। गीता के प्रथम अध्याय और दूसरे अध्याय के पहले ग्यारह श्लोकों को बहुत से लोग गीता की प्रस्तावना मानते हैं। शंकराचार्य आदि आचार्यों के भाष्य इसके बाद के ही श्लोकों पर लिखे गये हैं।

गीता का आरम्भ स्वार्थ के एक प्रश्न से होता है : 'मामकाः' शब्द की बाबत बहुत कुछ लिखा जा चुका है। धृतराष्ट्र को अपने पुत्रों और पाण्डवों के बीच क्या हुआ यह जानना है। धृतराष्ट्र यह प्रश्न पूछते हैं तब युद्ध के दस दिन बीत चुके हैं। 'फ्लैश-बैक' से अब सारी बात कही जा रही है। संजय जब समूची परिस्थिति का वर्णन करता है, तब दस दिवस में दस अर्बुद सेना का भीष्म नाश कर चुके हैं। यह जान लेने के बाद भी उन्हें 'मामकाः' के पराक्रम की बाबत, उनकी विजय की ऐषणा की बाबत प्रतीक्षा है।

स्वार्थ के इस प्रश्न के समक्ष अर्जुन का विषाद योग तौलने लायक है। धृतराष्ट्र को केवल अपना पक्ष 'मामकाः' लगता है; सामने के पक्ष में तो पाण्डव हैं। जबकि अर्जुन को तो अपने पक्ष में और सामने के पक्ष में केवल अपने ही बन्धुजन दिखायी देते हैं :

तत्रापश्यस्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्,
आचार्यान्मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा,
श्वसुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि,
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बिन्धूनवस्थितान्।

(भीष्म. २५; २६-२७)

अर्जुन उभय सेना में अपने काका, दादा, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वसुर आदि देख रहा है।

अर्जुन उभय सेना में 'मामकाः' देखता है। इसी से धृतराष्ट्र के प्रश्न में स्वार्थ है; अर्जुन के प्रश्न में स्वार्थ से परे उपजा विषाद है। यह वही अर्जुन है, जिसने अभी कुछ ही समय पूर्व युधिष्ठिर को आश्वासन दिया था कि जहाँ कृष्ण हैं वहाँ जय है। और अब इतने सारे विषाद योगों के बाद अर्जुन का विषाद योग आरम्भ होता है। अर्जुन का यह विषाद और उसके उत्तर में क्षुद्र-हृदय दौर्बल्य को त्याग कर खड़े होने के कृष्ण के आदेश के बावजूद अर्जुन 'न योत्स्ये' (मैं युद्ध नहीं करूँगा) ऐसा कहकर चुप हो जाता है तब प्रहसन्निव (हँसते-हँसते) हृषीकेश अपना कथन आरम्भ करते हैं। इस दसवें श्लोक से गीता का आरम्भ होता है। इस दसवें श्लोक से ही शांकरभाष्य का आरम्भ होता है।

उभय सेना के बीच विषादग्रस्त अर्जुन, 'युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहकर खड़ा रह गया है और मन्द-मन्द हँसते भगवान् श्रीकृष्ण उसे गीता सुनाना प्रारम्भ करते हैं।

१५. गीता-आत्मा को जानने का ज्ञान

भगवान् गीता प्रवचन आरम्भ करते हैं तो उनके प्रथम शब्द ये हैं :

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे,
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः।
(भीष्म. २६; ११ गीता. २; ११)

कृष्ण और अर्जुन का सम्बन्ध सखा का है। अर्जुन नर है और कृष्ण नारायण हैं। पर कृष्ण कभी भी तारस्वर में नहीं बोलते। वे अर्जुन में हीनता की भावना आ जाय इस ढंग से बोलने के बदले अर्जुन को मित्र मानकर मित्र के साथ ही हो सके ऐसे विनोद के साथ गीता का आरम्भ करते हैं।

'जो अशोच्य है उसका तूँ (अर्जुन) शोक करता है; और बातें पण्डितों जैसी करता है। जो मर गये हैं और जो जीते हैं उनके लिए पण्डित शोक नहीं करते!'

इस विनोद द्वारा कृष्ण अर्जुन के अहंकार पर आघात करते हैं; विनम्रता का जैसे अहंकार होता है, वैसे ही मानवता का भी अहंकार होता है। धर्म का या धर्मज्ञ होने का भी अहंकार होता है। यह अहंकार सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। अधर्मी का दुर्योधन का अहंकार तो प्रगट है, अतः वह तत्काल परखा जा सकता है। कदाचित् वह दुर्योधन को धोखा दे सकता है, पर दूसरों को नहीं। पर अर्जुन, यहाँ रणक्षेत्र में जब शस्त्र उठाने का क्षण आया तब मानो स्वयं धर्मज्ञ हो इस प्रकार बन्धुजनों और गुरुजनों पर शस्त्र उठाने में विषाद का अनुभव करता है। इस विषाद में अनजाने भी अर्जुन का अहम् प्रगट होता है; कृष्ण सर्वप्रथम उसे खण्डित करते हैं और कहते हैं कि तू जिनके लिए शोक करता है वे तो 'अशोच्य' हैं—शोक न करने योग्य हैं। शंकराचार्य कहते हैं, 'संसार बीजभूतौ शोकमोहौ'—शोक और मोह दोनों संसार के बीजस्वरूप है। अर्जुन इस संसार से विलग नहीं है। वह शोक तथा मोह दोनों से ग्रस्त है। अतः जिस समग्र परिस्थिति के प्रति विषाद व्यक्त करता है वह 'अशोच्य' है। भीष्म आदि गुरुजनों या बन्धुजनों की मृत्यु का स्वयं कारण नहीं, निमित्त हैं यह ज्ञान अभी अर्जुन में उदित नहीं हुआ है। इसीसे कृष्ण उसका उपालम्भ करते हुए कहते हैं: बात अज्ञानी जैसी करता है, पर भाषा पंडितों की इस्तेमाल करता है। पर पंडित माने ? 'आत्म विषय की बुद्धि' का नाम 'पंडा', और यह बुद्धि जिसमें हो वह 'पंडित'। जिसमें आत्मज्ञानी जैसी बुद्धि

हो, वह समग्र परिस्थिति पर इस प्रकार शोक नहीं करेगा, अस्तु अर्जुन के अज्ञान पर हल्के से उपहास के साथ कृष्ण गीता का आरम्भ करते हैं।

गीता के दूसरे अध्याय में कृष्ण अर्जुन के समक्ष दो विचारधाराएँ रखते हैं : एक सांख्यज्ञान की है, तो दूसरी योग की—कर्मयोग की है।

प्रथम तो वे विगत, सांप्रत और अनागत अज्ञान को दूर करते हैं, फिर जैसे देह को कौमार्य, यौवन या जरा प्राप्त होते हैं वैसे ही 'देहान्तर प्राप्ति' (दूसरे देह की प्राप्ति) होती है; मृत्यु को भगवान् ने 'देहान्तर प्राप्ति' कहकर उसका भय घटा दिया है; इसी से जो कुछ भी अनित्य है, उससे भागने का नहीं पर 'तान् तितिक्षस्व' उसे सहन करने को भगवान् कहते हैं :

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः

(गीता २; १६)

असत् का भाव (अस्तित्व) न हो और सत् का अभाव न हो, यह ज्ञान यदि हो जाय तो ही वह तितिक्षा प्रगट होती है।

यहाँ कृष्ण अनित्य देह-भाव और नित्य आत्मभाव की प्रतिष्ठा करते हैं, और यह समझाकर, आज्ञा रूप में नहीं, पर इस ज्ञान की समझ के फलस्वरूप 'तस्मात् युध्यस्व' इसलिये तू युद्ध कर।

कृष्ण ने यों भी 'युद्धस्व' इतनी ही आज्ञा दी होती तो अर्जुन उसका अनादर न करता। पर अर्जुन धर्मयुद्ध में निष्काम भाव से प्रवृत्त हो ऐसी कृष्ण की इच्छा थी। कौरव पक्ष से कोई भी जी लगाकर नहीं लड़ा, इसके पीछे वैर, मोह, विषाद आदि अनेक लगाव हैं। अर्जुन भी युद्ध में नहीं, भगवान् में मन स्थिर करके लड़े ऐसी कृष्ण की इच्छा है। अर्जुन को वे 'युद्ध करो' ऐसी आज्ञा नहीं देते पर यह शोक मिथ्या है अतः युद्ध करना चाहिये ऐसी प्रतीति अर्जुन के हृदय में स्थापित करना चाहते हैं।

अतः पहले तो वे आत्मा का नित्यत्व और अविनाशीपन अर्जुन को समझाते हैं; फिर आदमी के कर्म में कर्ता यदि आत्मा हो तो आदमी का अहम् कहाँ व्यवधान बनता है यह समझाते हैं। आत्मा के लिये 'नायं हन्ति न हन्यते' (गीता २;१९) वह मारता नहीं न मारा जाता

है ऐसा कथन करके वे मरने और मारे जाने के भाव में विद्यमान आभास स्पष्ट करते हैं।

तो भी मान लें कि अर्जुन के मन में आत्मा का अविनाशीपन स्थापित नहीं होता; तब वह मारने या मरने के लिये शोक करे क्या? कृष्ण तत्काल ही कहते हैं :

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

(गीता २;२७)

जो पैदा होता है उसकी मृत्यु निश्चित है, जो मरता है उसका जन्म निश्चित है : तो यह सारी बात 'अपरिहार्य' है, इसमें कोई इलाज या उपाय नहीं चलेगा। तो फिर इसका शोक किस लिये? यह शोक जो पहले था और दिखता नहीं था, इस समय है और दिखता है और आगे होगा फिर भी नहीं दिखेगा इसके लिये है?

अब समूचे प्रश्न को कृष्ण धर्म की दृष्टि से देखते हैं : अर्जुन क्षत्रिय है। क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध से बढ़कर बड़ा 'श्रेय' दूसरा कोई नहीं है, ऐसे धर्मयुद्ध को आमंत्रित नहीं करना पड़ता, अपने आप आवे तब स्वीकार कर लेना होता है। ऐसे धर्मयुद्ध का अनादर अधर्म है—यही अपकीर्ति है। यह कहकर कृष्ण अब आदमी में विद्यमान अहम् की दृष्टि से भी यह शोक अकारण है, ऐसा सूचित करते हुए कहते हैं :

अकीर्ति चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्,
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।

(गीता २;३४)

यदि अर्जुन इस धर्मयुद्ध से पीछे हटता है तो कोई यह नहीं मानेगा कि अर्जुन में मानव अनुकम्पा छलक पड़ी थी; सभी इसे अर्जुन की भीरुता ही मानेंगे, अतः अव्ययाम्—दीर्घ समय तक सब लोग उसकी अपकीर्ति गाते रहेंगे। और यहाँ भगवान् अर्जुन के अहम् पर ही चोट नहीं करते—वे प्रतिष्ठित मानवतावादी पुरुष के लिये जीवन क्रम स्पष्ट कर देते हैं। प्रतिष्ठित के लिये अकीर्ति मौत से भी ज्यादा खराब है। अतः यह कहकर कृष्ण अर्जुन के आगे दो शक्यताएँ रखते हैं : युद्ध करने पर तो ज्यादा से ज्यादा मृत्यु प्राप्त होती है। (यह सुनते ही अर्जुन का क्षात्रियत्व ललकार उठता है कि क्या मैं मृत्यु से

डरता हूँ ?) पर वह युद्ध नहीं करेगा तो अकीर्ति मिलेगी जो मृत्यु से भी ज्यादा भयंकर है । अतः तेरे लिये तो लड़ना ही उत्तम है ।

अब तक कृष्ण ने अविनाशीपन की (ईश्वर भी अपना विनाश करने में समर्थ नहीं है ऐसी नित्यता की) बात की; पर यह ज्ञान की भूमिका की बात हुई; अर्जुन को युद्ध करना है, यह कर्म है । अतः वे कर्मयोग समझाते हैं : कर्मयोग में साधक की बुद्धि व्यवसायात्मिका (निश्चयवाली) होती है और अव्यवसायिनाम्—निश्चय बिना की बुद्धियाँ बहुशाखाः (विविध प्रकार की) और अनंताः (आरपार-विहीन) होती हैं । सभी वेद तीनों गुणों के कार्यरूप संसार को ही प्रकाशित करनेवाले हैं : पर अर्जुन तू तो—निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' तीनों गुणों से विहीन हो । आगे वे उससे कहते हैं :

निर्द्वंदो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।

(गीता २; ४५)

तू निर्द्वंद्व हो; तू नित्य सत्त्व के अंदर स्थिर रहनेवाला बन, योग-क्षेम की चिंता बिना का हो और आत्मवान्—आत्मपरायण बन ।

अर्जुन से इस एक श्लोक में जो कुछ कहा गया है, और वह आगे जिस पर गीता में विस्तार किया गया है इसी की बाबत है । इस दृष्टि से त्रिगुण से परे, द्वंद्वरहित, नित्य सत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम तथा आत्मवान् होने का यह उपदेश शायद सर्वाधिक महत्त्व का है । गीता इसके आगे इसी उपदेश को अधिक घोंटती है ।

इतना यदि आदमी कर सके तो वह जान सकता है कि कर्म करना उसका अधिकार है : फल की अभिलाषा रखना नहीं । इस प्रचलित चरण से अधिक मर्म इसके बाद के कम प्रचलित चरण में है :

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि ।

(गीता २; ४७)

कर्मफल हेतु—कर्मफल की इच्छावाला तू न हो; पर साथ ही अकर्म में तेरी प्रीति न होवे; कर्म पर अधिकार की बात भगवान् करते हैं; अकर्म की नहीं । इसीसे आगे 'योगस्थः कुरु कर्माणि' (योग में स्थिर रहकर कर्म कर) और 'योगः कर्मसु कौशलम्' (योग कर्मों में कुशलता है), ऐसा कहते हैं ।

योग शब्द कृष्ण दो अर्थों में इस्तेमाल करते हैं। वह जब कहते हैं कि 'तस्मात् योगाय युज्यस्व' (इसलिये तू योग से जुड़ जा) तब योग का अर्थ कर्म होता है : और जब 'योगः कर्मसु कौशलम्' कहते हैं तब योग माने हैं प्रभुपरायणता, प्रभु के साथ योग' ऐसा अर्थ अभिप्रेत है। योग शब्द युज् धातु से बना है। युज् माने जुड़ना। आदमी कर्म में जुड़े इसके साथ ही भगवान् के साथ जुड़े इसी का नाम है योग।

कृष्ण निर्वेद से निश्चल बुद्धि और अचल समाधि में स्थिर होने वाले प्रज्ञ की चर्चा करते हैं। तब अर्जुन इस स्थितप्रज्ञ की बाबत प्रश्न करने को प्रेरित होता है, और कृष्ण स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का वर्णन करते हैं। इन लक्षणों के वर्णन में 'आपूर्यमाण' के बावजूद 'अचल प्रतिष्ठ' समुद्र जैसा वासनाएँ जिसमें प्रवेश करती हैं फिर भी शांति प्राप्त करता है ऐसे—स्थितप्रज्ञ तक बात जा पहुँचती है। ऐसी ब्राह्मी स्थिति की बात आती है तब अर्जुन अचानक सशंक होकर पूछ बैठता है : यदि कर्म की अपेक्षा ज्ञान बड़ा है तो आप मुझे इस घोर कर्म में क्यों फँसा रहे हैं ? कृष्ण ने प्रारंभ में उस पर जो उपालंभ किया था उसी का अर्जुन सखा भाव से उत्तर देता है। अर्जुन शिष्यभाव से उत्तर देता है, तथापि शिष्यभाव से इसका समाधान भी माँगता है; इसके उत्तर में कृष्ण कहते हैं :

> लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ,
> ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।
>
> (गीता ३; ३)

यहाँ कृष्ण पहली बार अपने योगेश्वरत्व का—स्वयं सृष्टा हैं, ईश्वर हैं इस परिस्थिति का उच्चारण करते हैं, वह भी एक ही शब्द द्वारा। यह शब्द है—'पुरा'। अर्थात् इससे पहले भी मैंने यह ज्ञान, ये निष्ठाएँ प्रगट की थीं। अर्जुन से कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में कृष्ण जो कहते हैं वह उन्होंने पहली बार नहीं कहा है, स्वयं सर्वज्ञ ईश्वर के रूप में पहले भी यह सचाई बता चुके हैं। लोगों में दो प्रकार की निष्ठा की बात भगवान् पहले कह चुके हैं, एक है ज्ञानयोग द्वारा ज्ञानियों की निष्ठा और कर्मयोग द्वारा योगियों की निष्ठा।

और ज्ञान भी तो कर्म के मार्ग से होकर ही प्राप्त होता है, और कर्म को ज्ञान के मार्ग से जाना जाता है। कर्म किये बिना क्या कोई रह सकता है? जो मूढ़-बुद्धि अपनी इन्द्रियों का दमन करके मन के द्वारा उसका स्मरण करता है वह तो 'मिथ्याचार' करता है। इसीसे 'अकर्मण' होने के बदले 'कर्म' अधिक श्रेयस्कर है।

ज्ञान के मार्ग पर निष्काम कर्म और निष्काम कर्म के मार्ग से ज्ञान; इन दोनों में प्रथम स्थान किसका है? मुरगी से पहले अंडा कि अंडे से पहले मुरगी, इसी के जैसा सवाल है। पृथ्वी पर मानव देह ने जन्म लिया अतः कर्म का बन्धन तो आया ही। साँस लेनी पड़ती है और छोड़नी पड़ती है यह भी अपने आप होती एक क्रिया है और इसी के कारण हम हैं। इसीसे कर्म का स्थान भगवान् बहुत ऊँचा रखते हैं:

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।

(गीता ३; १५)

कर्म ब्रह्म में से प्रगट हुआ है: ब्रह्म अक्षर में से, अर्थात् जिसका लय नहीं है ऐसे परमात्मा में से प्रगट होता है। कर्म की महिमा है: कर्म न करना यह असम्भव है, कर्म किस अभिगम से करना इसका ज्ञान जरूरी है: सांख्ययोग ज्ञान का मार्ग चयन करता है। अन्त में दोनों एक ही हैं।

ज्ञान का मार्ग हर कोई एक झटके में सीख नहीं सकता, और कर्मयोग भी कोई आसान नहीं है। तब यह कर्मयोग सामान्य मानव कैसे सीखता है?

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः

(गीता ३; २१)

श्रेष्ठ—समाज के उत्तम जन जैसा आचरण करते हैं, उनका अनुसरण इतरजन करते हैं।

समाज के श्रेष्ठ पुरुष भ्रष्ट हों तो समाज भी भ्रष्ट बनता है। पर ये श्रेष्ठ पुरुष हैं कौन? भगवान् समाज के अग्रपुरुषों का उल्लेख नहीं करते, ऐसे तो भीष्म-द्रोण भी समाज में अग्रस्थान पर थे; आधुनिक जगत् की बात करें तो हिटलर-मुसोलिनी भी अग्रस्थान पर थे। ऐसे

लोग—जो श्रेष्ठ न हों और अग्रणी बनें तो वे अपने कर्म द्वारा गलत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। समाज कभी-कभी अत्यन्त उच्च अवस्था को पहुँच जाता है। बहुत बार निम्न स्तर पर उतर जाता है। इस सबका आधार समाज का अग्रणी कौन है, समाज में श्रेष्ठ कौन गिना जाता है और समाज में जो श्रेष्ठ गिना जाता है वह वास्तव में श्रेष्ठ है कि नहीं इस पर रहता है। इसीसे कृष्ण जब इस श्रेष्ठ का उदाहरण देना चाहते हैं तब वे अपना ही उदाहरण देते हैं। भगवान् से अधिक श्रेष्ठ कौन हो सकता है?

न मे पर्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन,
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।
(गीता ३; २२)

'भगवान् को इन तीन लोकों में कोई कर्तव्य करने की क्या जरूरत है? ऐसा उन्हें क्या सिद्ध करना है जो उन्हें सिद्ध नहीं है? फिर भी 'मैं' कर्म का अनुवर्तन करता हूँ, कर्म करता हूँ'। कारण कि वह देह-धारी है। और समाज में लोगों के समक्ष कर्ममार्ग का उदाहरण प्रस्तुत करने हेतु वह कार्य करता है।

कृष्ण के समग्र जीवन और साथ ही समग्र कर्म का अवलोकन करने के लिये उन्होंने गीता का यह श्लोक कसौटी के रूप में रक्खा है। कृष्ण जानते थे कि संधि-वार्ता निष्फल होनेवाली है: फिर भी वे किसलिये संधि-वार्ता के लिये गये? वे चाहते तो जैसे सुदर्शन चक्र द्वारा भरी सभा में शिशुपाल का मस्तक काट लिया था वैसे ही कौरव वीरों को निमिष मात्र में मार सकते थे। फिर भी वे 'अयुध्यमान' क्यों रहते हैं? जरासंध के साथ स्वयं युद्ध करते तो शायद जरासंध के साथ द्वंद्व इतने दिनों तक न चलता। फिर भी वे जरासंध को ही क्यों अपना प्रतिस्पर्धी पसन्द करने देते हैं? वे क्यों विदुर की सेवा करते हैं और कर्ण को तपाते हैं?

कृष्ण के समग्र जीवन को इस एक श्लोक की कसौटी पर रखकर किसी पण्डित या किसी मर्मज्ञ को जाँच कर देखना चाहिए।

कृष्ण भी कर्म करते हैं: अर्जुन भी कर्म करता है और दुर्योधन भी कर्म करता है, तो फिर अन्तर कहाँ पड़ता?

कर्म तो प्रकृति के गुण द्वारा होते हैं; फिर भी—

अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।

(गीता ३; २७)

अहंकार से विमूढ़ है जिसकी आत्मा, वह स्वयं ही कर्ता है ऐसा मान लेता है ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणागुणेषुवर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।

(गीता ३; २८)

हे महाबाहो, जो तत्त्व का जानकार है वह गुण और कर्म के विभाग को जानता है; गुण ही गुण में वर्तन करता है यह सच्चाई जानता है अतएव वह आसक्त नहीं होता ।

प्रकृति के तीन गुण हैं : प्रकृति 'अष्टधा' है । (गीता के सातवें अध्याय के चौथे श्लोक के अनुसार प्रकृति के इन आठ अंशों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन बुद्धि और अहंकार का समावेश होता है) अष्टधा प्रकृति और त्रिगुण—इसका अर्थ हुआ चौबीस गुण विभाग । इन गुण विभागों को—गुण और गुण में अनुवर्तन करते गुण को—जो जानता है वही अनासक्त हो सकता है ।

यहाँ पुनः एक बार सांख्य और योग का सतही दृष्टि से दिखता संघर्ष भी मूलभूत दृष्टि से देखने पर फलित होता संवाद दिखता है । यह गुणविभाग का ज्ञान सांख्व का विषय है । पर यह ज्ञान कर्म द्वारा ही मिल सकता है अतः यह योग का विषय है ।

इन तमाम अटपटे खेलों में आदमी कैसे शामिल हो सकता है ? किसी शंकर जैसे का दीदा हो तो वह अष्टधा प्रकृति और त्रिगुण की चतुर्विशत्, लीला को अनासक्त होकर देख सकता है । पर सामान्य आदमी का क्या ? कृष्ण तुरत ही उसकी मदद के लिये दौड़ पड़ते हैं :

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्म चेतसा,
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।

(गीता ३; ३०)

अध्यात्म चेतना से मुझमें सब कर्मों का संन्यास करके, अर्थात् सभी कर्मों को मेरे अर्पण करके तू निराश—अर्थात् आशारहित, निर्मम हो और ज्वररहित होकर युद्ध कर ।

संन्यास माने समर्पण। जो कोई भी अपना सब कुछ प्रभु को समर्पित कर सकता है वही संन्यासी है। संन्यास का सम्बन्ध भगवा-वस्त्र के साथ नहीं है। सभी कर्मों का संन्यास करने का अर्थ सभी कर्मों का त्याग नहीं—पर ये कर्म प्रभु को समर्पित करने हैं। कोई भी कर्म करते समय 'यह कृष्ण को अर्पित करना है' इतनी वास्तविकता की स्मृति रहे तो खोटा कर्म होवे ही नहीं।

सांख्य का मार्ग कठिन है: कर्मयोग भी आसान नहीं है। संन्यास सांख्य में त्याग के अर्थ में प्रयुक्त होता है, कर्मयोग में समर्पण भावना के अथं में। सांख्य मे कर्म का त्याग नहीं है। पर कर्म की बाबत मिथ्यापन समझ में आ जाने के कारण जो कोई भी कर्म होता है वह सहज भाव से, प्रभुप्रोत्यर्थे ही होता रहता हैं। योग में 'आध्यात्म-चेतसा' ध्याननिष्ठ चित्त से सभी कर्म प्रभु को समर्पित करने हेतु होते हैं।

कृष्ण जब सभी कर्म अपने को समर्पित करने को कहते हैं, तब वे देहधारी होने के कारण किसी को शायद—अर्जुन को भी शंका हो सकती है। पर ज्वर का त्याग करके, किसी आशा या ममता बिना युद्ध करने के लिये अर्जुन से कहने के बाद कृष्ण तुरत ही चेताते हैं कि ऐसा केवल 'श्रद्धावन्त' ही कर सकता है' 'अनसूयन्तः'—अर्थात् शंका-युक्त गानव यह नहीं कर सकता। और अन्यत्र कहा है तदनुसार संशयात्मा का तो नाश ही होता है। (गीता ४; ४०)

प्रकृतिवश कर्मों में विग्रह भी काम नहीं आता, इसीसे मानव के कल्याणमार्ग के दो महान् शत्रुओं—परिपन्थिनौ-ऐसे राग और द्वेष से बचने के लिये कृष्ण कहते हैं।

साथ ही वे स्वधर्म और परधर्म की निष्ठा की बात करते हैं: स्वधर्म में मृत्यु इष्ट है। 'परधर्म भयावह है' यह प्रसिद्ध उक्ति भी इस संदर्भ में ही है। यहाँ धर्म माने कोई सम्प्रदाय नहीं, पर आदमी अपने आसपास के समाज को जिस शक्ति से धारण करता है वह शक्ति। यह शक्ति स्वधर्म में ही मिल सकती है, जहाँ जड़ें गहरी होंगी, वहाँ ही ऊँचा वृक्ष हो सकता है, वृक्ष पर से तोड़ी सुगंधी पुष्प की डाली की अपेक्षा चर्मरंगा के फूल का निर्गंध वृक्ष अच्छा, कारण यह कि वह

जीवंत है। डाल-मूल से विमुख होकर यद्यपि प्रथम दृष्टि में आकर्षक लगती है तो भी अंत में तो सूख कर नष्ट हो जाती है।

अर्जुन को यहाँ संशय होता है, मानो शक्ति से नियोजित हुआ हो इस प्रकार मनुष्य पापकर्म में कैसे प्रवृत्त हो जाता है ?

कृष्ण ने गीता में जो बात बाद में विस्तार से कही उसमें की बहुत सी इस क्षण तक आ चुकी हैं, फिर भी वे अर्जुन को अभी युद्ध के लिये आज्ञा नहीं देते। वे यह ज्ञान उसके अंतर में सहज रूप से प्रतिष्ठित हो जाय यह चाहते हैं। इसीसे संशय प्रश्नों को उठने भी देते हैं, संशय प्रश्नों का निराकरण भी करते हैं।

ज्ञान काम द्वारा ढँका हुआ है—अतः इन्द्रियों को वश में करना पहला कदम है। ऐसा हो तो पाप स्वयं ही मर जाता है। और—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः,
मनसस्तु पुरा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।

(गीता ३; ४२)

इन्द्रियों को पर—उत्तम कहते हैं, उनसे श्रेष्ठ है मन, मन से श्रेष्ठ है बुद्धि और बुद्धि से भी पर है यह।

यहाँ 'सः'—इस शब्द द्वारा आत्मा का वर्णन करने में उसकी श्रेष्ठता शब्दातीत है यह बात भी कृष्ण को कहनी है। जिसने इस आत्मा को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया। इस आत्मा को जानने का ज्ञान यही तो शायद गीता है।

१६. गीता-उपनिषद्

गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में शास्त्रों में प्रकरण समाप्ति के लिए आयोजित शब्द-समूह की रूढि में एक शब्द-समूह आता है। इसमें प्रत्येक अध्याय जिसमें समाविष्ट है उस श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के चार अंशों पर बल दिया गया है।

इस समूह का प्रथम शब्द है : 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु' इसमें गीता शब्द पर दो विशेषण लगाये गये हैं : एक तो ये कि यह भगवद्-गीता है, और फिर श्रीमद् है। अर्थात् 'श्री' के साथ है। 'श्री' और 'कल्याण' दोनों जिस गीता में आते हैं उस गीता-उपनिषद् में—ऐसा

अर्थ इसका होता है। उपनिषद् का अर्थ है—'·······के पास बैठना····' यानी यहाँ गीता के पास बैठने की बात होती है। गीतारूपी उपनिषद् कहने के साथ ही गीता को गुरु का आसन दे दिया गया है।

दूसरा शब्द है : 'ब्रह्मविद्यायां'। गीता को ब्रह्मविद्या कहा है। ब्रह्मविद्या सर्वोच्च ज्ञान है। यह ज्ञान केवल ब्राह्मण को ही दिया जा सकता है। यहाँ ब्राह्मण वर्णसूचक शब्द नहीं है, ब्राह्मण जाति के साथ ब्रह्मविद्या के पात्र ब्राह्मण का कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्रह्मविद्या का जिज्ञासु सत्यकाम जाबालि जब अपने गुरु के पास ब्रह्मविद्या सीखने गया तब गुरु ने उसका गोत्र पूछा। दासी का पुत्र सत्यकाम तो इतना ही कहता है कि मेरी माता ने ऋषियों की परिचर्या करते हुए मुझे जन्म दिया है। जब सौ शिष्य शूद्र-सेविका के, पिता का नाम न जानने वाले पुत्र की हँसी उड़ा रहे थे तब गुरु ने कहा : 'तू ब्राह्मण है। तेरा सत्यकुल में जन्म हुआ है'। इसीसे ब्रह्मविद्या की पात्रता किसी जाति के कारण नहीं आती, पर सत्य की उपासना के कारण आती है। यह ब्रह्मविद्या, अर्थात् जिस ज्ञान को पाने के बाद दूसरा कुछ भी पाने को शेष नहीं रहता ऐसा परम ज्ञान।

तीसरा शब्द है : 'योगशास्त्रे'। ब्रह्म को विद्या नाम दिया, कारण यह कि वहाँ कुछ जानने की बात थी। योग को शास्त्र कहते हैं, कारण यह कि उसमें नियम की जरूरत है। इसीसे इन दोनों में द्विशक्ति नहीं हैं, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। ब्रह्मविद्या में जो है, वही योगशास्त्र में भी है। गीता में परम ज्ञान और परम योग दोनों का समत्व देखने का प्रयत्न हुआ है।

अन्तिम शब्द है : 'श्रीकृष्णार्जुन संवादे'। अर्थात् कृष्ण और अर्जुन के संवाद में। कृष्ण और अर्जुन के बीच हुआ यह संवाद अनेक प्रकार से महत्त्व का शब्द है। कृष्ण और अर्जुन—ये नारायण और नर के प्रतीक हैं। इन दीनों के बीच का यह संवाद कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर कितने हजार वर्ष पहले हुआ, इतना ही नहीं, यह संवाद आज भी चल रहा है। हम सबमें एक कृष्ण हैं जो मार्ग बताते हैं, एक अर्जुन है जो शंकाएँ उपस्थित करता है। जब शंकाएँ खड़ी करनेवाला अर्जुन कृष्ण को वाचाल बना सकता है तब गीता की रचना होती है।

तीसरे अध्याय में कृष्ण स्वयं अर्जुन को अपने ऐश्वर्य की प्रतीति 'पुरा' शब्द द्वारा कराते हैं, पहले यह ज्ञान मैंने कहा था, ऐसा कह कर ! चौथे अध्याय का आरम्भ ही कृष्ण इस 'पुरा' शब्द द्वारा अभिप्रेत रहस्य का उद्घाटन करके करते हैं।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

(गीता ४; १)

'अहम्'—मैंने यह अविनाशी योग विवस्वत—सूर्य—से कहा था। 'परम्परा प्राप्त योग कालक्रम में नष्ट हुआ' : यह 'उत्तम रहस्य' मैंने 'तुझसे कहा' (गीता ४, ३) ऐसा कृष्ण कहते हैं। इसीसे प्रथम तीन अध्यायों में मूल रहस्य कहा जा चुका है, अब जो आता है वह उसका विस्तार है।

अर्जुन की शंका यहाँ उचित है। कृष्ण इस समय उसके सारथी के रूप में मौजूद हैं, यहाँ से आरम्भ करके कंस के कारागार में उनका जन्म हुआ था, वहाँ तक का इतिहास अर्जुन जानता है। फिर कृष्ण ने कब, कितने समय पूर्व पैदा हुए विवस्वत को यह योग कहा होगा यह बात कैसे गले उतर सकती है ?

अब कृष्ण इस शंका के उत्तर में अपना ऐश्वर्य—अपना ईश्वर रूप प्रगट करते हैं। वे कहते हैं कि तेरे और मेरे अनेक जन्म व्यतीत हो चुके हैं, पर—

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।

(गीता ४; ५)

मैं उन सब जन्मों को जानता हूँ, तू नहीं जानता। और आगे साधिकार वाणी से कहते हैं : 'भूतानामीश्वरोपि' सर्वभूतों का मैं ईश्वर हूँ। तब फिर वे मानवस्वरूप में किसलिये हैं ? यहीं वह "यदा-यदा" वाला प्रसिद्ध श्लोक आता है। जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता हैं तब साधुपुरुषों के परित्राण के लिये और दुष्कृत्य करनेवालों के विनाश के लिये साथ ही धर्म की संस्थापना के लिए मैं हर युग में प्रगट होता हूँ। चौथे अध्याय के इस सातवें श्लोक की बात बराबर होती रही है : पर उसका रहस्य नौवें श्लोक में है :

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

(गीता ४; ९)

कृष्ण का जन्म कोई पार्थिव घटना नहीं है। यह तो अव्ययात्मा-अविनाशी ऐसे ईश्वर 'आत्ममायया-आत्ममाया' द्वारा प्रगट होते हैं। इसी से यह मानव के जन्म से भिन्न घटना है। दिव्य घटना है।

कृष्ण का कर्म तो हम सब करते हैं पर वह उस दर्जे का कर्म नहीं है। हम सब तो नजदीक के या दूर के साध्य को दृष्टिगत रखकर कर्म-साधना करने वाले हैं। कृष्ण का कार्य औसत मापदंड पर रखा जा सके ऐसा नहीं है। अतः उनका कर्म भी दिव्य है।

यह दिव्य जन्म और दिव्य कर्म : इन दोनों को जो तत्त्व द्वारा जानता है वह पुनर्जन्म नहीं, मुझे (कृष्ण को) ही प्राप्त करता है। किसी वस्तु को जानने के दो छोर हैं : एक ममत्व, दूसरा तत्त्व ! हम सब ममत्व के छोर से ही भगवान् को नापने का प्रयत्न करते हैं। इसी से कृष्ण के दिव्य जन्म की या दिव्य कर्म की बात तत्त्व से नहीं जान सकते।

तत्त्व से भगवान् को कैसे जाना जा सकता है ? उपनिषद् भी 'तत्त्वमसि' का उपदेश देते हैं ! तत्त्व की बात तद्रूपता की बात है, इस रीति से प्राप्त करने का मार्ग वैंयक्तिक है। यह स्वयंभू कला का रास्ता है। इसमें गुरु एक बार सागर में ढकेल देते हैं, फिर आपको डुबकी खाने देते हैं। हाँ, शायद आप डूब जायँ और तारने की जरूरत प्रतीत हो तो तारें, नहीं तो डूबने भी दें। इतना ही नहीं, तैरना अपने आप न सीखें तब तक डुबकी खाने दें, दम घुटने दें, अकुलाने दें। भगवान् के पास से किसी कृपा, किसी आशीर्वाद, किसी चमत्कार की रटन करते मनुष्य ममत्व के छोर से यात्रा शुरू करते हैं। आप ममत्व के छोर से यात्रा शुरू करें, तब आपकी गति कभी भी सच्ची दिशा में नहीं होती। तत्त्व के छोर से शुरू होती यात्रा ही मानव को कृष्ण तक ले जाती है। यह कैसे हो सकता है ?

> कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
> अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
>
> (गीता ४; १७)

यहाँ अनुष्टुप के चार चरणों में एक ही क्रियापद 'बोद्धव्यं' (जानना चाहिये) का उपयोग तीन बार हुआ है, यह सूचक है।

कर्म भी जानना चाहिये !

यहाँ कर्म माने आदमी जो कुछ करता है वह नहीं, कारण यह कि आदमी सत्कर्म भी करता है और दुष्कर्म भी करता है, ऐसे भेद भगवान् नहीं करते। वे तो कर्म द्वारा आदमी को करना चाहिये वही कर्म सूचित करते हैं। कर्म माने जो प्रभु के सान्निध्य में आदमी को ले जाय वह तत्त्व। समाधि तक इस कर्म की पहुँच है। इस कर्म को भी जानना चाहिये।

इतना ही नहीं, विकर्म को—अर्थात् अविहित कर्म को, जो उचित नहीं है ऐसे कर्म को भी आदमी को जानना चाहिये। यह विकर्म को जानना कर्म को जानने से भी ज्यादा विकट है। जो कर्म आपको भगवान् की दिशा में आगे ले जाय वह कर्म और जो भगवान् की दिशा से दूर ले जाय वह विकर्म। पर इसके लिये उस दिशा का और तत्त्व का ज्ञान तो होना चाहिये न ?

और अन्त में, जो आपको भगवान् की दिशा से दूर भी नहीं ले जाता, निकट भी नहीं ले जाता वह है अकर्म। इस अकर्म को भी जानना चाहिये।

जागृति, स्वप्न और सुषुप्तावस्था : इन तीन अवस्थाओं को बहुत से लोग कर्म, विकर्म और अकर्म की अवस्था से समता करते हैं। पर आदमी जागृति में भी स्थितप्रज्ञ की कोटि पर पहुँचे तब वह कर्म करते होने के बावजूद अकर्म की स्थिति पर होता है। कर्म और अकर्म दोनों की पराकाष्ठा एक ही है। स्वप्नरहित निद्रा अकर्म की अवस्था है, तो ध्यानस्थ चेतना भी अकर्म की अवस्था है।

कर्म, विकर्म और अकर्म की चर्चा में हम गहरे उतरें तो अभिमन्यु की तरह चक्रव्यूह में फँस जायेंगे—प्रवेश तो कर लेंगे पर बाहर निकलने का मार्ग नहीं मिलेगा। कारण यह कि कर्म की गति गहन है।

'बोद्धव्यम्' यह क्रियापद तीन बार प्रयुक्त हुआ—जानना चाहिये, जानना चाहिये, जानना चाहिये ऐसा तीन बार कहा, फिर भी जानने के बाद भी ज्ञान अधूरा और अपर्याप्त ही रहता है। इसी से कर्म की गति की थाह पाने के लिये कलैया खाने के बदले कर्मफल का त्याग करनेवाला, द्वंद्वातीत, निराश, सिद्धि-असिद्धि में समभाव रखनेवाला आदमी बनने का प्रयत्न करना ज्यादा अच्छा है। कारण कि सभी कुछ

ब्रह्म है। कर्त्ता, कर्म होम, यज्ञ, आहुति-द्रव्य, होता और इन सब द्वारा जो कुछ 'गन्तव्य' (प्राप्त करने का) है, वह सब ब्रह्म है। इसीसे 'यज्ञविद्' होना चाहिये—इस ब्रह्म द्वारा ब्रह्म को ब्रह्म की आहुति देनेवाला होना 'अयज्ञ' होने से अच्छा है। अकर्म तो सम्भव ही नहीं है; या तो वह मृत्यु में सम्भव होता है या परम सिद्धि में। अतः कर्म को ही परिशुद्ध करके, यज्ञशिष्ट करके जो करता है उसका मोक्ष होता है।

पर यज्ञ माने कौन-सा यज्ञ ?

कृष्ण अर्जुन से तुरत कहते हैं : 'द्रव्यमयात् यज्ञ' ! अर्थात् संसारी साधनों द्वारा होते यज्ञ की अपेक्षा 'ज्ञानयज्ञ' 'श्रेय' है। इसी से यज्ञ की परम्पराप्राप्त कल्पना वेदी, होता, आचार्य, घृत, जौ, तिल, आदि का भिन्नांश भगवान् छाँट देते हैं। वे तो ज्ञान-यज्ञ को ही उत्तम मानते हैं। वे कहते है :—

सर्वंकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।
(गीता ४; ३३)

सभी कर्म ज्ञान में अखिलता सहित परिसमाप्ति पाते हैं। कर्म का निषेध भगवान् नहीं बताते, पर ज्ञानयज्ञ की दिशा में होते कर्म के कारण ये सब कर्म अन्त में ज्ञान की तरफ प्रवृत्त हो जाते हैं। एक बार ज्ञान हुआ, फिर कर्म नहीं रहते। यह अखिलतापूर्वक—समग्ररूप से ज्ञान में परिसमाप्ति, सम्पूर्ण समाप्ति प्राप्त करती है। यह एक-एक शब्द कृष्ण ने ध्यानपूर्वक आयोजित किया है।

कृष्ण अभी अपने मर्म को अर्जुन की बुद्धि तक पहुँच सके इतना स्पष्ट नहीं कर सके हैं, अतः अर्जुन कहता है आप एक तरफ कर्म-संन्यास (कर्मत्याग अथवा कर्मसमर्पण) की तारीफ करते हैं; तो दूसरी ओर से योग की अर्थात् निष्काम कर्म की। तो फिर इनमें से श्रेष्ठ कौन-सा है यह आप तय करके कहें।

कृष्ण इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं :

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।

पंडित लोग सांख्य को तथा योग को पृथग्-अलग नहीं बताते-अज्ञानी-बालक ही ऐसा करते हैं कारण है कि—

एकमप्यास्थितः सम्यक् उभयोर्विन्दते फलम् ॥
(गीता ५; ४)

एक में सम्यक् रूप से जो स्थित होता है, एक में जो अच्छी तरह स्थित होता है; उसे उभय का फल मिलता है। आप एक ऊँचे शिखर पर पहुँचे तब दूसरे उतने ही ऊँचे शिखर पर जो कुछ हो वह दृष्टि-गोचर हो सकता है। पर यहाँ तो सांख्य (संन्यास) और योग दोनों एक ही शिखर हैं, मार्ग में ही अन्तर है। आप सम्यक् रूप से उसमें स्थिर हों इसी की महिमा है।

किसी को लगे कि प्रभु हमें इस कर्म में प्रेरित करें, इसका क्या ? कृष्ण इसका उत्तर देते हैं :

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

(गीता ५; १४)

प्रभुजीवों के हित, लोगों के लिये कर्तृत्व का या कर्म का सृजन नहीं करते। इतना ही नहीं, वे कर्म और फल के बीच का सम्बन्ध भी नहीं मोड़ देते। तब यह सब किस प्रकार होता है ? स्वभाव—प्रकृति से। प्रकृति, उसके तीन गुण और उनके विषय का अज्ञान यही माया है। प्रभु तो किसी के पाप या पुण्य को स्वीकार नहीं करते। यह ज्ञान हो तभी प्रकृतिगत अज्ञान नाश होता है।

भगवान् बुद्ध को यदि गीता पर मीमांसा लिखने का अवसर मिला होता तो उन्होंने पाँचवें अध्याय के चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोक पर ही अधिक जोर दिया होता। जैन साधुओं, सूफी महात्माओं या मनस्वी ख्रिस्ती संतों : इन सबका मार्ग इन दो श्लोकों में दिखता है। आगे भी ऐसे निरासक्त कर्म की अवस्था को पहुँचे हुए को 'योगी' (गीता ५; २४) और 'यती' (गीता ५; २६) कहा गया है। योगी और यति, कर्मयोगी और ज्ञानी दोनों की एक ही गति है।

फिर कृष्ण योगी के तत्त्व पर प्रकाश डालते हैं और तब कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(गीता ६; ३०)

जो सर्वत्र मुझे देखता है और सबको मुझमें देखता है, उनके मैं परोक्ष नहीं होता, अर्थात् मैं हमेशा उनके सामने रहता हूँ। और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। जिसके प्रत्यक्ष प्रभु हैं और जो प्रभु के

प्रत्यक्ष हैं ऐसे योगी की अवस्था तो प्रभु ने वर्णन की, पर इस दर्जे तक हर कोई तो पहुँचता नहीं। शाँति के–समाधि अवस्था के क्षण किसी को भी मिल सकते हैं, पर ये क्षण स्थिर कैसे हो सकते हैं ? अर्जुन पूछता है : मन बलवान्, दृढ़, क्षोभ उपजानेवाला और चंचल है, उसका निग्रह तो वायुनिग्रह जैसा ही दुष्कर कर्म है। बहती हवा को यदि कोई रोक सके, तो शायद मन का निग्रह कर सके। इसी से यह निग्रह करने का प्रयत्न करे और निग्रह न कर सके तो उसकी क्या गति होगी ? उसका नाश तो नहीं होगा ? यहाँ कृष्ण वह शाश्वत समाधान देते हैं—

न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।

(गीता ६; ४०)

माना कि यह कार्य वायुनिग्रह जैसा कठिन है इस बात से कृष्ण इनकार नहीं करते। वे तो स्पष्ट कहते हैं : हजारों में से कोई एक मुझे पाने को मंथन करता है। ऐसे मंथन करने वाले असंख्य योगियों में से भी—

कश्चित् माम् वेत्ति तत्त्वतः।

(गीता ७; ३)

कोई बिरला ही मुझें तत्त्वतः जानता है। योगी भी महद् अंश में प्रभु को ममत्व से ही जानते हैं, इसीसे तो मठों, आश्रमों, शिष्यों, सम्प्रदायों आदि में मशगूल रहनेवाले सिद्धगण ममत्व से भगवान् को जानने का प्रयत्न करते हैं, तत्त्व से उन्हें जानने वाले बिरले ही होते हैं।

कृष्ण ज्ञान पर सतत् भार देते हैं। वे आगे कहते हैं कि मुझे चार प्रकार के सुकृतिनः (सुकृत्य करने वाले) भजते हैं, पर इनमें ज्ञानी सर्वोत्तम हैं। पीड़ामुक्ति के लिए प्रार्थना करता आर्तभक्त; प्रभु की शोध में पिला रहता जिज्ञासुभक्त; सुख इत्यादि सांसारिक पदार्थों की कामना करता अर्थार्थी भक्त और एकदम निर्लिप्त भाव से प्रभु भक्ति में लीन रहने वाला ज्ञानी भक्त, ये चारों प्रकार के भक्त 'उदार'—उद्आर उच्च कक्षा के हैं, पर इनमें ज्ञानी तो मेरा ही स्वरूप है।

कृष्ण धीरे-धीरे अपना ऐश्वर्य प्रकट करते जाते हैं। आगे चलकर वे अपना विराट रूप भी प्रगट करने वाले हैं। अतः उस दिशा में चलते हुए एक सोपान जैसे श्लोक में वे कहते हैं :

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।।

(गीता ७; २६)

अतीत, वर्तमान और भविष्य में जो हैं उन सर्व भूतों को—प्राणियों को मैं जानता हूँ : पर मुझे कोई नहीं जानता।

'माँ तु वेद न कश्चन'–मुझे कोई नहीं जानता, इस पंक्ति में गर्व नहीं है, हकीकत का निवेदन है। शायद थोड़ी अपेक्षा भी है। ज्ञानी इस हद तक ज्ञान प्राप्त करे कि वह तत्त्व द्वारा सद्रूपता प्राप्त करे— पर जो कृष्ण को जानता है वह कृष्णमय बन जाता है और जो उन्हें नहीं जानता वह कुछ भी नहीं जानता।

१७. विभूति योग

कृष्ण और अर्जुन का संवाद जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे कृष्ण क्रमशः अपनी श्री और विभूति प्रगट करते चलते हैं। प्रभुत्व का यह प्रकाश भी संवादों द्वारा ही होता है। गीता के सातवें अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं :

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञ च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।

(गीता ७; ३०)

जो अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के साथ मुझे जानते हैं, वे प्रयाण के समय (इस संसार से प्रयाण करने के क्षण में—मृत्यु की बेला में) भी युक्तचेतसः—चित्त को (प्रभु में) युक्त करके मुझे ही जानते हैं।

सहज बात है कि कृष्ण की यह वाणी सुनकर हमें लगेगा कि भगवान् को जानने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है, पर उन्हें अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के साथ जानना, यह महत्त्वपूर्ण है; और जो इस प्रकार प्रभु को जानते हैं प्रयाण के समय, अन्तकाल में भी प्रभु से ही चित्त जोड़ सकते हैं। तब प्रश्न होता है कि यह अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ है क्या ?

हमारे मन का ही यह प्रश्न अर्जुन आठवें अध्याय के आरम्भ में पूछता है और कृष्ण उसका उत्तर देते हैं :

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।।

(गीता ८; ४)

जिसका क्षर भाव है, जो उत्पन्न होकर नाश होता है वह अधिभूत है और पुरुष अधिदैव है। यहाँ 'पुरुष' शब्द 'सहस्रशीर्षाः' से आरम्भ होते पुरुषसूक्त में वर्णित विराट पुरुष है—हिरण्यगर्भ ब्रह्म है। परन्तु जैसा गीता बारम्बार कहती है उस प्रकार अधिभूत और उसके बाद अधिदैव ये केवल विकास की प्रक्रिया के पड़ाव हैं। ये कोई लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य है अधियज्ञ। और कृष्ण कहते हैं 'मैं ही अधियज्ञ हूँ।'

भूत-लोग क्षर हैं। दैव--देवरचित है, और देव भी अक्षर नहीं है। पर यज्ञ चरम लक्ष्य है। आगे भी 'यज्ञविद्' होने पर कृष्ण ने बल दिया है। ज्ञान का प्रथम सोपान भूत को जानने का है; दूसरा सोपान देव को जानने का है, तीसरा सोपान यज्ञ को जानने का है। अतः जो अधियज्ञरूपी कृष्ण को जानता है, वह 'अचिंत्यरूपम्' अर्थात् जिसका रूप चिंतन से नहीं जाना जा सकता ऐसे और आदित्यवर्ण (सूर्य जैसे वर्णवाले) तथा 'तमसः परस्तात्' अज्ञान के अन्धकार से परे तथा 'अणोरणीयांसम्' (सूक्ष्मातिसूक्ष्म) ऐसे प्रभु को जानता है। हम विभिन्न वर्णों—रंगों का वर्णन करते हैं। फलां गौर वर्ण है या गेहुँआ वर्ण का है; पर प्रभु का वर्ण तो 'आदित्यवर्ण' है। सूर्य जैसा वर्ण, कवि ही कर सकें ऐसी कल्पना और ऋषि ही प्रदान कर सकें ऐसी उपमा का सायुज्य यहाँ हुआ है।

ऐसे कृष्ण की अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित जो जानता है उसे जानने जैसा और क्या बाकी रहता है ? इसीसे ऐसे लोगों को 'वीतराग' यति कहा है। गीता में बौद्ध, जैन आदि सभी दर्शनों में मिलनेवाले शब्द निरर्थक नहीं आते। इन दर्शनों का योग भिन्न हो सकता है, सांख्य एक ही है, इसकी प्रतीति इसमें से प्राप्त होती है।

इस वीतराग यति को नित्य प्रभु के इस रूप का स्मरण रहता है। जिसे नित्य प्रभु का स्मरण रहता है उसे प्रयाणकाल में भी प्रभु ही याद आते हैं।

'विद्' शब्द गीता में बारम्बार आता है। गीता को कण्ठस्थ करने के लिए गीता पाठशालाएँ इनाम देती हैं: पर वास्तविकता तो यह है कि गीता का एकाध श्लोक भी जो जान सके उसे इनाम देना चाहिए। कृष्ण यहाँ मोक्ष और पुनर्जन्म की बात कहते हैं, इसके साथ ही उत्क्रान्ति का एक गणित भी प्रदान करते हैं। वे कहते हैं:

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

(गीता ८; १७)

यहाँ 'अहोरात्रविदः'—काल के तत्त्व के जानकार की बात कृष्ण कहते हैं। यह दिवस-रात को जानें तो आप काल को जान सकेंगे, पर कैसा है यह दिवस? सहस्रयुगपर्यन्तम्—हजार युग जितना। यहाँ 'युग' शब्द द्वारा 'चारो युग' समझना चाहिये। विष्णु पुराण में ब्रह्मा के दिन की व्याख्या इस प्रकार से की गयी है:

कृत त्रेता द्वापरश्च कलिश्चैव चतुर्युगम्।
प्रोच्यते तत्सहस्रं च ब्रह्मणो दिवसं मुने॥

(विष्णु. १; ३; १५)

सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापर तथा कलि ऐसे चार युग सहस्रबार हों अर्थात् हजार चतुर्यग माने ब्रह्मा का एक दिन। यहाँ सहस्रयुग कहते हैं, तब भगवान् का अभिप्रेत है हजार चतुर्युग; सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ऐसे चार युग का एक चतुर्यग और ऐसे हजार चतुर्युगों का एक दिवस और ऐसे ही हजार चतुर्युग की एक रात्रि।

इसे जो जानता है, वह अहोरात्रविदः है।

यहाँ महिमा दिन और रात को जानने की है। दिन होने पर सभी प्राणी अव्यक्त में से प्रगट होते हैं और रात्रि होने पर वे अव्यक्त की संज्ञा में विलीन हो जाते हैं। तो हम क्या अर्थ करें? सुबह माने जीवन और साँझ माने मृत्यु? नहीं, जन्म-जन्मान्तर के एक चक्र का अन्त माने एक दिवस।

यह ज्ञान इस चरण पर भगवान् अर्जुन को क्यों देते हैं? कारण यह कि अर्जुन का विषाद मोह में से प्रगट हुआ है। सभी स्वजनों की वह हत्या करेगा, या कि वे मर जायँगे इसका शोक अर्जुन में प्रगट हुआ है। तब भगवान् जोर देकर यही बात अर्जुन के मन में धँसाते

है कि जन्म और मरण कोई दिन रात नहीं है : मृत्यु जन्म की पूर्व-स्थिति है और जन्म मृत्यु की पूर्वस्थिति है। यह ज्ञान जिसे प्राप्त हो उसे इससे आगे प्राप्त करने लायक एक और ज्ञान है : जिस अव्यक्त में से जन्म और मृत्यु होती है उससे भी परे 'सनातन अव्यक्त' जैसा स्वरूप है : यह स्वरूप सभी प्राणी नाश हो जायँ फिर भी नष्ट नहीं होता। अतः ब्रह्मलोकप्राप्ति के पंथ में मात्र एक चरण बन जाता है, वहाँ से वापस लौटना पड़ता है। पर—

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

(गीता ८; २१)

जिसे प्राप्त करने के बाद निवर्तन नही रहता, वही मेरा परमधाम है।

फिर जिस कालमार्ग से जाने पर मोक्ष होता है और जिस काल-मार्ग से जाने पर पुनर्जन्म होता है वह भगवान् समझाते हैं।

अग्नि, ज्योति, अह (दिवस), शुक्ल, उत्तरायण के छ मासः इस मार्ग से गये ब्रह्मविद् ब्रह्म को ही प्राप्त करते हैं।

(गीता ८; २४)

धूम्र, रात्रि, कृष्ण, दक्षिणायन के छ मासः इस मार्ग से गये योगी चन्द्रमा की ज्योति प्राप्त कर निवर्तन प्राप्त करते हैं (वापस आते हैं)।

(गीता ८; २५)

इन शब्दों को शुक्ल पक्ष या उत्तरायण के छ मास या कृष्ण पक्ष और दक्षिणायण के छ महीने के स्थूल अर्थ के साथ उलझाना ठीक नहीं है। यहाँ भगवान् कालमार्ग की बात करते हैं। ज्ञान में अग्नि, ज्योति, दिवस का प्रकाश तथा शुक्ल अर्थात् शुभ्रता होता है। ये उत्तरगति के सोपान हैं : तपश्चर्या के स्वरूप का वर्णन यहाँ लागू होता है। वर्ष के स्थूल कालक्रम को भगवान् दृष्टि में नहीं लेते। यदि ऐसा होता तो अग्नि, ज्योति, दिवस—इन शब्दों का अर्थ क्या रहता ? ज्ञान मार्ग से जानेवाले का रास्ता हमेशा सुगम नहीं होता : उसमें धूम, रात्रि, कृष्ण-कालिमा आदि होते हैं : ज्ञान का मार्ग है अतः वे प्रकाश तो प्राप्त करते ही हैं पर वह चन्द्र से प्रतिबिम्बित होता प्रकाश है। पर उन्हें पुनः अग्नि, ज्योति, दिवस और शुभ्रतायुक्त तपस्या के लिए वापस आना पड़ता है। इन दो कालमार्गों को स्थूल रूप में समझाने

की जरूरत नहीं है। भगवान ने इसी से इस 'वर्ष का पृथक्करण'... जैसे शब्द नहीं दिये हैं। उन्होंने कहा है: 'कालं वक्ष्यामि' (गीता ८, २३)--'मैं काल की बात कहता हूँ'! इसकी स्पष्टता आगे आती है:

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः॥

(गीता ८; २६)

शुक्ल और कृष्ण ये दो शाश्वत गतियाँ है, एक में जाने वाला वापस नहीं आता--परमगति को प्राप्त करता है, अनावृत्ति को प्राप्त करता है, जबकि दूसरे में जानेवाला पुनः लौट आता है, उसका पुनः आवर्तन होता है।

इसे सुदी और बदी ऐसे महीने के दो भाग की बात नहीं कहा जा सकता। यह तो प्रभु को पाने के शुक्ल और कृष्ण ऐसे दो मार्ग हैं। इन दोनों मार्गों को जो जानता है वह कभी मोहग्रस्त नहीं होता। इस कारण जो सर्वकाल में योगयुक्त है वह प्रभु के परमपद को प्राप्त करता है। इसी से यह शुक्ल और कृष्ण गति स्थूल पंचांगभेद से नहीं समझी जा सकती, बल्कि सूक्ष्म तपस्याभेद से समझी जानी चाहिये। जिस तपस्या में अग्नि, ज्योति और दिवस का ओज होता है वह शुक्ल, जिसमें धूम्र तथा रात्रि होती है वह कृष्ण। फिर भी दोनों ही मार्ग तो हैं ही, इनमें से किसी भी मार्ग पर जानेवाले का अकल्याण नहीं है। अकल्याण तो यदि इस मार्ग को न जाने या अनुसरण न करे इसमें निहित है।

अक्षर ब्रह्म को पाने के दो मार्ग हैं: एक अनावृत्ति को जाता, दूसरा 'आवृत्ति' को जाता; ये मार्ग बताने के बाद अब जो राजविद्या है, विद्या में भी राज--श्रेष्ठ है उसे और राजगुह्य--गुह्य में भी जो श्रेष्ठ है उसे भगवान 'अनसूयवे' (असूया बिना के) अर्जुन से कहते हैं:

बहुत ही अटपटी वाणी कृष्ण बोलते हैं। मुझसे ही यह सारा जगत व्याप्त है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' मेरे में सभी प्राणी रहते है, पर मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ (गीता ९, ४)। अभी इतना ही कहते हैं, कि तभी पुनः कहते हैं: 'न च मत्स्थानि भूतानि' (गीता ९, ५) मेरे में भी सर्वप्राणी नहीं रहते: 'पश्य मे योगमैश्वरम्' मेरा यह योग और मेरा यह ऐश्वर्य तू देख: वे सबसे जुड़े हैं, फिर भी सबसे निर्लिप्त रहते हैं,

यह कृष्ण का योग है, और स्वयं भूतभावनः' प्राणियों को उत्पन्न करने वाले तथा 'भूतभृत्' प्राणियों का पोषण करनेवाले होने के बावजूद उनकी आत्मा 'भूतस्थ' नहीं है। और फिर कवि और ऋषि का योग हो तभी आ सके ऐसी एक और उक्ति आती है : 'सर्वत्र भ्रमण करने वाला महान् वायु जैसे नित्य आकाश में रहता है, वैसे ही समस्त प्राणी मुझमें रहते हैं ऐसा जान लो।'

(गीता ९; ६)

ऐसे कृष्ण प्राणियों का सृजन करते हैं, विलय करते हैं, पुनः सृजन करते हैं : पर इन कर्मों से वे बँधते नहीं। कारण यह कि—

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।

(गीता ९; ९)

वे, उन कर्मों में उदासीनवत्, आसक्तिरहित रहते हैं।

कृष्ण का यह स्वरूप सब लोग नही जानते। मैं क्रतु हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषधि हूँ—इस प्रकार कहते कृष्ण मैं (अहम्) से शुरू होती अपनी लीला का प्रारम्भ करते हैं। इस एक ही श्लोक में आठ 'अहम्' है, आगे भी इस 'अहम्' की गति है : यह मैं' उस विराट पुरुष से भी परे उस अधियज्ञ का 'अहम्' है।

कृष्ण जब स्वयं देहधारी होने के बावजूद वे परम अक्षर ब्रह्म हैं, ऐसा कहते हैं तब वे अपने एक अवतार की बात नहीं करते, प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान सम्भावित कृष्ण के अवतार की बात कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में यह कृष्ण हैं, जिनकी गतिविधि अपार है। इसी प्रकार कृष्ण के वाक्यों की किसी को शोध करनी चाहिए। यह कृष्ण अर्जुन संवाद जो कोई भी अपनी देह में विद्यमान अर्जुन को 'अनुसूयवे' दोष-रहित बना सके, ऐसे सभी लोगों में विद्यमान कृष्ण के साथ का है। आदमी मानता है कि वह स्वयं अपने योगक्षेम का भार उठाता है। पर हकीकत तो यह है कि भगवान ही योगक्षेम वहन करते हैं। अपने अन्दर विद्यमान इस परम तत्त्व को दूर-दूर से अन्य देवताओं के रूप में ढूँढने के लिए मंथन करता है, वे 'अविधिपूर्वक' भी कृष्ण को ही भजते हैं। सभी देवों को अर्पित नमस्कार भी अन्त में कृष्ण को ही पहुँचते हैं। सवाल तो इतना ही है कि हम कृष्ण को विधिवत् पाते हैं या 'अविधिपूर्वक'। विधिमार्ग मोक्ष का मार्ग है, अविधिपूर्वक की जाती उपासना कल्याण तो करती है पर—

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनाऽतश्च्यवन्ति ते।

(गीता ९; २४)

वे तत्त्व की राह से भगवान को नहीं जानते, अतः मोक्षरूपी परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट होते हैं।

विधिपूर्वक उपासना करना दुष्कर नहीं है। अधियज्ञ सहित प्रभु को पाने के लिये यज्ञ की स्थूल सामग्री जरूरी नहीं है। वे तो 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' (पत्र, फूल, फल या जल) 'प्रयतात्मनः' (शुद्ध बुद्धि के साथ) अर्पित करनेवाले प्रत्येक के अर्पण को स्वीकार करते हैं। कृष्ण अर्जुन को उपासना की सुगम लेकिन इसी कारण ही दुष्कर विधि समझाते हैं :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

(गीता ९; २७)

तू जो कुछ करे, जो कुछ भोजन करे, जो कुछ होम करे, जो कुछ तप करे, वह सब मुझे अर्पित कर और यदि आदमी इतना कर सके तो वह 'मामुपैश्यसि' (मुझे ही पाता है), ऐसा भरोसा कृष्ण देते हैं। ये कोई पोले वचन नहीं हैं। वे तो कहते हैं कि चाहे जैसा दुराचारी भी अनन्यभाव से मुझे भजे तो उसे साधु ही मानना चाहिये कारण यह कि वह सम्यक् निश्चयवाला है। इतना ही नहीं, ऐसे अनन्यभाव से भक्ति करनेवाले को वे अभय-वचन प्रदान करते हैं :

न मे भक्तः प्रणश्यति।

(गीता ९; ३१)

मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता।

नौंवा अध्याय गीता के प्रमुख स्तम्भों में से एक है : कोई इसे गीता को पाने की कुंजी मानता है तो कोई पन्द्रहवें अध्याय को। नौवें अध्याय का कीलक उसके अन्तिम श्लोक में आता है :

मन्मना भवं मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

(गीता ९; ३४)

मुझमें मन लगा; मेरा भक्त बन; मेरी पूजा कर; मुझे नमस्कार

कर। इस प्रकार मुझमें परायण (मेरी शरण में आया) तू आत्मा को मुझसे जोड़कर मुझीको पायेगा।

अपने ऐश्वर्य को इस प्रकार कृष्ण नौवें अध्याय में पूर्ण रूप से प्रगट करते हैं। इस ऐश्वर्य में राजविद्या है, विद्या में भी श्रेष्ठ। वह राजगुह्य है, गुह्य में भी श्रेष्ठ है। कारण यह कि यह अध्यात्म विद्या है। प्रभु से आत्मा को जोड़ने का ज्ञान यहाँ दिया गया है।

कृष्ण को अब अर्जुन 'सखा' रूप में नहीं जानता। अब तो उसे कृष्ण के परब्रह्मरूप की प्रतीति हुई है। दसवें अध्याय के बारहवें से अट्ठारहवें श्लोक में वह भगवान से अपनी विभूतियों का वर्णन करने की प्रार्थना करता है। इसका प्रारम्भ इस प्रतीति वाक्य से होता है। कृष्ण और अर्जुन यहाँ नारायण और नर बनते हैं :

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवभजं विभुम्॥

(गीता १०; १२)

आप ही परम ब्रह्म हैं। आप ही परम धाम है। आप परम पवित्र हैं। पुरुषसूक्त में वर्णित विराट पुरुष भी आप ही हैं। आप शाश्वत हैं, दिव्य हैं, आदिदेव हैं, अजन्मा तथा विभु-व्यापक हैं।

कृष्ण विभूतियों का वर्णन करते हैं : इनमें कितनी ही विभूतियाँ सहज ध्यान देने योग्य हैं। ऋग्वेद की महिमा बहुत कही गयी है पर भगवान तो स्वयं वेदों में सामवेद हैं ऐसा कहते हैं। यज्ञ में जपयज्ञ के रूप में बसते हैं। सभी कर्मकाण्डों को इस तरह विभूति द्वारा भगवान् उठाकर अलग रख देते हैं। यज्ञविद् होना अर्थात् प्रभु का स्मरण करना। 'प्रजनश्चापि कंदर्प' (प्रजा उत्पन्न करने हित कामदेव) रूप में वे अपना वर्णन करते हैं। और 'सयंमताम्' जो शासन करते हैं उनमें प्रभु अपने आपको 'यम' कहते हैं। गणना करनेवालों में प्रभु काल हैं, पर आगे कहते हैं कि मैं ही अक्षय (अविनाशी) काल हूँ, प्रत्येक में प्रभु एक विभूति बताते हैं। परन्तु स्त्रियों में वे कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेघा, घृति, क्षमा ये सात रूप वर्णित करते हैं। यादवों में वे 'वासुदेव' हैं, पर पाण्डवों में 'अर्जुन' हैं।

ये तथा अन्य विभूतियों की बाबत विस्तार से विचार किया जा सकता है; यहाँ तो इनमें से कुछेक विभूतियाँ मन के लिये अलग से

मंथन करने योग्य हैं। बाकी तो इस अध्याय का उपसंहार करते हुए कृष्ण पूछते हैं :

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

(गीता १०; ४२)

अथवा हे अर्जुन, यह सब जानकर तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होना है ? 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' यह ज्ञान जब तक उदित नहीं होता, तब तक बाकी का सारा ज्ञान मिथ्या है। इन समस्त विभूतियों का एक-मात्र अर्थ यह है कि सबमें जो श्रेष्ठ है वह प्रभु का अंश है। हममें भी यह अंश है यह ढूंढना छोड़कर केवल विभूतियों की सूची बनाने से क्या लाभ होगा ?

कृष्ण के विराटरूप दर्शन की भूमिका यहाँ प्राप्त होती है। कृष्ण और अर्जुन के बीच का सखाभाव अब लुप्त नहीं होता, पर स्वयं जिसे सखा कहता है वह कृष्ण वास्तव में परब्रह्म हैं ऐसी अर्जुन की प्रतीति इस आधार का परम रहस्य है। फिर भी शंकावान मनुष्य ज्ञान में प्रतीति माँगें बिना नहीं रहता। अर्जुन यह सब सुनता है और उसकी प्रतीति माँगता है। वह कहता है :

'हे पुरुषोत्तम, मुझे आपका वह ऐश्वर्ययुक्त रूप देखना है। यदि मेरे लिए यह स्वरूप देखना सम्भव हो तो हे योगेश्वर वह अव्यय स्वरूप मुझे दिखायें !'

—और यह प्रार्थना हमें विश्वरूप दर्शन के निकट लाकर रख देती है।

विश्वेश्वर का विश्वरूप

ग्यारहवें अध्याय के आरंभ में अर्जुन जब कृष्ण से विश्वरूप प्रकट करने की प्रार्थना करता है, तब उसमें शंका है या विनती ? कृष्ण ने अपनी विभूतियाँ बतायीं, इसकी दो प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। एक तो उसमें परिपूर्ण श्रद्धा रखकर उसे स्वीकार लेना, दूसरी प्रतिक्रिया यह यह है कि वास्तव में कृष्ण जो कहते हैं वह सत्य है, ऐसी उड़ती हुई आशंका और साथ ही कृष्ण कभी असत्य कह ही नहीं सकते ऐसी श्रद्धा ! ऐश्वर्य को जानने की आकांक्षा प्रकट करने के बाद तुरत ही वह कहता है—

यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुम्

(गीता ११; ४)

यदि यह स्वरूप मेरे द्वारा देखना सम्भव है ऐसा आप मानते हों तो मुझे यह देखना है। स्वरूपदर्शन की अभिलाषा के बावजूद विराट स्वरूप स्वयं देख न पाये ऐसा सम्भव है इसका ज्ञान, ये दोनों बातें यहाँ परिलक्षित होती हैं। इस ज्ञान के कारण ही अर्जुन को कृष्ण के वचनों में अविश्वास हुआ और तत्कारण वह विश्वरूप देखना चाहता है ऐसा संशय पैदा होता है और तत्काल ही टल जाता है।

कृष्ण अर्जुन की इस इच्छा का उत्तर 'पश्य' (देख) जैसे शब्दों से आरंभ करते हैं और कहते हैं :

बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।

(गीता ११; ६)

पहले किसीने भी नहीं देखे ऐसे आश्चर्यों को तू देख।

विश्वरूप दर्शन आश्चर्यों का दर्शन है। किन्तु ये आश्चर्य सब लोग नहीं देख सकते; क्योंकि उन्हें देखने के लिये ये चर्म चक्षु अक्षम है। भगवान का विश्वरूप हमारे सामने प्रत्येक पल प्रगट होता रहता है, जन्म लेता बालक, खिलता फूल, व्यथित मानव जाति, युद्ध, प्रेम, हास्य, रुदन, मृत्यु ऐसी सभी घटनाएँ समग्र विश्वरूप के ही अंश है। पर हम उन्हें तटस्थ भाव से आश्चर्य के रूप में नहीं, बल्कि आसक्त भाव से हकीकत के रूप में देखते हैं। जैसे कोई दूसरा मानव आलीशान महालय को आश्चर्य भाव से देख सकता है, पर यह आश्चर्य उसमें रहनेवालों के लिये उनकी आसक्तिजन्य वास्तविकता के कारण भाग्य में नहीं होता, उसी तरह यह विश्वरूप पलपल अनादि से अनन्त तक फैलता रहने के बावजूद हम जीवन के सुख, दुःख, जन्म, जरा, मृत्यु में इतने लिप्त हो जाते हैं कि आश्चर्य रूप में कुछ भी देख नहीं सकते। इसी से तो कृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।

(गीता ११; ८)

मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ, इनके द्वारा तू मेरा ऐश्वर्ययुक्त योग देख। यह दिव्य चक्षु क्या हैं ? छांदोग्य उपनिषद् में कहते हैं : "मनोस्य दैवं चक्षुः" मन ही यह दिव्य चक्षु है। मन का विस्तार जितना साधेंगे, उसे जितना परिशुद्ध करेंगे, उतना ही प्रभु के दिव्यरूप के पास जा

सकेंगे। अर्जुन को अब तक जो ज्ञान दिया है, वही उसके लिये दिव्य चक्षु रूप बन जाता है। 'मै तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ' इस कथन में कृष्ण जिस अधिकार से इस दिव्य चक्षु की बात कहते हैं, यह उन्होंने अर्जुन के मन को किस हद तक परिशुद्ध करके दिव्य बनाया है, इसी की प्रतीति दिलाता है। ऐसे मन से युक्त, ऐसे दिव्य चक्षु लिये अर्जुन जब कृष्ण की ओर देखता है तो दो सेनाओं के बीच रथ लाकर खड़ा कर देनेवाला सारथी नहीं दिखता। पर दिवस, आकाश, पृथ्वी दोनों सेनाएँ और अर्जुन के मन में स्थावर, जंगम, जो कुछ भी गोचर है वह सब वह कृष्ण में देख सकता है। यह रूप कैसा है ?

नाऽन्तं न मध्यं न पुनस्तवाऽऽदिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।

(गीता ११; १६)

अर्जुन बोल उठता है : इसका अन्त नहीं हैं, और आदि भी नहीं है। यह क्रम भी देखने लायक है। मनुष्य सबसे पहले अन्त—इसका छोर कहाँ है यह देखने की ही चेष्टा करता है। मध्य या आदि की तलाश बाद का मुद्दा है। पर स्थूल तलाश में मृत्यु, जीवन या जन्म जैसे अन्त, मध्य या आदि देखे जा सकते हैं, परन्तु इस विश्वरूप का तो अन्त या आदि तो नहीं ही है, पर मध्य भी नहीं है। मध्य का निर्णय तो आदि और अन्त का ज्ञान हो तभी न हो सकता है ! विश्वे-श्वर का; विश्वरूप का कहीं भी कोई मध्य, आदि या अन्त नहीं देखा जा सकता।

परन्तु इस विश्वरूप को देखने पर कैसी हालत हो गयी है ?

दिशो न जाने न लभे च शर्म !

(गीता ११; २५)

न दिशा जानता है, न सुख पाता है। प्रत्येक साक्षात्कार के बाद भक्त की यही उन्मन दशा होती है। साक्षात्कार में सुख नहीं है, कोई दिशानिर्देश नहीं है। साक्षात्कार तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देने वाला अनुभव है। यहाँ तो वह जिन बातों से परिचित है उन सभी को निगल लेता एक विराट् रूप दिखता है। नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं या परवाने जलती शमा की ओर लपकते हैं वैसे ही सबको, जिन्हें देखकर

वह विषादग्रस्त हुआ था उन स्वजन बांधवों सहित सबको, उसमें विलीन होता देखता है। और वह पूछ बैठता है :

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो

(गीता ११; ३१)

हे उग्ररूप, आप कौन हैं यह बताइये !

अर्जुन कृष्ण को पहिचानता था। पर अब उसके सामने वह जिसे 'हे कृष्ण, हे यादव हे सखेति' ऐसे सम्बोधनों से पुकारता था वह कृष्ण, यादव या सखा नहीं हैं; वह तो जिसे देखता है वह 'अनंत देवेश जगन्निवास' है; इतना ही नहीं, वह जो कुछ भी सत् या असत् है उससे परे 'अक्षर' स्वरूप हैं। उस उग्ररूप का वह वर्णन नहीं कर सकता। अतः वह विश्वरूप से ही पूछता है 'आप ही बतायें, 'आप कौन है ?' और वे अपना प्रसिद्ध उत्तर देते हैं :

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो

(गीता ११; ३२)

लोगों का क्षय करने वाला मैं प्रवृद्ध–उग्र–काल हूँ। ये सब जिन्हें मारने हित अर्जुन प्रवृत्त हुआ है वे तो इस काल द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। अब अर्जुन को तो 'निमित्त-मात्र' बनना है।

हमारे जीवन की बाबत यह कँपाने वाला 'तत्त्व ज्ञान' है। हमें जो कुछ करना है वह भगवान् ने पहले से ही कर लिया है। हम तो 'निमित्त मात्र' हैं। आदमी का अधिकार तो केवल कर्म पर ही है, फल पर नहीं। कर्म के फल को या कर्म को प्रभु को ही समर्पित कर देने में मानव का श्रेय है। मनुष्य क्या है ? नियति के विराट सागर में दिशा-ज्ञान बिना प्रवाहों के आधार पर बहती नौका। कृष्ण सब कुछ कर चुके हैं तो फिर सव्यसाची को क्या करना है ? केवल 'निमितमात्र' होना है। बायें हाथ से भी जो शर साध सकता है ऐसा प्रतापी पुरुष ! पर वह भी केवल निमित्त ही ! भगवान् इन दो शब्दों को—सव्य-साचिन् तथा निमित्तमात्र को एक साथ रखकर मानवपुरुषार्थ या प्रताप की क्रूर विडम्बना ही करते हैं ?

'तत्त्व' को जानना अर्थात् इस स्थिति में स्थापित हो जाना। 'तत्त्व' साक्षात्कार द्वारा जाना जा सकता है। और साक्षात्कार की दो स्थितियाँ हैं : एक प्रभु की साक्षात् उपस्थिति, तब भी अर्जुन की जो हालत हुई वह हो जाती है; और दूसरी प्रभु की साक्षात् अनुपस्थिति।

तब भी यही असहायता घेर लेती है। इसी से 'तत्त्व ज्ञान' या तो परम आस्तिक को होता है, या अन्तिम कोटि को पहुँचे हुए 'नास्तिक' को।

अर्जुन इस तत्त्व को जानने के बाद उसमें अधिक नहीं रहना चाहता। वह जानता है कि इन प्रभु के प्रति उसने अनेक अपराध किये हैं। इन तमाम अपराधों की क्षमा उसने बड़े सुन्दर ढंग से प्राप्त की है। वह कहता है :

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।

(गीता ११; ४४)

पिता पुत्र के, मित्र-मित्र के या प्रिय-प्रिया के अपराध क्षमा करने योग्य है इसी प्रकार आप भी मेरे अपराध क्षमा करने योग्य हैं। इस प्रकार कृष्ण को पिता फिर सखा फिर प्रिय जैसे सम्बोधनों पर आकर अर्जुन दिव्य चक्षु से पहले की परिस्थिति के लिए प्रार्थना करता है। इस विश्वरूप को देखकर एक ओर से 'हर्षित' तो दूसरी ओर से 'प्रव्यथित' (व्याकुल) हुआ अर्जुन अब कृष्ण के असली रूप को देखने के लिए झंखता है।

अर्जुन ने जो विश्वरूप-दर्शन किया वह 'न दृष्टपूर्वम्' पहले किसी ने नहीं देखा था ऐसा है। बाल्यावस्था में कृष्ण के मुख में यशोदा ने ब्रह्माण्ड का दर्शन किया था, अथवा कौरव-सभा में संधिवार्ता के समय कृष्ण ने अट्टहास्य करके अपना विश्वरूप प्रगट किया था। परन्तु अब अर्जुन से जब कृष्ण कहते हैं कि तूने जो देखा वह इससे पहले किसी ने भी नहीं देखा था, तब इसका अर्थ इतना ही है कि पहले उन्होंने जो ऐश्वर्य प्रगट किया वह मात्र आंशिक था। उन्होंने पूर्ण रूप तो अर्जुन के सामने ही, उस पर प्रसन्न हैं, इस कारण प्रगट किया है। पर क्या यही एक मात्र कारण है ? यह रूप तो ऐसा है जो—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।

(गीता ११; ५३)

जैसा तूने मुझे देखा है, ऐसे स्वरूपवाला मैं, वेदों द्वारा तथा उसी प्रकार यज्ञ द्वारा भी देखा नहीं जा सकता। शंकर को अवश्य ही इस

श्लोक से विरोध होना चाहिये और वल्लभाचार्य को इस श्लोक तथा बाद के श्लोक पर झूम उठना चाहिये। यह विश्वरूप वेद से देखना सम्भव नहीं है, यज्ञ से भी वह सम्भव नहीं है। तब वह कैसे देखा जा सकता है ? कृष्ण कहते हैं :

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातु द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११; ५४)

कृष्ण की वाणी जितनी सरल लगती है, उतनी सरल है नहीं। यहाँ इस श्लोक के एक-एक शब्द पर ठहरने लायक है क्योंकि यहाँ भगवान साक्षात्कार की कुंजी प्रदान करते हैं। वे प्रारंभ करते हैं 'भक्त्या' शब्द द्वारा। पहले 'न वेद से, न तप से' जैसी नकारात्मक सूचनाएँ प्रदान की थीं। अब यह सकारात्मक सूचना जोर देकर देते हैं : भक्ति द्वारा; पर कैसी भक्ति ? अनन्यया, अनन्य ऐसी भक्ति द्वारा। अनन्य भक्ति से प्रभु को प्राप्त किया जा सकता है। पर वह 'तत्त्वेन' तो यहाँ भी आता है। 'विद्' और 'तत्त्वेन' इन शब्दों के गीता में उपयोग पर एक समूचा महानिबंध ही लिखा जा सकता है। जब भी जानने की बात आती है, तब भगवान् तुरत ही समाधान देने में चूकते नहीं कि यह तो तत्त्व द्वारा जानने की बात है। अनन्य भक्ति हो तो तत्व द्वारा जानना, देखना तथा प्रवेश करना संभव है। साक्षात्कार का परम रहस्य जो गुप्त होने पर भी प्रगट है इस श्लोक में मिल जाता है। तत्त्व द्वारा प्रभु को जानना यह प्रथम सोपान है; ज्ञान पहला कदम है। पर भगवान् का ज्ञान हो, मात्र इससे तो उनके दर्शन हो नहीं जाते। हम सब गीता-उपनिषद् पढ़ते हैं, पर यह ज्ञान साक्षात्कार नहीं कराता। पर ज्ञान के सोपान पर हों तो दर्शन का सोपान आ सकता है। ज्ञान न हो तो भगवान् सामने आकर चले जायँ तो भी आदमी पहिचान न सके। ज्ञान के बाद, दर्शन आता है। परन्तु दर्शन का साक्षात्कार माने सब कुछ ही आ गया ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। प्रभु को देखने के बाद भी उनमें रंगे न हों ऐसे आदमी भी मिल जाते हैं। उनमें प्रवेश करना, प्रभु में दाखिल होना यह तीसरा और चरम सोपान है। बहुत से लोग 'तत्त्वेन' इस विशेषणमात्र को प्रवेश करने के साथ जोड़ते हैं। पर गीता की वाणी में इन शब्दों का

प्रयोग जिस प्रकार से आया है यह देखते हुए यह जानने, देखने और प्रवेश करने तीनों शब्दों का विशेषण है। तत्त्व द्वारा प्रभु का ज्ञान, प्रभु का साक्षात्कार औंर प्रभु में लय होने की परम घटना अनन्य भक्ति द्वारा ही सिद्ध हो सकती है।

गीता में परम संयोजना है। ग्यारहवें अध्याय के कीलक जैसा यह श्लोक आगे के अध्याय की भूमिका भी बन जाता है। गीता का बारहवाँ अध्याय भक्तियोग है। इस अध्याय से पहले ही भक्ति की प्रतिष्ठा कृष्ण ने कर दी है। बारहवें अध्याय का प्रारंभ अर्जुन के प्रश्न से होता है। पर इस प्रश्न का तेवर भिन्न है। इससे पहले के प्रश्नों में संशय भरा दिखता था। आगे के प्रश्नों में जिज्ञासा है। वह बुनियादी प्रश्न पूछता है : आपकी सगुण उपासना करनेवाले या निर्गुण उपासना करनेवाले में 'योगवित्तमा:'—'अति उत्तम योगवेत्ता कौन है ?'

कृष्ण दो मार्ग बताते हैं : 'मन को मुझमें एकाग्र करके नित्य परायण जो परम श्रद्धा से युक्त होकर मेरी उपासना करता है वह 'युक्ततमा :'—उत्तम योगी है ऐसा मैं मानता हूँ।' साथ ही वे कहते हैं : दूसरे, जो इन्द्रियों के समूह को संनियमित—वश में करके, सर्व में समबुद्धिवाले, सर्वभूत के हित में रत ऐसे सर्वव्यापी, सोचा भी न जा सके या वर्णन भी न किया जा सके तथा कूटस्थ (अर्थात् कूटप्रपंच, माया आदि को अधिष्ठान बनानेवाले) ध्रुव (नित्य), सरल, अव्यक्त (निराकार) ऐसे अक्षर की परि-उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त करते हैं।

(गीता १२; २–४)

इन दोनों के वर्णन से ही ध्यान में आ जाता है कि सगुण उपासना देखने में सरल लगती है ! निर्गुण उपासना देखने में दुष्कर लगती है।

देखने में लगती है अतः सगुणब्रह्म की उपासना कुछ सरल नहीं है। इसके लिये कृष्ण की शर्त केवल देखने में ही सरल है। व्यवहार में तो कूटस्थ अचल ध्रुव होना आसान है, पर जो माँग भगवान् करते हैं उसे संतोषप्रद रूप से पूरा करना सरल नहीं है। वे कहते हैं :

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत उर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२; ८)

मन को मुझमें ही स्थिर कर, बुद्धि को मेरे में निविष्ट कर, इसके बाद तू मुझमें ही निवास पायेगा इसमें संशय नहीं हैं।

सिर्फ दो ही बातें करने की है। मन को भगवान में स्थिर करना है; बुद्धि को भगवान में पिरोना है। मन और बुद्धि इन दोनों को संनियम में रख सके, इतना ही नहीं, प्रभु में युक्त कर सके, वही प्रभु में निवास प्राप्त करता है। 'अत ऊर्ध्वं' का अर्थ मृत्यु के बाद, ऐसा अधिकतर मीमांसक करते हैं। वास्तव में मन और साथ ही बुद्धि को प्रभु के साथ जोड़ दे इसके तुरत बाद ही, जीवन में या मृत्यु में भक्त प्रभु में ही निवास करता होता है, ऐसा वचन यहाँ दिया गया है।

पर यह बात आसान नहीं है। यह अभ्यास योग द्वारा किया जा सकता है; यह अनुकूल न हो तो 'मत्कर्म परमः' प्रभु के कार्य में परायण होकर—यह सिद्ध किया जा सकता है। जो कुछ भी करें वह प्रभु के वास्ते करके भी यह स्थिति प्राप्त की जा सकती है। यह भी न हो सके तो 'यतात्मवान्'–मन को वश में करने, 'मद्योगमाश्रितः'—मेरे योग में आश्रय लेकर तू सब कर्मफलों का त्याग कर, प्रभु के लिये कर्म करने की शक्ति न हो तो सभी कर्म भले ही कर तो भी वे कर्म प्रभु को अर्पित करके प्रभु को पाया जा सकता है। इसके बाद कृष्ण पुनः साधना की एक और सीढ़ी प्रदान करते हैं :

> श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
> ध्यानात्कर्मफलत्यागः त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
>
> (गीता १२; १२)

अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है; त्याग से तत्काल ही शांति प्राप्त हो जाती है।

यह क्रम शंकर प्रभृति लोगों को मान्य नहीं हो सकता। एक ओर से तत्त्व द्वारा प्रभु को जाने वही पा सकता है ऐसी बात हो तो कर्मफल के त्याग को अभ्यास, ज्ञान तथा ध्यान से भी ऊँचा आसन कैसे दिया जा सकता है ? पर एक बात चूक जाते हैं। कर्म करना और फल का त्याग करना यह कोई ऐसी-वैसी सिद्धि नहीं है। इस सिद्धि में अभ्यास, ज्ञान तथा ध्यान तीनों अदृष्ट रूप में आये बिना नहीं रह सकते। अतः कर्मफल के त्याग की बात, पहले जो कोई बात कही गयी है उसके विरुद्ध या कि 'मुमुक्षु की रुचि' प्रगटाने हित पर्याप्त नहीं है कर्मफल का त्याग यह वास्तव में अभ्यास, ज्ञान या ध्यान से

श्रेष्ठ है। कारण यह कि यह तीनों सोपान एक साथ ही कर्मफल के त्याग में समा गये हैं।

भक्तियोग का आधार इन प्रथम बारह श्लोकों में है। बाकी के सात श्लोकों में ये बत्तीस लक्षण प्रगट होते है: (१) प्राणिमात्र से द्वेष न करनेवाला (२) सबका मित्र (३) करुणावान (४) निर्मम (५) अहंकार विहीन (६) दुख सुख में समभाववाला (७) क्षमावान (८) निरन्तर संतोष पाया हुआ (९) यतात्मा–मन तथा इन्द्रियसहित शरीर को वश में रखनेवाला (१०) योगी (११) दृढ़ निश्चयी (१२) मुझ में मन-बुद्धि अर्पित करने वाला (१३) जिससे कोई प्राणी संताप नहीं पाता (४) जो हर्ष, मत्सर, भय तथा उद्वेग से रहित है (१५) अनपेक्ष—अपेक्षा न करनेवाला (१६) पवित्र (१७) दक्ष (१८) उद्-आसीन (तटस्थ—ऊपर रहने वाला) (१९) गतव्यथः (जिसकी व्यथा दूर हो गयी है) (२०) सभी आरंभ का त्याग करनेवाला (आरंभों–माने काम्यकर्म और आरंभों का परित्याग माने सर्व कर्म सन्यास;) (२१) जो हर्ष नहीं पाता, द्वेष नहीं करता (२२) जो शोक नहीं करता और आकांक्षा नहीं करता (२४) शुभाशुभ का परित्याग करनेवाला (२५) शत्रुमित्र में तथा मानापमान में समान (२६) जाड़ा गर्मी तथा सुखदुःख में समान (२७) संगविर्वजित (सर्वत्र आसक्तिरहित) (२८) निन्दा और स्तुति में समान (२९) मौनी (मौन रहनेवाला, मनन करने वाला) (३०) अनायास ही जो कुछ मिल जाय उससे संतुष्ट (३१) अनिकेत-निकेतन की बाबत ममत्वरहित (३२) स्थिर मतिः (स्थिर बुद्धिवाला)।

ऐसे भक्त मुझे अतिप्रिय हैं ऐसा भगवान् कहते हैं। सात श्लोकों में व्यक्त इन बत्तीस लक्षणों पर अलग से एक भाष्य लिखा जा सकता है। भक्त के लक्षणों की चर्चा करनी हो तो इन सात श्लोकों को छोड़ा नहीं जा सकता; और इन सात श्लोकों की बात कर लें और दूसरे किन्हीं लक्षणों की चर्चा न करें तो भी काम चल जायगा, ऐसी भक्ति की व्याख्या यहाँ दी गयी है।

वेद से, तप से, दान से और यज्ञ से जिस ईश्वर को न पा सके उन्हें अनन्य भक्ति द्वारा तत्व, से जानकर, देखकर उनमें प्रविष्ट होकर पाया जा सकता है, यह सही है पर यह अनन्य भक्त होने की शर्त तनिक भी सरल नहीं है। नरसिंह या मीरा की बात करना आसान

है, नरसिंह या मीरा होना विकट है। इसीसे कलियुग में भक्ति फलती है, जप फलता है, सत्संग फलता है, ऐसी बातें करनेवाले या भजन गाकर या नामस्मरण करके या कथावार्ता सुनकर या घर पर संतों महात्माओं की अगवानी करके भक्ति पा गये ऐसा सोचने वाले के लिये भगवान् यह बत्तीस कसौटियाँ देते हैं, और ऐसे बत्तीस लक्षणवाले तो इसयुग कोई बिरले ही होते हैं।

१९. क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

गीता में उल्लेखनीय बात यह है कि अर्जुन के अधिकतर संशय-प्रश्न प्रथम ग्यारह अध्याय में आ जाते हैं। अन्तिम सात अध्यायों में अर्जुन की उक्तियाँ केवल पाँच हैं। और ये भी संशयात्मक नहीं, पर विस्तार से जानने की उत्सुकता से किये गये प्रश्नों के साथ की उक्तियाँ हैं।

भक्ति की महिमा की प्रतिष्ठा करने के बाद भी कृष्ण अर्जुन के समक्ष ज्ञान की महिमा घटाना नहीं चाहते। इसी से तेरहवें अध्याय में वे प्रकृति और पुरुष की लीला को और उस लीला के पार बसते परमब्रह्म को प्राप्त करने की चाभी प्रदान करते हैं। कृष्ण अनेक बार धरती के पर्यावरण में से उपमा ढूँढ लाते हैं। वे कहते हैं यह शरीर एक क्षेत्र है और उस क्षेत्र को जाननेवाले को तत्वज्ञ क्षेत्रज्ञ कहते हैं। यह क्षेत्र माया है, क्षेत्रज्ञ पुरुष अर्थात् कृष्ण ही हैं। वे तो कहते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
(गीता १३; २)

सभी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ के रूप में तू मुझे ही जान। एक बार जहाँ किसी ने विभूतियोग को ठीक से जान लिया वहाँ तत्काल ही उसे ध्यान आयेगा कि ऐश्वर्य तो सर्वत्र है; जो कुछ भी जीवन में या जगत में इष्ट है और ऐश्वर्यवान् है वह सब कृष्ण ही है। इसी से तो शरीर क्षेत्र है, पर इन शरीरों में जो जानकार क्षेत्रज्ञ है वह तो स्वयं भगवान हैं। अतः अब भगवान किसी मन्दिर या चित्र में अथवा मूर्ति या प्रतिमा नहीं है; हम सबमें जीवन्त रूप से कार्य करता तत्त्व वही कृष्ण है इस बात की प्रतिस्थापना यहाँ होती है।

सबसे पहले कृष्ण क्षेत्र की उसके विकारों के साथ जानकारी देते हैं। पहले इस क्षेत्र के बारे में अनेक ढंग से ऋषि और द्रष्टा चर्चा कर चुके हैं और कृष्ण 'समासेन' (संक्षेप में) कहते हैं। क्षेत्र शरीर, अथवा प्रकृति माने—पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश), अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त (अर्थात् माया) तथा दस इन्द्रियाँ (कान, त्वचा, आँख, जीभ और नाक ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ तथा गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ), तथा पंच इन्द्रियों से जो गोचर होता है वह (अर्थात् शब्द, स्पर्श रूप, रस तथा गन्ध); तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना तथा धृति : ये है क्षेत्र का विकारयुक्त रूप।

इस क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ भिन्न है ऐसा ज्ञान कब होता है ? जब क्षेत्र की महिमा और क्षेत्रज्ञ की महिमा समझ में आ जाय तब। इतना ही नहीं, इन दोनों का पृथक्त्व भी समझना चाहिये।

अतः अब भगवान ज्ञान के चौबीस साधन गिनवाते हैं : सबसे पहला है निरभिमानता : अपने बारे में मान का ख्याल, अहंभाव, यह जब तक अपने स्वरूप के यथार्थ का बोध नहीं है तब तक ही रहता है; एकबार जहाँ मान का झूठा ख्याल छूट जाता है तो दूसरा सोपान आता है अहंमित्वम् : दंभ न करना; तीसरा स्थान है अहिंसा का और अहिंसा के साथ ही आती है शान्ति : अर्थात् क्षमा, हम अहिंसा करें यही पर्याप्त नहीं है; दूसरे अगर हिंसा करें तो उन्हें क्षमा भी देनी चाहिये, पाँचवाँ साधन है—आर्जव अर्थात् सरलता; छठा साधन है आचार्य की उपासना, नजदीक आसन रखना, नजदीक बैठना यह ब्रह्मविद्या का महत्त्वपूर्ण भाग है, इसी से आचार्य की उपासना शब्द प्रयुक्त हुआ है; सातवाँ साधन है शौच : मन, वाणी और साथ ही देह की पवित्रता ही शौच है; आठवाँ साधन है स्थैर्य : नवम साधन है आत्मविनिग्रह : इन्द्रियों के भोग में से वैराग्य; अनहंकार, ग्यारहवाँ साधन है; (१२) जन्म, (१३) मृत्यु; (१४) जरा, (१५) व्याधि, (१६) दुःख इत्यादि दोषों का अनुदर्शन करना, इन पर मनन करना; सत्रहवाँ साधन है पुत्र, पत्नी, घर आदि में असक्ति (अर्थात् आसक्ति का अभाव); (१८) अहंकार का अभाव; (१९) इष्ट और साथ ही अनिष्ट की प्राप्ति में हमेशा समचित्त रहना; (२०)

मुझमें अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति, (२१) विविक्त देश अर्थात् एकान्त और पवित्र स्थान का सेवन; (२२) जनसंसद में अरति (भीड़ में शामिल होने के प्रति अरुचि); (२४) तत्त्वज्ञान के अर्थ का दर्शन; ये चौबीसों साधन की बाबत गहरे उतरकर मनन करने लायक है। ये ज्ञान के साधन हैं और इनसे जो विपरीत है वह अज्ञान है। ज्ञान के ये चौबीस साधन निरहंकारता से आरम्भ होते हैं और उनकी पराकाष्ठा आती है तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन के साथ। यह गति भी शोध करने के लायक है। ज्ञानमार्ग के ये चौबीस सोपान कृष्ण समझाते हैं।

ये चौबीस सोपान जो भी कोई एक बार पार कर लेता है उसे तुरत ही ख्याल आता है—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

(गीता १३; १७)

सभी भूतों में—अर्थात् लोगों में—विभक्त की तरह रहता दिखाई पड़ता है पर हकीकत में वह अविभक्त है, वही सर्वभूतों का प्रभव करने वाला है, वही सर्व का संहारक है।

ब्रह्मा विष्णु और महेश, ये कोई तीन, विशेष नाम नहीं हैं, ये तो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में बसे भगवान के सर्वनाम हैं! अविभक्त–ऐसे ये प्रभु सब में एक बराबर हैं, फिर भी प्रतीत होते हैं विभक्त।

ये भगवान ज्योतियों की भी ज्योति हैं : तमस–अंधकार से वे दूर हैं : और—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्।

(गीता १३; १८)

ज्ञानस्वरूप है, अतः वह ज्ञेय (जानने योग्य) है : और ज्ञान से पाया जा सकता है। पर क्या वह दूर है? नहीं, वह तो हृदय में ही अधिष्ठित हुआ है। सब के हृदय में वह स्थित हुआ है।

भगवान की तलाश बाहर मंदिर में या अन्यत्र कहीं नहीं करनी है, वे तो हमारे अंदर ही बसे हैं जिसे यह ज्ञान हो जाता है वह 'सर्वथा वर्तमानः' (सब प्रकार से वर्तन करता) हो तो भी पुनः जन्म नहीं

लेता। यह जानने योग्य बात है : यह किस प्रकार जानी जा सकती है ? सबके हृदय में अधिष्ठित प्रभु के इस स्वरूप का साक्षात्कार किस प्रकार से हो सकता है ?

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

(गीता १३; २४)

पहला स्थान 'आत्मना' (आत्मा द्वारा) ध्यान को दिया गया है। आत्मा द्वारा ध्यान करने से वह आत्मा में आत्मा का साक्षात्कार करता है। आत्मा शब्द का यहाँ तीन बार प्रयोग हुआ है। पर अर्थ शायद अनेक गुना अधिक है। आत्मा द्वारा ध्यान और यह उसके द्वारा आत्मा में आत्मा का साक्षात्कार यह सब लोग नहीं कर सकते। सांख्य द्वारा अर्थात कि ज्ञान के साधनों द्वारा, योग द्वारा अर्थात कि भक्ति द्वारा, अथवा कर्मयोग द्वारा। योग और कर्मयोग में जहाँ जहाँ कृष्ण विवेक करते हैं वहाँ नीचे रेखांकित करने लायक है। योग, भक्ति ये परम स्थिति है। पर यह सम्पन्न नहीं हो सकता। वह तमाम कर्म तो करे परंतु उस कर्म का योग भगवान के साथ करे ! इससे उसके प्रश्न टल जाते हैं। पर यह सब भी जो न कर सके उसका क्या ? तो भगवान सबसे सरल साधन बताते हैं : अन्येभ्यः श्रुत्वाः।

दूसरों से जो सुनता है और श्रुति पारायण होता है वह भी इस मृत्यु को तिर जाता है।

कृष्ण गीता में तमाम प्रकार के मुमुक्षुओं को समेट लेते हैं। वे ज्ञानियों की महिमा बताते हैं; योग कर सकने वाले की अनन्यता स्थापित करते हैं। कर्मयोग की प्रतिष्ठा करते हैं। इतना ही नहीं, पर ये सब न कर सके उसका क्या ? दूसरों से जो श्रवण करता है उसे भी मृत्यु से तिर जाने का अवसर है, यह बात कहकर उन्होंने केवल श्रवण मात्र की महिमा बढ़ायी। एकदम अज्ञानी हो, पर वह प्रभु के साथ योग की महिमा सुने तो भी मृत्यु के पार उतर जाय। ज्ञान आदमी के पास अनेक मार्गों से आता है। और इसमें श्रुति परंपरा की महिमा तनिक भी कम नहीं है।

तो यह ज्ञान कौनसा ज्ञान है ?

यथा प्रकाशयत्येक : कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।
(गीता १३; ३३)

जैसे एक ही सूर्य इस संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है उसी प्रकार एक ही क्षेत्री संपूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

अतः मुख्य बात है क्षेत्र अर्थात् कि शरीर और उसके स्थूल अंश तथा क्षेत्रज्ञ अर्थात् ईश्वर और उसके स्थायी अंशों के बीच विवेक करने की। क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का भेद जिसे समझ में आता है उसे सब समझ में आ जाता है।

कृष्ण गीता में सब कुछ निचोड़ कर कहते हैं : प्रथम छ अध्यायों में जो बात कही उसी को बाद के बारह अध्यायों में सतत घोटते हैं। यह बात वे बार-बार दुहराकर कह रहे हैं, यह तथ्य कृष्ण के ध्यान से अलक्षित नहीं है। वे कहते हैं : 'परं भूयः प्रवक्ष्यामि' (मैं यह परम ज्ञान तुझसे फिर कहूँगा) यह 'भूयः' शब्द गीता में बारंबार आता है।

कृष्ण पुनः पुनः जो कुछ कहते हैं उसमें मूल बात का आवर्तन मात्र नहीं है। पहले कही हुई बात जब वे दुहराकर कहते हैं तब उसमें थोड़ा नया अर्थ उमगता होता है : इसी से सांख्य, कर्म, ऐश्वर्य इन सबकी बात गीता में क्रमशः विकसती जाती है।

२०. अश्वत्थ--संसार-वृक्ष

कृष्ण अर्जुन से कोई बात उसे पट्टी पढ़ाने के हित नहीं कहते। वे जो कुछ समझाते हैं तत्त्व से समझाते हैं। वे जो कुछ कहते हैं वह ज्ञान के संदर्भ में कहते हैं। इसीसे वे अर्जुन से ज्ञानों में जो उत्तम ज्ञान है वह बताते हैं : यह ज्ञान किसलिये उत्तम है यह बात भी कृष्ण उसी साँस में कह देते हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपिनोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।
(गीता १४;२)

इस ज्ञान का आश्रय लेकर जो भगवद्स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं वे सर्ग के समय, अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति के समय उत्पन्न नहीं होते

और प्रलय में व्यथा नहीं पाते : भगवान् के स्वरूप के साथ साधर्म्य हो उसे नये सिरे से उत्पन्न होने की भवितव्यता नहीं रहती, यह तो है ही। और प्रलय में सभी कुछ व्यथित होता है, पर प्रभु अविक्षुब्ध रहते हैं। इसीसे तो भगवान् के साथ जिसके स्वरूप का सायुज्य है इसकी महिमा कहने के बाद कृष्ण इस सृष्टि का रहस्य एकदम सरल शब्दों में कह देते हैं।

महद्ब्रह्म कृष्ण की योनि है : इसमें वे गर्भ स्थापित करते हैं और उसमें से इस सृष्टि की रचना होती है। अतः इस सृष्टि के बीजप्रद पिता कृष्ण हैं। यह महद्योनि, महामाया अथवा प्रकृति तीन गुणों में से किसी न किसी से आबद्ध है। ये तीन गुण हैं सत्त्व, रज तथा तम। सत्त्व इन तीन गुणों में श्रेष्ठ है, पर वह भी मानव को सुख और ज्ञान के साथ बाँधता है, रज कर्म के साथ बाँधता है, जब कि तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बाँधता है। इनके फल अनुक्रम से निर्मल, दुःख रूप और अज्ञानरूप हैं। इन गुणों में सत्त्वगुण में विशेषता अवश्य है, पर अंततः तो सत्त्वगुण भी बाँधने वाला तथ्य है। आदमी सुख से भी बँधता है, ज्ञान से भी बँधता है। पर जब मनुष्य गुणातीत बनता है, तब वह कृष्ण के भाव को प्राप्त करता है। गुणातीत के लक्षण—हम इस सूची का अन्वेषण नहीं करेंगे, पर 'न द्वेष्टि, न कांक्षति' यह उसका आधार है। वह न द्वेष करता है, न इच्छा करता है। गुणों में के अनुवर्तनों को निहारकर विचलित न होने वाले के लिये कृष्ण कहते हैं :

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।

(गीता. १४; २५)

सभी आरंभों का परित्याग—इस शब्द द्वारा कृष्ण बहुत बड़ा सत्य कहते हैं। हम जब किसीका आरंभ विचारते हैं तब उसके मध्य और अंत की झंझट में पड़ना ही पड़ता है। आरंभ मंगलमय हो तो भी अन्त तक मंगल रहेगा ही इसका आश्वासन कौन देगा ? अतः सभी आरंभों का परित्याग यह बहुत बड़ी बात है।

गीता का प्रारम्भ कृष्ण बहुत धीमे स्वर में करते हैं। पर ज्यों-ज्यों वे अपना ऐश्वर्य ज्ञान के द्वारा अर्जुन को समझाते जाते हैं त्यों-त्यों वे अपनी बात निखालिस रूप से प्रकट करते चलते हैं। इसी से कृष्ण की प्रारंभिक उक्ति में अकारण नम्रता नहीं है, उनकी बाद की, खास

करके विश्वरूपदर्शन के बाद की उक्ति में अघटित अहंकार कहीं है। वे त्रिगुणात्मिका प्रकृति तथा गुणातीत भक्त की बात अगले अध्याय में चौबीस क्षेत्रों और पचीसवें क्षेत्र की तरह ही कहते हैं, पर इसमें पुन-रुक्ति नहीं है; पर हृदय में बात उतर जाय इस हेतु घोंटा हुआ कथन है।

विष्णुसहस्रनाम में, लगभग अन्त में विष्णु का वृक्षात्मक नाम आता है।

न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थश्चाणूरांध्रनिषूदन।

(वि० स० नाम, ८८)

अश्वत्थ, यह विष्णु का वृक्षात्मक नाम है। शंकर इसकी सुन्दर व्याख्या करते हैं:

न श्वः अपि स्थाता इति अश्वत्थः

वह रहेगा ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता इस कारण वह अश्वत्थ है। इस अश्वत्थ का वर्णन कृष्ण अद्भुत ढंग से करते हैं:

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

(गीता १५; १)

उसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखाएँ नीचे हैं, यह अश्वत्थ अव्यय है। यह संसार क्षणभंगुर है यह बात समझाने के बावजूद की विभावना तो अव्यय—अविनाशी है इस सत्य को कृष्ण उड़ा नहीं देते। उसके पत्ते छन्द है अर्थात् वेद हैं, अथवा यह काव्यात्मक अर्थ जिसे न रुचे उसके लिए वदोक्त किया है। वेद के छन्दों की इस अश्वत्थ के पत्तों से तुलना करनेवाले कवि की सामर्थ्य देखने लायक है; ऐसे अश्वत्थ को जो जानता है वह वेद-विद्—वेद को जाननेवाला, अथवा जो जानने योग्य है उसे जाननेवाला है।

किसीने बड़े सरल ढंग से यह बात समझायी है। यह अश्वत्थ अव्यय है—यह अविनाशीपन उसके वास्तविक रूप में है। पर नदी के तट पर पीपल उगा हो और उसका जल में प्रतिबिम्ब पड़े तो जड़ ऊपर दिखेगी और शाखाएँ नीचे; तो यह प्रतिबिम्ब वह सत्य नहीं है।

अश्वत्थ संसार-वृक्ष, उसकी क्षणभंगुरता और उसका अविनाशीपन

यह सब तो पलभर में समझ में आ जाता है। बहेलिये के तीर से कृष्ण बिंध जा सकते हैं यह अश्वत्थ की क्षणभंगुरता है, पर आज पाँच हजार वर्ष के समयान्तर के पार से कृष्ण प्रसारित हो हमारे साथ बात कर सकते हैं, यह कृष्ण का अविनाशीपन है।

कृष्ण हमेशा जानने पर जोर देते हैं। 'विद्' शब्द कोई अकारण ही गीता में इतनी बार नहीं आया है।

इस अश्वत्थ को उसके क्षणभंगुर रूप में साथ ही अविनाशी रूप में जानना यह सबसे अधिक महत्त्व की बात है। यह कौन जान सकता है? और जो जान जाते हैं, तब कौन-सी गति प्राप्त करते है?

एक-एक शब्द पर अटकना पड़े ऐसे ये गुणविशेष हैं। सर्वप्रथम तो वह निर्मानमोहा—मान या मोह बिना का होना चाहिये; फिर वह जितसंगदोषा—आसक्ति से उपजे रागादि दोषों को उसने जीता होना चाहिये; सुख और दुःखनामक संज्ञा धारण करते द्वंद्व से उसे विमुक्त होना चाहिये; वह विनिवृत्तकामा—वासनाएँ जिसकी निवृत्त हुई हैं ऐसा होना चाहिये; अध्यात्मनित्या, नित्य अध्यात्म में स्थित होना चाहिये तथा अमूढ़ होना चाहिये; ऐसा मनुष्य मेरे 'अव्यय' पद को प्राप्त करता है और यह पद कौन-सा है? वहाँ "न तत् भासयते सूर्यो" ऐसा कहकर कृष्ण उस परमधाम का वर्णन करते हैं।

पर शरीर छोड़कर इस धाम में जाना यह एक स्थिति है, शरीर में रहना यह दूसरी स्थिति है, पर विमूढ़—अज्ञानी लोग यह नहीं देख सकते। जिसके पास ज्ञान-चक्षु हो वह इसे देख सकता है।

ज्ञानचक्षु से क्या देखने का है?

> ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
> मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥
>
> (गीता १५; ७)

जीवलोक में मेरा ही अंश जीवरूप में सनातन है!

यहाँ जीवात्मा की अद्भुत गति का कृष्ण वर्णन करते हैं। जीव और शरीर, इन दोनों की भिन्नता और इसके साथ ही "आकार देने के बाद भिन्ननामरूप" की बात यहाँ आती है। जीवात्मा के तीन शरीरों की कल्पना शंकर ने की है—कारण-शरीर, लिंग-शरीर और

स्थूल-शरीर। मृत्यु के समय स्थूल-शरीर विनष्ट होता है, पर लिंग-शरीर तो उस समय, वायु जैसे गन्ध को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार जीवात्मा मन-सहित इन्द्रियों को ग्रहण करता है। कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक आदि का आश्रय लेकर जीवात्मा स्थूल शरीर के साथ अनुबन्धित रहता है। जैसा शरीर, वैसा आकार। मृत्यु के समय यह स्थूल-शरीर नाश प्राप्त करता है। और जो कृष्ण को तत्त्व से जानते हैं उनके लिए लिंग-शरीर भी नाश प्राप्त करता है और तब जीवात्मा उस परमजीव, जिसका वह अंश है, उसमें एकरूप हो जाता है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।

(गीता १५; १८)

कृष्ण क्षर में भी अतीत है; क्षर, नाशवंत में जो अतीत हैं ऐसे कृष्ण तो फिर अक्षर हैं—ऐसा प्रश्न सहज ही उठता है। तभी कृष्ण कहते हैं :

अक्षर से भी मैं उत्तम हूँ।

कृष्ण पुरुषोत्तम के नाम से प्रकीर्तित हैं : उनके इन दो गुणों के कारण : वे क्षर से अतीत हैं, अक्षर से उत्तम हैं, वे लोक और वेद में पुरुषोत्तम के नाम से जाने जाते हैं।

ख्याति केवल लोक में हो तो व्यर्थ, मात्र वेद में हो तो भी उसकी महिमा कम, पर लोक में ख्याति हो और उसको वेद का आधार मिले मिले तब कहने को क्या कुछ बाकी रह जाता है ?

२१. गुह्याद्‌ह्यतर ज्ञान

गीता में कृष्ण और अर्जुन के सम्बन्धों का विकास जिस भूमिका पर होता है वह भी शोध करने लायक विषय है : कृष्ण एक बार एक उल्लेख करते हैं; पुनः जब दूसरी भूमिकाएँ रचने के बाद उन्हें समझने की पात्रता अर्जुन में दिखने लगती है तब उनकी बाबत चर्चा करते हैं ऐसा बारम्बार होता है। नौवें अध्याय में दैवी और आसुरी प्रकृति का सरसरी तौर पर उल्लेख है। उसी के बारे में सोलहवें अध्याय में चर्चा आती है।

सोलहवें अध्याय का तो आरम्भ ही दैवी सम्पत्ति के चौबीस गुणों के वर्णन से होता है। अभय, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञान और योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति (इन प्रत्येक प्रकरणों का नाम गिनाकर फिर प्रत्येक पर एक ग्रन्थ लिखा जा सके इतना भाष्य इन पर हुआ है, हो सकता है। इससे हम अनजान नहीं रह सकते), दान, संयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, अहिंसा, अक्रोध, शान्ति, भूतदया, लज्जा, मार्दव, व्यर्थ चेष्टाओं में अचपलता, अलोलुपत्व, त्याग, चुगली न खाना, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह और निरभिमानिता—ये चौबीस लक्षण दैवी प्रकृति के हैं; जब कि दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी और अज्ञान—ये छः आसुरी प्रकृति के लक्षण हैं। दैवी प्रकृति मोक्ष के लिये है और आसुरी प्रकृति बन्धन के लिये। दैवी प्रकृति के गुणों का जो आश्रय लेता है वह स्वाभाविक रूप से मोक्ष की ओर गति करता है, जब कि आसुरी प्रकृति के गुणों का आश्रय लेनेवाला अधिकाधिक बन्धन में फँसता जाता है।

कृष्ण अर्जुन को वह विकल हो उससे पहले आश्वासन देते हैं: तेरी प्रकृति दैवी है अतः तेरे लिए चिन्ता का कोई कारण नहीं है।

आसुरी प्रकृतिवाले प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते; यह बात जब कृष्ण कहते हैं तब दुर्योधन की वह प्रसिद्ध उक्ति 'जानाम्यधर्मं न च में निवृत्तिः, न च में प्रवृत्तिः' याद आ जाती है। आसुरी प्रकृति के लिये यह जग 'अप्रतिष्ठम्'—धर्म या अधर्म की प्रतिष्ठाविहीन, साथ ही 'कामहैतुकम्'—मात्र भोगने के लिये है।

कृष्ण अर्जुन को आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्यों, उनका अभिमानी स्वभाव, उनका धनमानमदान्वितपन, दम्भवश मात्र नाम के लिए यज्ञ करने की प्रकृति, यह सब कहने के बाद कहते हैं:

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६; २१)

काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरक के द्वार हैं, अतः इन तीनों का त्याग करने को कृष्ण अर्जुन से कहते हैं।

तब विकल्प क्या है?

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।
(गीता १६; २४)

कार्य और अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिये। शास्त्र-विधान में कहे गये कर्मों को जानकर ये ही करने योग्य हैं ऐसा मानना चाहिये।

कृष्ण शास्त्र को ही आधार मानते हैं। शास्त्र का विधान जैसा हो वैसा ही करना चाहिये, इसमें कर्म-बन्धन नहीं आता। आदमी जीवित रहता है तब तक उसे साँस लेना ही पड़ता है और जीने के लिए कर्म करना ही पड़ता है। अतः कौन-सा कर्म करना इस विषय में कृष्ण तनिक भी अस्पष्ट नहीं हैं। वे शास्त्र को प्रमाण के रूप में आगे रख देते हैं।

गीता का सत्रहवाँ अध्याय तीन प्रकार की श्रद्धा या निष्ठा की गहराई में ले जाता है। सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों की बात तो कृष्ण पहले कर चुके हैं, कृष्ण शायद इसमें और आगे न जाते, पर अर्जुन को यह शास्त्र-विधान का प्रश्न जरा कठिन प्रतीत हुआ। अतः व्यक्ति क्या शास्त्रविधानोक्त न करे फिर भी श्रद्धान्वित होकर ही भगवान् की भक्ति करे, उसकी निष्ठा कैसी है इस प्रश्न का उत्तर पाने की उसे इच्छा होती है; अतएव उसके इस प्रश्न के उत्तर में त्रिगुणात्मक निष्ठा और दैवासुर-सम्पत्ति की पूरी बात कृष्ण पुनः विस्तार से समझाते हैं। पर कृष्ण हर बार उसमें अपनी नयी विशिष्टता तो उभारते ही हैं। वे यहाँ पुरुषों के, उनकी रुचियों के यज्ञ के, तप और दान आदि के भेद समझाते हैं। प्रत्येक क्रिया आहार, विहार सहित सात्त्विक, राजसी और तामसी तीन प्रकार से हो सकती है। हम इनमें से केवल यज्ञ के भेद लें; कारण यह कि यज्ञ शब्द समाज की क्रिया है। इसका समाज-संचालन के बल के अर्थ में कृष्ण बारम्बार प्रयोग करते हैं। कृष्ण के शब्दों का अर्थ यज्ञ के सन्दर्भ में लोक-सेवा भी किया जा सकता है। अतः तीन प्रकार के यज्ञभेद देखें।

यज्ञ करना ही चाहिए ऐसी आकांक्षा से, विधिदृष्टः (विधि में बताये ढंग से) जो यज्ञ फल की आकांक्षा बिना होता है वह सात्त्विक हैं; फल को उद्देश्य बनाकर और दंभ के लिए जो यज्ञ होता है वह

राजसी है। पर जो यज्ञ विधिहीन, असृष्टान्न, मंत्रहीन, अदक्षिण तथा श्रद्धाविहीन हो वह तामसी यज्ञ है।

इस अध्याय में सामान्य ढंग से प्रयुक्त 'ॐ तत् सत्' (वही सत्य है) ऐसे शब्द-समूहों का अर्थ दिया गया है। इस सत् (है) का अर्थ कृष्ण जिस ढंग से समझाते हैं वह तनिक ठहरकर देखने योग्य है :

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छन्दः पार्थ युज्यते ॥

(गीता १७; २६)

सत् ऐसा यह परमब्रह्म का नाम सद्भाव से और साधुभाव से प्रयुक्त होता है; तथा हे पार्थ, उत्तम कर्म में भी सत् शब्द का प्रयोग होताहै। 'तत् सत्'—उस सत्‌रूपी परमब्रह्म की साधना है यही महत्त्व की बात है। इस तत् को जानना, यह तत् है यह प्रमाणित करना यही बड़ी बात है।

अब अर्जुन के पास बहुत प्रश्न नहीं रहे हैं। पर उसे अब तक पहले सत्रह अध्यायों में कृष्ण ने जो समझाया, उसे पुनः एक बार कृष्ण के स्वमुख से सुनना है; अतः वह जो प्रश्न करता है उसका स्वरूप अवलोकनीय है :

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥

(गीता १८; १)

सर्वप्रथम तो इस श्लोक में कृष्ण को किये गये तीन उद्बोधनों को ध्यान से देखना चाहिये : महाबाहो, यह प्रथम उद्बोधन है। वह कृष्ण के प्रताप को स्वीकार करता है। हृषीकेश अर्थात् अन्तर्यामी यह दूसरा उद्बोधन है। और कृष्ण को अर्जुन पूर्णरूपेण जानता है यह बताने हेतु कृष्ण ने छल से अश्व का रूप धारण करके केशीनामक दैत्य को मारा था, अतः 'केशिनिषूदन' यह तीसरा उद्बोधन आता है। इन तीन उद्बोधनों में कृष्ण के प्रताप और प्रभाव के साथ वे अन्तर्यामी हैं अतः अर्जुन को जो कुछ जानना है वह सब बताने में वे समर्थ हैं यह सत्य भी आ जाता है। इस प्रकार अर्जुन का आधा प्रश्न तो इन तीन उद्बोधनों में ही आ जाता है, बाकी आधे में वह पूछता है : मुझे संन्यास का तत्त्व जानना है, मुझे त्याग का तत्त्व भी जानना है; पर

आप दोनों को अलग करके बात करें। आप जो बात कहते हैं उसमें संन्यास और त्याग दोनों शब्दों का अर्थ अभी मेरे मन में स्पष्ट नहीं हुआ है।

तत्त्व से जानने की बात तो अब अर्जुन के मन में पैठ गई है। अतः वह संन्यास और त्याग दोनों शब्दों को अलग-अलग, पर तत्त्व के साथ जानना चाहता है। समूची गीता में अर्जुन ने जो अनेक प्रश्न किये उनमें यह अन्तिम प्रश्न है।

समूची गीता में सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय कौन सा है ? कोई पन्द्रहवें अध्याय की महिमा गाता है। कुछ लोग तो यह कहते हैं कि केवल पहले छः अध्यायों में ही मूल गीता है; बाद के अध्यायों में कृष्ण वही बारम्बार दुहराकर कहते हैं।

गीता का अठारहवाँ अध्याय गीता के पूर्ण निष्कर्ष की दृष्टि से शायद सबसे महत्त्व का अध्याय है। इसमें कृष्ण अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में स्वयं जो कुछ अब तक कहा उसका निष्कर्ष दे देते हैं। हम त्वरित दृष्टि से इस अध्याय के शिखरों पर दृष्टिपात करें। 'काम्य कर्मों का न्यास वही संन्यास है, ऐसा जानकार कहते हैं' कृष्ण के एक-एक शब्द को तौलकर देखने लायक है और 'सर्व कर्म के फल के त्याग' को विचक्षण लोग त्याग कहते हैं।

'विदुः' तथा 'विचक्षणाः' इन दो शब्दों में आप किस पर बल देंगे ? विदुः माने जानकार और विचक्षण विचार-कुशल भी है। सभी कर्मों का न्यास करना ऐसा जानकर कहते हैं, परन्तु यज्ञ, दान, तप इत्यादि कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं ऐसा अन्य लोग कहते हैं।

कृष्ण ये दो मार्ग बताकर रुक नहीं जाते। वे अपना उत्तम मत व्यक्त करते हैं :

> एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
> कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
>
> (गीता १८; ६)

यह सब—अर्थात् यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं; पर इन्हें संग (अर्थात् आसक्ति) तथा फल को त्यागकर करना चाहिये। कृष्ण बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि मनुष्य-देह कर्म का संन्यास करे तो भी देह को बनाये रखने के लिए कर्म तो करने ही

पड़ेंगे। साँस लेना ही पड़ेगा तो फिर कर्म में विहित और अविहित की अपेक्षा आसक्त और निरासक्त यह भेद मुख्य है। कोई भी कर्म उसके फल की आशा बिना किया जाय तो वह बन्धन करनेवाला नहीं होता, यह बात कृष्ण पहले भी कह चुके हैं। अब वे कौन से कर्म हैं यह स्पष्ट करते हैं; यज्ञ, दान और तप, ये तीन प्रकार कर्मफल की आकांक्षा बिना करने चाहिये। यज्ञ माने उपासना, अग्नि, तेज, आकाश आदि के साथ यज्ञ का सम्बन्ध है। दान माने देना। यह यज्ञ की दूसरी मंजिल है और उपासना की सबसे उत्तम मंजिल है 'तप'। इन त्रिविध कर्मों का त्याग वांछित नहीं है; हाँ, फलाकांक्षा के साथ ये कर्म न होने चाहिये। परन्तु केवल मोहवश इन कर्मों का त्याग करें तो ये तामसी त्याग हैं: काया के क्लेश के भय से यदि त्याग करें तो वह राजसी त्याग है; पर आसक्ति और साथ ही फल तजकर कर्म किये जायँ तो वह सात्त्विक प्रकार का त्याग है। फिर वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं:

> न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
> यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।
>
> (गीता १८; ११)

देहधारी के लिए सभी कर्मों का त्याग शक्य ही नहीं है; जो कर्मों का त्याग करते हैं वे ही सच्चे त्यागी है।

अब देहधारी के लिए त्याग सम्भव ही नहीं है इस भूमिका पर ही आगे बढ़ें तो कर्म-फल का त्याग न कर सकनेवाले अत्यागी को मृत्यु के बाद त्रिविध कर्मों का फल मिलता है; पर जो संन्यासी है, अर्थात् जो कर्म करते ही नहीं हैं ऐसा मानते हैं, फिर भी उन्हें कर्म तो करने ही पड़ते हैं, उन्हे कर्म का फल किसी भी काल में नहीं मिलता। आगे कृष्ण कहते हैं:

> सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
> सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।
>
> (गीता १८; ४८)

हे अर्जुन, जो कर्म सहज होते हैं वे दोषयुक्त हों तो भी छोड़ने नहीं चाहिए।

यहाँ कृष्ण निरासक्त कर्म के लिए सबसे विशाल व्याख्या स्थापित कर देते हैं। जो कर्म सहज, स्वाभाविक, स्वकर्म, स्वभावनियत कर्म

हों उनमें दोष हो तो भी उनसे डरना नहीं चाहिये। अहिंसा ग्राह्य गुण है, पर साँस लेने में हिंसा होती है अतः यह दोषयुक्त कर्म है ऐसा मानकर उसे छोड़ नहीं दिया जा सकता। अतः सहजकर्म दोषयुक्त हो तो भी करना चाहिये।

यह कहने के पश्चात् कृष्ण मन को प्रबोध करते हैं कि दृष्टरूप से दोषमुक्त प्रतीत होते कर्म भी अन्ततोगत्वा किसी न किसी दोष से युक्त होते ही हैं। सर्वारम्भा–अर्थात् सभी आरम्भ, सभी कर्म जैसे अग्नि धुएँ से आवृत्त होती है वैसे दोष से आवृत्त तो होते ही हैं।

अब कृष्ण हमें और अर्जुन दोनों ही को मूल परिस्थिति से जोड़ते हैं। यह सब बात हो रही है तब वास्तव में तो कृष्ण दो महासैन्यों के बीच रथ स्थापित करके खड़े हैं, और अर्जुन ने 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहकर हथियार नीचे रख दिये हैं। इन सब ज्ञान-वचनों के बाद कृष्ण अब कटु सत्य कहते हैं। यह बात कृष्ण पहले भी कह सकते थे, पर तब अर्जुन को उसकी महिमा समझ में न आयी होती। पर अब संयोग बदल गये हैं। कृष्ण कहते हैं :

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

(गीता १८; ५९)

अहंकार का आश्रय लेकर 'मैं नहीं लड़ूंगा' ऐसा तू मानता है, तो यह व्यवसाय मिथ्या है। तेरी प्रकृति, तू क्षत्रिय है अतः तेरा सहज स्वभाव तुझे (अनिच्छापूर्व भी) युद्ध के साथ जोड़ेगा ही।

अब कृष्ण अर्जुन के समक्ष दो ही विकल्प छोड़ते हैं। एक तो परवश होकर कर्म करने का विकल्प है। दूसरा है कर्मफल का त्याग करके सच्चे त्यागी की भाँति कर्म करना।

यह सब कहने के बाद भी कृष्ण अर्जुन को 'तू युद्ध कर' ऐसी आज्ञा तो नहीं ही देते हैं :

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

(गीता १८; ६३)

इस प्रकार गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान मैंने तुझे दिया; अब 'एतत्'—इस ज्ञान पर अशेष (पूर्ण) विचार कर, और तब तुझे जो योग्य लगे वही

कर। कृष्ण कहते हैं इसलिये अर्जुन कुछ भी करे ऐसा कृष्ण लेशमात्र भी नहीं चाहते। केवल कृष्ण जो कहते हैं उस पर वह अशेषतापूर्वक विचार करे। यह विचार करने के बाद उसकी इच्छा में आये वैसा ही वह करे।

तथापि कृष्ण 'इच्छा में आये वैसा कर' ऐसे निर्वेद के साथ अर्जुन का त्याग नहीं करना चाहते। वे अर्जुन को चाहते हैं, अतः फिर से केवल दो श्लोकों में समूची गीता का निचोड़ कह डालते हैं। गीता में कृष्ण ने पुनरावर्तनों से काम लिया है और इनमें सबसे ज्यादा घोटा गया पुनरावर्तन इन दो श्लोकों में है। इनमें का प्रथम श्लोक नौवें अध्याय में आ चुका है, पर यहाँ सूक्ष्म लेकिन ठोस परिवर्तन के साथ यह श्लोक आता है :

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

(गीता १८; ६५)

मेरे मन लायक—मन्मना—बन, मेरा भक्त बन; मेरा यजन करनेवाला बन; मुझे नमस्कार कर, ऐसा करने पर तू मुझे ही प्राप्त करेगा।

यह सब तो कृष्ण ने पहले भी कहा था; पर अब अर्जुन के प्रति प्रेम की वैयक्तिक और ऐश्वर्ययुक्त खनक आती है।

ये सब शब्द जो मैं कहता हूँ, पोले नहीं हैं; ये सत्य हैं और मैं तुझे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ।

कृष्ण को प्रतिज्ञापूर्वक कहने की जरूरत नहीं थी। कृष्ण कहते कि यह सत्य है, इतना ही पर्याप्त था। फिर भी कृष्ण यह प्रतिज्ञापूर्वक क्यों कहते हैं ? कारण यह कि तू मुझे प्रिय है।

अर्जुन स्वयं को प्रिय है इसीसे पूर्व-उच्चारित शब्दों का प्रतिज्ञापूर्वक पुनः कथन अनोखी महिमा धारण कर लेता है।

इसके बाद का श्लोक है :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता १८; ६६)

यह बहुत प्रसिद्ध हुआ वचन है, इसकी बाबत बहुत कुछ लिखा जा चुका है। पर कृष्ण यहाँ अर्जुन से सब धर्मों को त्यागकर शरणागत होने की बात कहते हैं, इसकी विशेष महिमा है। धर्म तो अनेक हो

सकते हैं। परन्तु हरेक धर्म को आचरण में लाने जायँ तो उलझन हो जायगी। कृष्ण अर्जुन को परेशान नहीं करना चाहते, अतः केवल 'मेरी ही शरण में जा' ऐसा कहते हैं।

आगे कृष्ण स्वयं गीता के माहात्म्यस्वरूप चार श्लोक कहते हैं, इनमें से तीसरे के पास हम तनिक ठहरें। तात्पर्य यह कि पहले बार-म्बार यज्ञ शब्द आया तब जितनी स्पष्टता नहीं हुई इतनी असीम स्पष्टता यहाँ इस शब्द को मिलती है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामितिमे मतिः॥

(गीता १८; ७०)

हम दोनों के इस धर्मयुक्त संवाद का जो कोई भी अध्ययन करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञान-यज्ञ द्वारा पूजित हुआ हूँ ऐसा मेरा मत है : विधि-यज्ञ, जप-यज्ञ, उपांशु-यज्ञ तथा मानस-यज्ञ ये चार प्रकार के यज्ञ हैं। ज्ञान-यज्ञ ही मानस-यज्ञ है, अतः इन चारों में श्रेष्ठ है। इस प्रकार अध्ययन यह भी एक यज्ञ है।

अर्जुन ने यह सुना, यह उसने मन में ग्रहण किया होगा या उसका मोह नष्ट हुआ होगा इस विषय में कृष्ण स्वयं कोई निश्चयात्मक कथन नहीं करते; वे तो 'शायद तूने यह ज्ञान एकचित्त से सुना होगा, शायद तेरा ज्ञानसंमोह नष्ट हुआ होगा', इस ढंग से कहते हैं। कृष्ण हृषीकेश हैं—अन्तर्यामी हैं। फिर भी वे अर्जुन को अपना निर्णय स्वयं लेने देना चाहते हैं। अपनी सर्वोपरिता का साक्षात्कार कराने के बाद भी वे 'कदाचित्' ऐसी भाषा में बात करना पसन्द करते हैं, पर अब अर्जुन के लिये 'कदाचित्' और 'क्यों' ऐसे शब्द नहीं बचे हैं। उसे अब संन्यास, त्याग आदि बातों का अर्थ समझ में आ चुका है। वह कहता है :

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(गीता १८; ७३)

अर्जुन द्वारा कृष्ण के लिये प्रयुक्त सम्बोधनों का स्थान और यथार्थता भी गीता के अध्ययन का एक विषय बन सकता है। यहाँ शरणागति के सर्वोपरि उद्गार जैसे इस श्लोक में अर्जुन कृष्ण को 'अच्युत'—जो कभी भी 'च्युत' नहीं होते इस स्वरूप में देखता है और कहता है :

'हे अच्युत, आपके प्रसाद से, आपकी कृपा से मेरा मोह विनष्ट हुआ है; मेरी स्मृति वापस मिली है, मैं स्थिर हुआ हूँ। आपके वचन का मैं पालन करूँगा।'

यहाँ यह अद्भुत रोमहर्षक संवाद सम्पूर्ण होता है।

कृष्ण और अर्जुन के सम्बन्धों में यह संवाद एक नया आयाम उकेरता है। कृष्णार्जुन-सम्बन्धों के अनेक रूप इससे पहले उभरे हैं। कृष्ण ने सुभद्रा के हरण के लिये अर्जुन को प्रेरित किया उस घटना से शुरू करके अब तक के दोनों के संबंधों में अनेक नयी दृढ़ताएँ आयी थीं। पर गीता पराकाष्ठा है। यहाँ कृष्ण कृष्णरूप में स्पष्ट होते हैं, अर्जुन अर्जुनरूप में। दोनों ही देहधारी हैं, तो भी कृष्ण देहधारी भगवान् हैं और अर्जुन देहधारी मनुष्य है। यह भेद यहाँ स्पष्ट होता है।

कृष्ण अपना ऐश्वर्य प्रकट करते हैं तो भी उस ऐश्वर्य से वे अर्जुन को बाँधना नहीं चाहते। अर्जुन के व्यक्तित्व को वे निर्बंध रखते हैं, और इसीसे अर्जुन की शरणागति की महिमा है। गीता पूरी होती है, तत्काल ही युद्ध आरम्भ होता है। सिर्फ युद्ध को देखने की हमारी दृष्टि तनिक बदल जाती है:

> ततो धनञ्जयं दृष्ट्वा बाणगाण्डीवधारिणं।
> पुनरेव महानादं व्यसृजन्त महारथाः॥
>
> (भीष्म०, ४३; ६)

धनंजय को बाण गाण्डीव धारण किया देखकर महारथी पुनः एक बार महानाद करने लगते हैं।

२२. गुरुजनों के आशीर्वाद

हिन्दू-धर्म का सर्वोत्तम ग्रंथ गीता युद्ध की भूमि पर रचा गया। हमारे यहाँ कहावत है 'रकाब में पैर और ब्रह्मउपदेश'। गीता में तो वास्तव में ऐसा ही हुआ। रकाब में पैर डाला हो तो फिर घोड़े को ऐंड मारने में पलक झपकने की देर नहीं लगती! इतनी देर में ब्रह्म-उपदेश दिया जा सकता है क्या? कृष्ण ने यह चमत्कार किया है। गीता आरम्भ होती है उससे पहले भी युद्धारम्भ के सूचक सिंहनाद

सुन पड़ते हैं। और फिर कृष्ण तथा अर्जुन को किसी गूढ़ मंत्रणा में खोये देखकर कुछ विस्मित और शायद योगमाया से कुछ मूर्च्छित हो गये महारथी धनंजय को पुनः गांडीव-धारण करते देखकर पुनः एक बार महानाद कर रहे हैं।

पांडवों के पक्ष में धर्म और कृष्ण दोनों ही हैं। धर्म माने धर्मराज युधिष्ठिर भी और कृष्ण जिस अर्थ में शाश्वत धर्मगोप्ता कहलाते, उस अर्थ में निहित धर्म भी। कुरुक्षेत्र के अत्यंत संहारक युद्ध के आरम्भ में व्यास ने पहली नाटयात्मक घटना गीता के रूप में रखी है। इसके बाद की नाटकीय घटना यह आती है, युधिष्ठिर कवच उतारकर, निःशस्त्र होकर शत्रु-सेना की ओर चलते हैं तब! एक पल तो सबको लगता है कि धर्मराज युधिष्ठिर डर गये हैं क्या ? कहीं वे भी अर्जुन की भाँति पुनः विषाद-योग तो नहीं अनुभव कर रहे ? ऐसे प्रश्न भी उठते हैं। सभी भिन्न-भिन्न प्रकार के तर्कवितर्क करते हैं। त्रिकालज्ञ सहदेव से महाभारतकार ने बहुत थोड़े तर्क-वितर्क कराये हैं, पर इस मौके पर तो वे भी पूछ लेते हैं :

> अस्मिन् रणसमूहे वै वर्तमाने महाभये।
> उत्सृज्य क्व नु गन्तासि शत्रूनभिमुखो नृप ।।
>
> (भीष्म० ४३; १९)

हे राजन् इस महाभयानक वर्तमान में, इस रणसमूह में आप हमें छोड़कर शत्रु-पक्ष की ओर क्यों चल दिये हैं ?

सहदेव भी तर्क-वितर्क में निमग्न हो जाते हैं। अन्य लोगों को लगता है कि युधिष्ठिर किसी भ्रम में पड़ गये हैं। पर इस स्थिति में एकमात्र कृष्ण युधिष्ठिर की यह शत्रु-सैन्य की ओर गति का रहस्य बूझ सकते हैं : निश्चय ही वे भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य आदि गुरुजनों की अनुमति लेने जा रहे हैं, क्योंकि :

> श्रूयते हि पुराकल्पे गुरूननुमान्य यः।
> युद्धयते स भवेद् व्यक्तमपध्यातो महत्तरैः ।।
> अनुमान्य यथाशास्त्रं यस्तु युद्धयेन्महत्तरैः।
> ध्रुवस्तस्य जयो युद्धे भवेदिति मतिर्मम ।।
>
> (भीष्म० ४३; २३–२४)

कृष्ण ने गीता में शास्त्र के विधान की महिमा स्थापित की है।

श्रुति का वे हमेशा आदर करते आये हैं। इसीसे वे कहते हैं कि मैं पुराकल्प से सुनता आया हूँ कि गुरुजनों की आज्ञा बिना जो युद्ध करता है वह हारता है, पर जो शास्त्रीय मान्यतानुसार गुरुजनों की अनुमति लेकर युद्ध करता है उसकी विजय निश्चित है। इतना कहने के बाद 'यही सत्य है' ऐसा नहीं कहते, 'ऐसा मेरा मत है' इस प्रकार कहते हैं।

युधिष्ठिर के मन की बात कृष्ण ठीक-ठीक समझ गये थे। युधिष्ठिर इस युद्ध को पूर्णरूपेण धर्मयुद्ध बनाना चाहते हैं। इसीसे तो वे जिनसे लड़ना चाहते हैं उन गुरुजनों से लड़ने की आज्ञा माँगते हैं। अब युधिष्ठिर का भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और शल्य के साथ हुआ संवाद आता है। यह संवाद एक जैसा है। एक जैसे सवाल युधिष्ठिर पूछता है, एक जैसे उत्तर ये सब देते हैं। इसमें भी दो श्लोक तो व्यास ने चारों पात्रों के मुख से कहलवाये हैं। ये श्लोक और पहले के प्रश्नोत्तर लगभग एक जैसे ही हैं। युधिष्ठिर जाकर उनसे कहता है कि युद्ध आरम्भ करने से पूर्व मैं आपके आशीर्वाद लेने आया हूँ जिससे कि मैं विजयी होऊँ। ये चारों उत्तर देते हैं कि हमारी आज्ञा बिना यदि तूने युद्ध शुरू किया होता तो अन्त में तू पराजित हो ऐसा हम श्राप देते। पर अब हम प्रसन्न हैं, अतः तू युद्ध कर और विजयी हो। इस प्रकार की तरंगों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है। भीष्म सबसे पहले युधिष्ठिर से कहते हैं :

> अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
> इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥
>
> (भीष्म० ४३; ४१)

अर्थ का पुरुष दास है, अर्थ किसीका भी दास नहीं है। यह सत्य है महाराज, और मैं कौरवों से अर्थ द्वारा बँधा हूँ।

यही श्लोक द्रोण भी युधिष्ठिर से कहते हैं, कृपाचार्य भी यही शब्द दुहराते हैं, शल्य भी अपने भाँजे से यही बात कहता है।

यहाँ 'अर्थ' का क्या अर्थ करेंगे ?

कोई सामान्य शब्द-कोष लें तो भी 'अर्थ' शब्द के अर्थ में अच्छी-खासी जगह दी गयी मिलेगी। 'अर्थ' का पहला अर्थ है—'विनती' (आप्टे के शब्दकोष के अनुसार)। इस अर्थ में देखें तो क्या विनती

का, प्रार्थना का कोई व्यक्ति दास हो सकता है, प्रार्थना किसी की दास नहीं होती। द्रोण, भीष्म आदि ऐसी प्रार्थना या विनती का अनादर नहीं कर सके होंगे, इस अर्थ में दुर्योधन की विनती या प्रार्थना से ये लोग बँधे हैं। 'इच्छा' यह दूसरा अर्थ है। अर्थात् कि इच्छा से ही ये महारथी बँधे हैं। 'शोध करना' यह तीसरा अर्थ है। 'समर्थन' यह चौथा अर्थ है। 'उद्देश्य' पाँचवाँ अर्थ है। 'उद्देश्य' से बँधे हैं ऐसा अर्थ भी समझा जा सकता है। 'हेतु', 'कारण' यह छठा अर्थ है। 'अर्थ' भी एक अर्थ है। "अर्थो हि कन्या परकीय एव" इसमें अर्थ भिन्न ही अर्थ ग्रहण करता है। 'व्यवसाय' यह एक अतिरिक्त अर्थ है। लगभग प्रथम दस अर्थ गिनने के बाद संस्कृत शब्दकोष ग्यारहवाँ अर्थ 'संपत्ति' बताते हैं। अब यह जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार तत्त्वों की बात है, इनमें जो 'अर्थ' है उसका अर्थ क्या भौतिक संपत्ति ही है ? यदि ऐसा हो तो इसे मानव-प्राप्ति के चार साधनों में स्थान क्योंकर मिला होगा ?

'अर्थ' शब्द के अर्थ अभी और आगे चलते हैं। हमें यहाँ शब्दकोष की प्रतिलिपि नहीं देनी है, पर भीष्म, द्रोण, कृप तथा शल्य जिस 'अर्थ' के द्वारा कौरवों से बँधे हैं वह 'अर्थ' कौनसा है ?

वह धन के अर्थ में तो नहीं ही है। इन चारों में से कोई भी व्यक्ति धन का दास बनकर रहे या कि दुर्योधन उन्हें धन से खरीद सके ऐसा संभव नहीं है। अवश्य ही, यदाकदा सभी कोई धन के दास होते हैं इस अर्थ में यह श्लोक प्रयुक्त हुआ है, परन्तु इन चारों व्यक्तियों के प्रताप को ध्यान में रखें तो इसका सूचितार्थ किसी अन्य असहायता में हो सकता है। यह कैसी असहायता है इसका अर्थ सब लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार कर सकते हैं। कोई भी एक अर्थ देकर वाचक की अर्थ-विस्तार की गुंजाइश को सीमित नहीं करना चाहिये। इसके साथ ही किसी एक अर्थ में वाचक बँध जाय या उलझ जाय ऐसा भी नहीं होना चाहिये। अतः यहाँ 'अर्थ' माने 'संपत्ति' ऐसे अर्थ में उलझे बिना, इस श्लोक का भीष्म, द्रोण, कृप और शल्य जैसे चार महान् पुरुष अपने-अपने ढंग से उच्चार करते हैं उस संदर्भ को ध्यान में रखकर अर्थ करने चलेंगे तो ढेर से अर्थ मिल जायेंगे। इनमें से प्रत्येक अर्थ का कुछ मूल्य है।

इस दासत्व की असहायता की एक करुण खनक, बाद के श्लोक जो चारों व्यक्तियों के मुख से किंचित् अन्तर के साथ सुनने को मिलते हैं, उनमें सुन पड़ती है। भीष्म आगे अगले ही श्लोक में कहते हैं :

अतस्त्वां क्लीबवद् वाक्यं ब्रवीमि कुरुनन्दन ।
भृतोऽस्म्यर्थेन कौरव्य युद्धादन्यत्किमिच्छसि ।।

(भीष्म० ४३; ४२)

क्लैब्य शब्द हमें गीता में भी मिला है। कृष्ण अर्जुन को 'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ' जैसे शब्द कहते हैं। यहाँ अपने ही लिये चारों पुरुष इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। 'क्लैब्य' शब्द का अर्थ नपुंसकता ही नहीं है, कायरता मात्र नहीं है, असहायता भी है। और यहाँ असहायता के अर्थ में ही यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'इसीसे यह असहायताभरा वाक्य मैं कहता हूँ, हे कुरुनन्दन'। फिर 'भृतोऽस्मि' अर्थात् मेरा धारण किया गया है—भृत का पहला अर्थ यह है। 'वेतनभोगी नौकर' यह आप्टे शब्दकोष के अनुसार पाँचवाँ अर्थ है। यहाँ भी इस कोष के पाँचवें अर्थ को प्रथम चार अर्थों की अवगणना करके सर्वथा प्राधान्य नहीं देना चाहिये। मैं अर्थ द्वारा कौरवों के अधीन हूँ : अतः युद्ध के सिवा दूसरा कुछ भी माँग ले' ऐसा यह भीष्म का और उसी साँस में उच्चारित द्रोण, कृपाचार्य और शल्य के शब्दों के अर्थ की भी चर्चा करने चलें तो एक पुस्तक में भी न अटे इतना अधिक विस्तार है।

युद्ध के लिये भीष्म वचनबद्ध हैं; अतः युद्ध के सिवा जो चाहे माँग ले, ये शब्द भीष्म कहते हैं।

युधिष्ठिर धर्मराज हैं। जब माँगने ही चले हैं तो आडंबर या दंभ उन्हें नहीं खपते। वे स्पष्ट रूप से पूछते हैं कि 'मैं आपको युद्ध में किस प्रकार जीत सकता हूँ ?' और इतने ही पर वे रुकते नहीं। वे तो कहते हैं युद्ध में यदि इन्द्र भी आपको जीत या मार न सके तो फिर मुझे बतायें—

हतोपायं ब्रवीहि त्वमात्मनः समरे परैः ।

(भीष्म० ४३; ४७)

युद्ध-भूमि में आपकी मृत्यु किस प्रकार हो सकती है उसका उपाय कहें।

भीष्म युधिष्ठिर के दादा के भाई हैं। अपने ही इन बुजुर्ग स्वजन से उनकी मृत्यु का उपाय पूछना यह या तो धृष्टता की पराकाष्टा है या निर्दंभ की पराकाष्ठा। समर-भूमि में यह प्रश्न पूछा गया है। इस रणभूमि में भीष्म आदि का हनन कर्त्तव्य बन जाता है। इसीसे यह प्रश्न निर्दंभता की पराकाष्ठा के रूप में पूछा गया है। भीष्म इस समय तो यह बात टाल जाते हैं और कहते हैं :

न तावन् मृत्युकालोऽपि पुनरागमनं कुरु।
(भीष्म० ४३; ४८)

अभी मेरी मृत्यु का समय नहीं आया है। अतः मुझसे फिर मिलना।

भीष्म यह उत्तर दे सकते हैं, क्योंकि उन्हें इच्छा-मृत्यु का वरदान प्राप्त है। मृत्यु जब वे चाहेंगे तभी आवेगी ऐसा उन्हें वरदान था। अस्तु, वे अभी अपनी मृत्यु के समय की बाबत कोई निर्णय नहीं कर सके हैं।

इसी क्रम में द्रोण के साथ संवाद होता है। पर द्रोण के उत्तर में थोड़ा अंतर आता है। वह कहते हैं कि मैं युद्ध कौरवों की तरफ से लड़ूंगा, पर जय तुम्हारी चाहूँगा।

योत्स्येहं कौरवास्यार्थे तवाशास्यो जयो मया।
(भीष्म० ४३; ५७)

इतना ही नहीं, वह आगे कहते हैं :—

ध्रुवस्ते विजयो राजन् यस्य मंत्री हरिस्तव।···
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः॥
(भीष्म० ४९; ५९–६०)

हे राजन्, साक्षात् हरि (कृष्ण) तुम्हारे मंत्री हैं, अतः तुम्हारी विजय तो निश्चित है। जहाँ धर्म है वहाँ कृष्ण हैं, जहाँ कृष्ण हैं वहाँ जय है।

अब युधिष्ठिर द्रोण से उनके मृत्यु का निमित्त पूछते हैं; और द्रोण तत्काल ही कहते हैं : 'मैं न्यस्तशस्त्र और अचेतन (शस्त्ररहित और जड़ जैसा) हो जाऊँ तब मुझे मारना।' अब द्रोण जैसा वीर इस स्थिति में किस प्रकार आयेगा? सत्यवक्ता के रूप में प्रकीर्तित युधिष्ठिर को स्वयं द्रोण अपनी मृत्यु का उपाय बताते हैं। युधिष्ठिर का रथ कैसे नीचे उतरा, इसका रहस्य वहाँ है—

शस्त्रं चाहं रणे जह्यां श्रुत्वा तु महदप्रियम्।
श्रद्धेयवाक्यात् पुरुषादेतत् सत्यं ब्रवीमि ते ॥
(भीष्म० ४३; ६६)

जिसकी वाणी में मुझे श्रद्धा है ऐसा पुरुष मुझे कोई अप्रिय बात सुनाये तो मैं रण में शस्त्र का त्याग करूँगा।

द्रोण न्यस्तशस्त्र हों तो ही उन्हें मारा जा सकता है। और न्यस्त-शस्त्र तभी होंगे जब ऐसा पुरुष जिसकी बात पर श्रद्धा हो सके, आकर अप्रिय बात कहे। पांडवो के पक्ष में ऐसे दो ही पुरुष हैं; एक कृष्ण हैं, पर वे कभी भी 'नरो वा कुञ्जरो वा' जैसी बात नहीं कह सकते और दूसरे हैं धर्मराज, युधिष्ठिर। इसीसे अब धर्मराज की श्रद्धेय वाक्य बोलने की जिम्मेदारी बढ़ गयी है। द्रोण ने युधिष्ठिर की धर्म-निष्ठा पर श्रद्धा रखकर समर-भूमि में अपनी मृत्यु का रहस्य प्रकट कर दिया है।

कृपाचार्य के समक्ष बात तनिक अलग ढंग से बल खाती है। कृपाचार्य अवध्य हैं। उनका युद्ध में किसीके भी हाथों वध नहीं लिखा है, यह बात युधिष्ठिर को ज्ञात है। इसीसे वे कृपाचार्य से पूछने तो जाते हैं उनकी मृत्यु का रहस्य, पर 'हे आचार्य, मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि........' और इतना कहते ही—

इत्युक्त्वा व्यथितो राजा नोवाच गतचेतनः।
(भीष्म० ४३; ७३)

इतना कहते ही युधिष्ठिर व्यथा से भर उठा, वह न बोल सका, न उसमें बोलने की चेतना ही रह गयी।

कृप समझ गये कि युधिष्ठिर क्या पूछना चाहते हैं। इसीसे कह पड़े कि 'मैं अवध्य हूँ! युद्ध में कोई भी मुझे मार नहीं सकेगा, पर नित्य सबेरे उठकर मैं तेरी विजय के लिये प्रार्थना करूँगा!' कृपाचार्य जैसे गुरुजन से ऐसा वरदान प्राप्त कर लेना यह पांडवों का सौभाग्य ही गिना जायगा। अंत में शल्य से युधिष्ठिर इतना ही माँगते हैं: 'रण-संग्राम में आप कर्ण का तेजोवध करते रहियेगा!' वे भी यह वरदान प्रदान करते हैं।

युधिष्ठिर की ये निर्दंभ माँगें, युद्ध का पहला चरण हैं और बहुत महत्त्व के सोपान हैं।

युद्धारंभ से पहले गीता पहली महत्त्वपूर्ण घटना थी। युधिष्ठिर की गुरुवंदना दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। तीसरी घटना में कृष्ण समाहित हैं। कृष्ण और कर्ण के बीच एक विशेष सम्बन्ध स्थापित हुआ, यह हमने पहले देखा था; कृष्ण ने कर्ण को 'वेदवादान् सनातनान्' जैसे विशेषणों से संबोधित किया है। और कर्ण कोई भी प्रलोभन आवे तो भी सत्य से स्वयं विचलित नहीं होगा, ऐसा कहता है। कृष्ण अंतिम क्षण तक उसे कसौटी पर कसते हैं। कृष्ण कसौटी पर दो कारणों से कसते हैं। यदि कसौटी पर कोई खरा न उतरे तो उसके दंभ का पर्दा तार-तार हो जाय और यदि खरा उतरे तो शुद्ध सुवर्ण-सा उसका अस्तित्व सिद्ध हो सकेगा। अतः वे कर्ण के पास जाकर कहते हैं; भीष्म के द्वेष के कारण तू रणभूमि में भीष्म होंगे तब तक लड़नेवाला नहीं है, अतः तू जब तक भीष्म लड़ते हैं तब तक हमारी ओर से लड़ और भीष्म गिरें तब फिर सामने के पक्ष में चले जाना। कर्ण उत्तर देते हुए कहता है :—

न विप्रियं करिष्यामि धार्तराष्ट्रस्य केशव।
त्यक्तप्राणं हि मां विद्धि दुर्योधन हितैषिणम्॥

(भीष्म० ४३; ९२)

हे केशव, मैं कभी भी दुर्योधन का अप्रिय नहीं कर सकूँगा। दुर्योधन के हित के लिये प्राण भी दे देने में मुझे संकोच नहीं होगा।

कर्ण कृष्ण की कसौटी पर शुद्ध सोना सिद्ध होता है।

अब एकमात्र अंतिम रस्म रह जाती है : युधिष्ठिर रणक्षेत्र के बीच में जाकर जिस किसीको उसकी सहायता के लिये आना हो उसे आवाज देता है; और इस समय अंतिम क्षण में धृतराष्ट्र का पुत्र युयुत्सु पांडवों के पक्ष में आकर मिल जाता है।

युद्ध तो है ही, पर जैसे युद्ध से पूर्व वह निष्फल होंगे यह जानते हुए भी कृष्ण ने सभी प्रयत्न किये थे, उसी प्रकार अब युद्ध की बेला में भी पांडव युद्ध-धर्म चूके नहीं ऐसा घटित हुआ है। युद्ध से पूर्व धर्म-संगत आचार केवल पांडवों का ही है। कौरवों के पक्ष में तो कहीं भी मन में वेदना का स्पंदन तक नहीं जगता। कौरवों के लिये युद्ध धर्म नहीं है, एक जुनून है। नहीं तो पांडवों के पक्ष में इतना सारा विक्षोभ

पैदा हुआ, पर इसके बावजूद कौरवों के पेट का पानी भी नहीं हिला ? पुनः ग्रंथकर्ता व्यास कौरवों के भी कुलपिता हैं और युद्ध का वर्णन तो कुरुओं के मंत्री संजय के श्रीमुख से हो रहा है। अतः कौरवों के पक्ष में यदि कोई गति इस दिशा में हुई होती तो वे उसे अंकित किये विना नहीं रहते।

२३. भीष्म-प्रतिज्ञा

अब कुरुक्षेत्र में युद्ध शुरू हो गया है। 'युद्धस्य कथा रम्या' भले ही कहा जाता हो पर महाभारतकार का युद्ध वर्णन बहुत ही भीषण है। कहीं काल स्वयं भीम का रूप लेकर कलिंग राज से लड़ता दिखाई देता है तो कहीं अभी मूँछ की रेख भी नहीं फूटी है ऐसे अभिमन्यु का पराक्रम देखकर व्यास उसे कृष्ण की उपमा देते हैं :

न स्म प्रव्यथते राजन् कृष्णतुल्य पराक्रमः।

(भीष्म, ५५; १६)

कृष्ण तुल्य पराक्रम करनेवाला अभिमन्यु न खिन्न हुआ, न विचलित। शत्रुओं से घिर जाने के बावजूद भी वह खिन्न नहीं होता। अभिमन्यु के पराक्रम को 'कृष्ण-तुल्य' कहा है। व्यास ने यह उपमा बहुत कम बार दी है।

युद्ध वास्तव में जम गया है। भीष्म इस समय द्रोण से अर्जुन की प्रशंसा करते हैं तब न्यस्त शस्त्र (शस्त्र बिना के) कृष्ण का उल्लेख किये बिना नहीं रहते।

एष पाण्डुसुतो वीर कृष्णेन सहितो बली,
तथा करोति सैन्यानि यथा कुर्याद्धनंजय।

(भीष्म, ५५; ३७)

कृष्ण सहित पांडुपुत्र धनंजय जैसा करना चाहिये वैसा युद्ध कर रहा है। इस प्रकार घोर युद्ध के बीच भी व्यास बार बार कृष्ण की महिमा याद दिलाते रहते हैं।

इस युद्ध की विचित्रता यह है कि भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य जैसे वीर इसमें अतुलनीय पराक्रम प्रदर्शित करते हैं, तो भी सभी जानते हैं

कि अंत में विजय तो पांडवों की ही होगी। पांडवों की सेना युद्ध में पराक्रम दिखाती है तब दुर्योधन भीष्म के पास जाकर इस विषय में फरियाद करता है। पर भीष्म तुरत ही उत्तर देते हैं :

अजेयाः पांडवा युद्धे दैवैरपि सवासवैः।

(भीष्म, ५८; ४२)

पाण्डव युद्ध में देवताओं द्वारा भी जीते नहीं जा सकते। तो भी 'यत्तु शक्यं मया कर्त्तु' (मुझसे जो हो सकेगा वह सब करूँगा) ऐसा वचन भीष्म का है। भीष्म प्रचण्ड पराक्रम दिखाते हैं और तब पाण्डव सेना भागती है। व्यास बहुत थोड़े से शब्दों में धारदार व्यंग रचते हैं। यह सेना 'पश्यतो वासुदेवस्य' कृष्ण के देखते हुए, कृष्ण और अर्जुन दोनों देख रहे हैं तभी भागती है। तो अब गीता के बाद महाभारत के युद्ध में कृष्ण सर्वप्रथम सक्रिय बनते हैं। वे अर्जुन से कहते हैं :

अयं स कालः सम्प्राप्तः पार्थयस्तेभिकांक्षितः।

(भीष्म ५९; ४२)

हे पार्थ, तुझे जिसकी आकांक्षा थी वह समय अब आ गया है।

अर्जुन विजय प्राप्त करने और वीरश्री ज्योतित करने हेतु युद्ध में जुड़ा है। फिर भी वह मन लगाकर नहीं लड़ता। अर्जुन का मन युद्ध में नहीं था इसी से तो कृष्ण को गीता का उपदेश देना पड़ा था। अब यह घोर युद्ध चल रहा है और भीष्म काल की भाँति पाण्डव सेना पर टूटे पड़ रहे हैं, तब अर्जुन के लिए अपना वीरत्व प्रगट करने का समय आ गया है। कृष्ण आगे कहते हैं :

प्रहरस्व नरव्याघ् न चेन्मोहाद्विमुह्यसे।

(भीष्म, ५९; ४३)

हे नरव्याघ्र, तूं फौरन प्रहार, कर, नहीं तो मोहवश होकर तूं कुछ भी नहीं कर सकेगा।

इस फौरन प्रहार करने की बात का महत्व है। आये हुए अवसर को अर्जुन हाथ से न जाने दे इस हेतु कृष्ण सचेत हैं।

अर्जुन का विषाद योग समूची गीता सुनने के बाद भी पूरा नहीं हुआ है। जीवन में ज्ञान की नहीं भगवान की महिमा है। भगवान

स्वयं ज्ञान प्रदान करें तो भी उसका प्रभाव मर्यादित है। भगवान बोध कराते हैं। कार्य द्वारा कर्तव्य दिखाते हैं इसी की महिमा है। कृष्ण के महाभारत युद्ध में सक्रिय बनने का यह चरण गीता के बाद का एक सोपान प्रस्तुत करता है। गीता के ज्ञान की यथार्थता की बाबत कोई संशय नहीं है, पर प्रतीति के साथ किया आचरण ज्ञान का सहज परि-णाम हो सकता है, ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं है। गीता जैसा ज्ञान भगवान के मुख से सुनने के बाद भी अर्जुन उसे आचरण में प्रयुक्त नहीं कर पाता, इसी से कृष्ण रुष्ट होते हैं, और वे क्रोध में आकर मन ही मन विचार करते हैं :

कर्त्तव्यं नाभिजानाति रणे भीष्मस्य गौरवात्।

(भीष्म. ५९; ७३)

यहाँ रणक्षेत्र में भी भीष्म अर्जुन के दादा हैं और उनके गौरव की रक्षा करनी चाहिये, ऐसे संभ्रम में वह पड़ा हुआ है। वह अपना क्षत्रि-योचित कर्तव्य नहीं जानता, कर्म और कर्तव्य की स्वयं की हुई इतनी सब बात बेकार हुई है। एक ओर से भीष्म के बाण दसो दिशाओं में छा रहे थे और अन्तरिक्ष, दिशा, भूमि, सूर्य या सूर्यकिरणें–कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था।

व्यास अब छन्द बदलते हैं, वे अनुष्टुप में से उपजाति पर आते हैं। कारण यह कि अब तक निरूपित से भिन्न ही किसी एक रंग-घटना का वे निरूपण करने जा रहे हैं। कृष्ण जानते हैं कि गीता पर्याप्त नहीं है, मात्र गीता का कोई अर्थ नहीं है। गुरु का स्वयं शक्तिपात गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान की अपेक्षा अधिक महिमावाला माना गया है। यहाँ भी ऐसी ही घटना होती है। वे देखते हैं :

पार्थस्य दृष्ट्वा मृदुयुद्धतां च भीष्मं च संख्ये समुदीर्यमाणम्।

(भीष्म, ५९; ८३)

उन्होंने देखा कि पार्थ मृदु युद्ध कर रहा है और भीष्म गजब ढा रहे हैं। पाण्डव सेना भाग रही है और सात्वत वीर सात्यकि सबसे न भागने के लिए समझा रहे हैं। अब कृष्ण का दिमाग घूमता है, वे रोष में आकर सात्यकि से कहते हैं :

ये यान्ति ते यान्तु शिनिप्रवीर,
येऽपि स्थिता सात्वत तेऽपि यान्तु।

(भीष्म, ५९; ८४)

जो भागते हैं उन्हें भागने दो, और जो स्थिर हैं, उन्हें भी भागना हो तो अब उन्हें भी भागने दो। अब तो मैं अकेला ही काफी हूँ। मैं ही अब भीष्म, द्रोण तथा तमाम कुरुवीरों से अकेला निपट लूँगा और कृष्ण अब मैदान में उतरते हैं। इस क्षण यह याद रहे कि कृष्ण शाश्वत धर्मगोप्ता के रूप में प्रकीर्तित हैं। उन्होंने युद्ध में एक सिद्धान्त निश्चित किया है : युद्ध में वे शस्त्र हाथ में नहीं लेंगे। कृष्ण युद्ध में सक्रिय नहीं बनेंगे। पर अर्जुन को मृदुयुद्ध करते देखकर कृष्ण के क्रोध का पार नहीं है। वे अब अश्वों की लगाम अपने हाथ से छोड़ देते हैं :

क्षुरान्तमुद्यम्य भुजेन चक्रं
रथादवप्लुत्य विसृज्य बाहान्,
सकम्पयन् गां चरणैर्महात्मा
वेगेन कृष्णः प्रससार भीष्मम्।
(भीष्म, ५९; ८९)

अब महात्मा वासुदेव अश्वों की लगाम हाथ में से छोड़कर सहस्र-वज्र जैसे तीक्ष्ण, सूर्य जैसे प्रभासंपन्न चक्र को हाथ में लेकर वेगपूर्वक रथ से कूदकर भीष्म की ओर आगे बढ़े।

महाभारत युद्ध का यह विरल दृश्य है। एक क्षण पहले घोर संग्राम चल रहा था, भीष्म पांडव सेना पर कहर ढा रहे थे। पाण्डवों की सेना भाग रही थी। अब कृष्ण हाथ में चक्र लेकर रथ से नीचे उतरकर भीष्म की ओर चलते हैं। कृष्ण कौन है इस बाबत किसी के मन में रंचमात्र शंका नहीं है। राजसूय यज्ञ के समय शिशुपाल का वध जिस चक्र से किया था, वह कृष्ण के हाथ में है। संधिवार्ता के समय कुरु सभा ने कृष्ण के विराट रूप का दर्शन किया था। ऐसे कृष्ण जब हाथ में चक्र लेकर निकल पड़ते हैं, तब भीष्म सहज भी संभ्रम में नहीं पड़ते, वे तो अविचल भावसे अपने गांडीव तुल्य धनुष की डोरी का टंकार करके कहते हैं :

एह्येहि देवेश जगन्निवास नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणें,
प्रसह्य मां पातय लोकनाथ रथोत्तमात्सर्वशरण्य संख्ये।
(भीष्म, ५९; ९७)

हे देवेश, हे जगन्निवास, हे यादव, हे चक्रपाणि आपको मैं प्रणाम

करता हूँ। आप लोकनाथ हैं, आप मुझे इस रथ पर से गिराकर मेरी हत्या करें।

भीष्म जानते हैं कि कृष्ण के चक्र का प्रतिकार संभव नहीं है। कृष्ण चक्र को छोड़ें तो भीष्म जीते नहीं रह सकते, पर इसीके साथ भीष्म जानते हैं :

त्वया हतस्यापि ममाद्य कृष्ण,
श्रेयः परस्मिन्निह चैव लोके।

(भीष्म, ५९; ९८)

कृष्ण यदि उनका वध करेंगे तो उनको इस लोक में और परलोक में श्रेय प्राप्त होगा।

यह समूचा दृश्य कल्पना करने लायक है। मृदुयुद्ध करके भीष्म को तबाही कर देनेवाला और कृष्ण को कुपित करनेवाला अर्जुन तो अभी स्तब्ध खड़ा है। पर अब अर्जुन को ध्यान आता है कि क्या हो रहा है। कृष्ण जो धर्म के संरक्षक हैं, उसकी दुर्बलता के कारण धर्म त्याग करके शस्त्र हाथ में लेकर मैदान में उतर आये हैं, इसका ध्यान अर्जुन को आता है।

इस घटना में एक और बात भी है। कृष्ण धर्म के रक्षक हैं। इसी से वे धर्म के पक्ष से शस्त्र विहीन होकर लड़ रहे हैं। परन्तु धर्म की रक्षा के लिए वे वैयक्तिक धर्म को खतरे में डालने से डरते नहीं हैं। भारतवर्ष में धर्म की प्रतिष्ठा और अधर्म का नाश ये इस युद्ध के मुख्य मुद्दे हैं। युद्ध में शस्त्र धारण न करना यह कृष्ण का वैयक्तिक धर्म है। कृष्ण शस्त्र हाथ में लें तो अपना वैयक्तिक धर्म चूकते हैं, पर भारतवर्ष में धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं।

अर्जुन ने देखा कि कृष्ण चक्र हाथ में लिए भीष्म की ओर जा रहे हैं। भीष्म तो रणक्षेत्र में कहते हैं कि कृष्ण स्वयं मुझे मारने के लिए दौड़े इससे मेरी प्रतिष्ठा और कीर्ति बढ़ गई है और कृष्ण मुझे मारेंगे तो मेरा लोक और परलोक दोनों सुधरेगा।

पार्थस्तु विष्टभ्य बलेन पादौ
भीष्मान्तिकं तूणमभिद्रवन्तम्
बलान्निजग्राह हरिं किरीटी
पदेऽथ राजन् दशमे कथंचित।

(भीष्म ५९; १०१)

अर्जुन कृष्ण के पीछे दौड़ता है, कृष्ण के पैर पकड़ लेता है। कृष्ण क्रोध में हैं। वे अर्जुन के रोके नहीं रुकते। वे भीष्म की ओर आगे बढ़ते ही जाते हैं और अर्जुन के रोके नहीं रुकते। वे भीष्म की ओर आगे बढ़ते ही जाते हैं और अर्जुन आँधी में घसीटाते वृक्ष की भाँति कृष्ण के साथ घसीटाता है! दसवें कदम पर अर्जुन बलपूर्वक कृष्ण को रोकता है और कृष्ण से कहता है कि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करूँगा आप अपने क्रोध को शान्त करें।

कृष्ण का रोष कैसा रहा होगा कि दस कदम तक वे अर्जुन को आंधी में घसीटाते वृक्ष की भाँति घसीट ले गये और कृष्ण धर्म से न चूकें इस हेतु अर्जुन की लगन कैसी रही होगी कि उसने इन दस कदमों तक घसीटाना पसंद किया।

महाभारत में संजय यह सब हाल धृतराष्ट्र को कह सुनाता है और यह कहते समय वह कई प्रकार से कर्तव्य विमुखता तथा अपने पुत्रों के मोह में पड़े रहकर क्यों उन्होंने युद्ध का निवारण नहीं किया इस बाबत धृतराष्ट्र पर सतत् प्रहार करता रहता है। ये प्रहार तो थोड़े-थोड़े अन्तर पर युद्ध की कथा में बराबर आते रहते हैं। इनमें से एक ही प्रश्नोत्तर देखें, धृतराष्ट्र पूछते हैं :

यथावध्याः पांडुसुता यथा वध्याश्च मे सुताः।

(भीष्म, ६५; ७)

संजय, ये पाण्डव मरते क्यों नहीं, क्यों अवध्य हैं और मेरे पुत्र क्यों मरते हैं।

यह प्रश्न वेदना में भरकर पूछा गया है। धृतराष्ट्र धर्म किधर है, यह जानते हैं, फिर भी असह्य वेदना से विकल हो यह प्रश्न पूछते हैं। संजय इसका जवाब सीधा सादा देता है। वह कहता है :

नैव मंत्रकृतं किंचिन् नैव मायां तथाविधाम्।
न वै विभीषिकां कांचिद् राजन्कुर्वन्ति पाण्डवाः॥
युद्धन्ति ते यथान्यायं शक्तिमन्तश्च संयुगे।

(भीष्म, ६५; १५-१६)

राजन्, पांडव किसी मंत्र से या मायाजाल से या विभीषिका द्वारा विजय नहीं प्राप्त कर रहे हैं, वे तो न्यायपूर्वक और सारी शक्ति के साथ युद्ध करते हैं।

युद्ध में मंत्र या तंत्र काम नहीं आते, पर धर्म, न्याय और प्रताप ही काम आते हैं। दुर्योधन के पक्ष में शक्ति हो सकती है पर न्याय नहीं है; यह बात भी संजय के उत्तर में स्पष्ट होती है। पर संजय इस बात को कुछ और खोलकर कहता है कि आपने मुझसे पूछा वैसा ही प्रश्न दुर्योधन ने पहले भीष्म पितामह से पूछा था, वह सवाल जवाब ही मैं आपको बिना टीका-टिप्पणी के कहता हूँ। दुर्योधन भी भीष्म से पूछता है कि आप जैसे इतने सारे पराक्रमी वीरों के बावजूद हम विजयी क्यों नहीं होते ? तब भीष्म उससे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं : तू ने एक मिथ्या सिद्धान्त पर युद्ध शुरु किया है। तूं यदि कल्याण चाहता है तो आज ही पांडवों से सन्धि कर ले। तू ने मेरे मना करने के बावजूद पांडवों का अपमान किया है और उसी का फल आज तूं भोग रहा है। इतना कहकर वे एक पौराणिक कथा दुर्योधन को सुनाते हैं। उस कथा का सारांश यह है कि कृष्ण और कोई नहीं पर विष्णु का ही अवतार है। भीष्म कहते हैं :

तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित्सुरसत्तमाः
नावज्ञेयो महावीर्यः शंखचक्र गदाधरः,

(भीष्म ६६; १४)

महावीर्यशाली, शंखचक्रगदा धारण करने वाले वासुदेव मनुष्य हैं, ऐसा मानकर तूं उनकी अवज्ञा न कर।

कृष्ण और अर्जुन नारायण और नर हैं और उनके समक्ष युद्ध करनेवाला कभी सफल नहीं हो सकता, यह बात भीष्म दुर्योधन से छिपाते नहीं। इससे पहले जहाँ धर्म है वहाँ कृष्ण हैं ऐसी उक्ति बारम्बार आई है। अब भीष्म बल देकर कहते हैं, जहाँ कृष्ण हैं वहाँ धर्म है, भीष्म दुर्योधन से कहते हैं :

राजन सर्वमयो ह्येष तमोराग विवर्जितः
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।

(भीष्म, ६६; २५)

कृष्ण सत्त्वगुणी है और तम तथा राग से मुक्त हैं। जहाँ कृष्ण हैं, वहीं धर्म है, जहाँ धर्म है वहीं जय है।

भीष्म दुर्योधन का यह संवाद इससे भी आगे बढ़ता है, दुर्योधन वासुदेव का आविर्भाव तथा प्रतिष्ठा जानना चाहता है और भीष्म यह महिमा भी उससे कहते हैं, अन्त में कहते हैं :

एष ते विस्तरस्तात संक्षेपश्च प्रकीर्तितः
केशवस्य यथा तत्त्वं सुप्रीतो भज केशवम् ।
(भीष्म, ६८; १२)

मैंने तुझे कृष्ण की महिमा संक्षेप में और विस्तार से कही, अतः तूं उस तत्त्वोपदेश से प्रसन्न होकर कृष्ण की ही पूजा कर ।

भीष्म दुर्योधन से यह बात कहते हैं, फिर भी युद्ध आगे चलता है। दुर्योधन जानता है कि विजय कृष्ण के पक्ष में है तो भी आशा के विरुद्ध आशा रखी जाय इस प्रकार दुर्योधन इसके बावजूद भी जीतने की आकांक्षा रखता है।

२४. पितामह की मृत्यु का उपाय

फिर महायुद्ध का चक्कर। महाशक्तियों का टकराव। और ये शक्तियाँ कारगर हो उससे पूर्व उन्हें आकाश में ही शीर्ण कर डालती प्रतिशक्तियाँ। तीक्ष्ण बाण : कितने ही सुगंधी पवन में परिमल बिखरते, कुछ मण्डलाकार होकर रथी को घेरते, कुछ प्रभंजन चलानेवाले, भीषण। इन वर्णनों में एक ही बात बारम्बार आती है तथापि हर बार संदर्भ बदलने की कुशलता महाकवि व्यास में है। इस बीच **'अर्थस्य पुरुषो दासः'** शब्द—शब्द-समूह आते रहते हैं। भीष्म पर्व के ७७वें अध्याय के ६७वें श्लोक में द्रोण युद्ध करते हैं और धृष्टद्युम्न पर शरवर्षा करते हैं तब **'भर्तृ पिंडमनुस्मरन्'** ऐसा शब्द प्रयोग हुआ है। स्वामी के पिंड (इसका अर्थ केवल 'अन्न' करेंगे क्या ?) को याद करके। पर इस अर्थचर्चा को पंडितों और शोधकर्ताओं के लिये छोड़ दें।

इस युद्ध में संजय धृतराष्ट्र से और भीष्म आदि दुर्योधन से सतत् महायुद्ध के बीच भी युद्ध की विफलता की बात तो कहते ही रहते हैं। जब भी भीष्म पराक्रम दिखाते हैं तब प्रसन्न होता हुआ दुर्योधन या कृष्ण सहायवान हैं ऐसी पाण्डवसेना की धाक जमे तो त्रस्त होकर भीष्म के पास आता है। भीष्म हरबार यथासंभव उत्तम युद्ध करने का आश्वासन देते हैं। वे झूठ नहीं कहते। कहते हैं पांडव सैन्य का हनन करूँगा, पर पांडवों का हनन करेंगे ऐसा नहीं कहते बल्कि वे तो यहाँ तक कहते हैं :

रणे तवार्थाय महानुभाव न जीवितं रक्ष्यतमं ममाद्य ।

(भीष्म, ८०; ११)

हे महानुभाव, रण में तेरे लिए मैं अपने प्राणों की भी रक्षा नहीं करूँगा ।

शरीर के भू-लुंठित होने तक युद्ध करने का सत्य वचन भीष्म देते हैं, अर्जुन आदि को हँफा डालने का वचन देते हैं, पर और कुछ नहीं कहते । वे तो स्पष्टतः दुर्योधन से कहते हैं : इन्द्र सहित संपूर्ण देवता भी पाण्डवों को जीत नहीं सकते । और आगे चलकर कहते हैं :

वासुदेव सहायाश्च महेन्द्रसम विक्रमाः
सर्वथाहं तु राजेन्द्र करिष्ये वचनं तव ।

(भीष्म, ८१; ९)

वासुदेव उनकी सहायता कर रहे हैं यह पहली बात है, दूसरे वे इन्द्र जैसे पराक्रमी हैं । इसके बावजूद मैं तेरे वचनों का पालन करूँगा ।

वचन की बात भी भीष्म स्पष्ट कर देते हैं : या तो पांडवों को युद्ध में जीतूंगा या पांडव मुझे पराजित करेंगे ।

पाण्डव अजेय हैं इस बात को पहले ध्यान में रखने की बात भीष्म कहते हैं–और तब लड़ने के लिए दुर्योधन से कहते हैं ।

युद्ध का व्यास ने घोर वर्णन क्यों किया है ? और लगातार उसका मिथ्यात्व समझाते रहे हैं ? यह क्रम विचारणीय है । धृतराष्ट्र अपने विश्वासों द्वारा यह युद्ध टाला जा सकता था, ऐसी बात कहते हैं (यद्यपि टालने के लिए उन्होंने संजय के द्वारा कहलायी शर्त तो यह थी कि पांडव भिक्षापात्र लेकर भटकते फिरें !) समूचे युद्ध के गोचर भावों में अर्जुन का विषाद एक मात्र स्थिर भाव है । अर्जुन का नाग-कन्या उलूपी से उत्पन्न पुत्र इरावान जब मारा गया तब अर्जुन युद्ध के किसी अन्य मोरचे पर था । उसको जब यह सूचना मिली तब उसने जो कहा उसमें उसका विषाद भी है और 'अर्थ' शब्द के गहरे में जिसे उतरना हो उसके लिए सामग्री भी है । अर्जुन कृष्ण से इस युद्ध के संहार की बात करते हुए कहता है :

अर्थहेतोर्नरश्रेष्ठ क्रियते कर्म कुत्सितम्,
धिगर्थान् यत्कृते ह्येवं क्रियते ज्ञातिसंक्षयः ।

अधनस्य मृतं श्रेयो न च ज्ञातिवधाद्धनम्,
किं नु प्राप्स्यामहे कृष्ण हत्वा ज्ञातीन् समागतान् ।
(भीष्म, ९६; ५–६)

हे नरश्रेष्ठ, अर्थ हेतु ही यह कुत्सित कर्म किया जा रहा है : उस अर्थ को धिक्कार है जिसके लिए जाति-विनाश हो रहा है ।

और फिर आगे कहता है :

अधन (धनहीन) रहकर मरना अच्छा है, पर जाति-वध की अपेक्षा धन अधिक अच्छा नहीं है । इस जाति समागम की हत्या करके, हे कृष्ण हमें क्या मिलनेवाला है ?

अर्जुन का विषाद अपने पुत्र की मृत्यु के लिए नहीं है बल्कि इस जातिक्षय के लिए है ।

युद्ध जैसे आगे बढ़ता जाता है, दुर्योधन की अधीरता बढ़ती जाती है । भीष्म पाण्डवों को जीत नहीं सकते । कर्ण दुर्योधन से कहता है, 'हे भरतश्रेष्ठ, तुम शोक मत करो ।' मैं तुम्हारा प्रिय करूँगा । पर उससे पहले शान्तनुपुत्र भीष्म युद्ध से निवृत्त हों ऐसा कुछ करो । दुर्योधन भीष्म के पास जाकर कहता है :

दयया यदि वा राजन् द्वेष्यभावान्मम प्रभो ।
मन्दभाग्य तया वापि मम रक्षसि पाण्डवान् ।।
(भीम, ९७; ४१)

कृष्ण की शिकायत अर्जुन के मृदुयुद्ध के प्रति है, दुर्योधन को ऐसा प्रतीत होता है कि भीष्म मन लगाकर युद्ध नहीं करते । केवल भीष्म मन लगाकर युद्ध नहीं करते । भीष्म किस हेतु ऐसा करते हैं केवल इस बावत दुविधा में है । या तो पांडवों के प्रति भीष्म को दया है या दुर्योधन के प्रति द्वेष है या फिर दुर्योधन का दुर्भाग्य है कि भीष्म अपने पूरे बलसे नहीं लड़ पाते । ऐसे शब्द अपने पौत्र के मुख से सुनना यह भीष्म के लिए आघात जैसा है । फिर मानो यह कम था इस प्रकार दुर्योधन यह बात कहकर आगे कहता है : अगर आप लड़ सकने योग्य न हों, आप पाँडवों को पराजित करने में समर्थ न हों तो कर्ण को लड़ने की अनुमति प्रदान करें । वह पाण्डवों पर विजय प्राप्त करेगा । कर्ण ने भीष्मयुद्ध में प्रवृत्त रहें तब तक शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा ली थी । इस परिप्रेक्ष्य में दुर्योधन की प्रार्थना का सार यही है

कि भीष्म युद्ध से अवकाश ग्रहण करें और कर्ण को लड़ने दें। भीष्म जैसे महारथी यह बात स्वीकार कर सकें ऐसे तो नहीं थे, फिर भी उन्हें यह अपमान घोंटकर युद्ध चालू रखना ही था :

निर्वेदं परमं गत्वा विनिन्द्य परवश्यताम् ।

(भीष्म, ९८; २९)

भीष्म को परम निर्वेद हुआ। उन्होंने परवशता की निंदा की और दुर्योधन की ओर से प्रचण्ड युद्ध करने का संकल्प लिया। यद्यपि कृष्ण जिनके साथी हैं, ऐसे पांडवों की पराजय उन्हें संभव नहीं लगी थी।

युद्ध इतने दिनों से चल रहा है, भीष्म रोज पाँडवों की सेना को क्षीण कर रहे हैं तो भी अर्जुन अभी भी मृदुयुद्ध कर रहा है। कृष्ण को इस बात का आश्चर्य है। अभी थोड़े दिन पहले ही युद्ध में कृष्ण ने अर्जुन से कहा था 'हे नरव्याघ्र, तू प्रहार कर, यदि मोहवश न हो तो।' अर्जुन का विषादयोग गीता से तो दूर नहीं हुआ था, पर कृष्ण ने अपने न्यस्तशस्त्र रहने की प्रतिज्ञा भंग करने की तैयारी की तब भी पूर्णरूप से दूर नहीं ही हुआ। भीष्म काला कहर बरसा रहे हैं तब कृष्ण पुनः वही शब्द अर्जुन से कहते हैं, 'हे पुरुषसिंह, तू तत्काल प्रहार कर।'

अब अर्जुन दंभ का परदा उठाकर, उसका विषादयोग दूर नहीं हुआ है, यही बात स्पष्ट रूपसे कहता है। वह कृष्ण से पूछता है :

अवध्यानां वधं कृत्वा राज्यं वा नरकोत्तरम्
दु खानि वनवासे वा किं तु मे सुकृतं भवेत् ।

(भीष्म, १०६; ३८-९)

अवध्य का वध करके नरक से भी निन्दनीय राज्य प्राप्त करना या वनवास में रहकर कष्ट भोगना—इन दो में से कौन अच्छा है यह प्रश्न अब अर्जुन नहीं पूछता क्योंकि वह गीता सुन चुका है। अतः वह इन दोनों में सुकृत (अच्छा कर्म) कौन सा है, ऐसा प्रश्न कृष्ण के सामने रखता है। पर फौरन ही उसे गीता में दिया अपना वचन याद आ जाता है और वह कहता है :

चोदयाश्वान् यतो भीष्मः करिष्येवचनं तव ।

(भीष्म, १०६; ३९)

जहाँ भीष्म हैं वहाँ अश्वों को ले चलें, मैं आपका कहा करूँगा।

सुकृत क्या है, इसका उत्तर कृष्ण दे चुके हैं, यह बात क्षण मात्र में अर्जुन को याद आ जाती है। अतः वह 'करिष्येवचनं तव' की नम्रता तो धारण करता है, पर कृष्ण देखते हैं (पार्थस्य मृदुयुद्धताम्) कि पार्थ मृदु युद्ध कर रहा है।

कृष्ण पुनः एक बार चाँदी से श्वेत अश्वों को संभालने का काम छोड़कर भुजाओं को ही आयुध बना भीष्म के सामने मैदान में कूद पड़ते हैं और अब तो 'भीष्म की मौत आ गई' ऐसी छाप समूचे वातावरण में फैल जाती है और एक बार फिर भीष्म कृष्ण के हाथों अपनी मृत्यु हो इस सुयोग का स्वागत करते हुए प्रार्थना करते हैं :

मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे,
त्वयाहि देव संग्रामे हतस्यापि ममानद्य ।

(भीष्म, १०६; ६५)

हे सात्वत श्रेष्ठ, इस महायुद्ध में आज ही आप मेरा वध करके मुझे भूमिशायी करें। आपके हाथों इस संग्राम में मेरा वध होगा तो हे देव, मेरा श्रेय ही होगा।

और पुनः वही अर्जुन की आजिजी, कृष्ण का आक्रोश में भर आगे बढ़ना, कृष्ण के पैरों से लिपटे अर्जुन का आँधी में जैसे वृक्ष लथड़ाते हैं उस प्रकार घसीटाना और दसवें कदम पर अटकना–यह सब फिर होता है और अब अर्जुन कहता है :

ममेष भारः सर्वोहि हनिष्यामि पितामहम् ।
शपे केशव शस्त्रेण सत्येन सुकृतेन च ।।

(भीष्म, १०६; ७३)

मित्रता, सत्य और सत्कर्म, इन तीनों की सौगंध खाकर अब अर्जुन कृष्ण को विश्वास दिलाता है कि पितामह के वध का भार मुझ पर है।

गीता के बोध के बाद भी यह विषादका बारबार पुनरावर्तन किसलिए हुआ होगा ?

जब कोई भगीरथ-कार्य आ पड़ता है तब मानव कायर बनकर पीछे हटे यह एक तथ्य है। इसका कोई उपाय नहीं है, पर वह सत्कर्म कौन-सा है ? अपने कर्म से अपने स्वजनों को विषाद होगा या क्या होगा, ऐसे विचारों में उलझ जाता है, तब प्रभु उसको इस उहापोह में से मार्ग दिखाते ही हैं, पर उसकी कठोर परीक्षा लेने के बाद।

नवें दिन के युद्ध में अर्जुन पूर्ण शौर्य से लड़ता है तो भी भीष्म मरते नहीं। रात में पाण्डवों की छावनी में चितायुक्त सभा जुटती है। कृष्ण इसमें पुनः एकबार अर्जुन पर मर्म वेधक ताने मारते हुए युधिष्ठिर से कहते हैं : आप एक बार आज्ञा दें तो—

'हनिष्यामि रणे भीष्ममाहूय पुरुषर्षभम्
पश्यतां धार्तराष्ट्राणां— (भीष्म, १०७; २९)

पुरुषों में वीर ऐसे भीष्म को मैं धृतराष्ट्र के पुत्रों की नजर के सामने मारूँगा, यदि—

यह 'यदि' कहकर कृष्ण अर्जुन को ताना मारे बिना नहीं रहते, वे कहते हैं—

यदि नेच्छति फाल्गुनः। (भीष्म, १०७; २९)

यदि अर्जुन भीष्म को मारना न चाहता हो तो।

अर्जुन भी यह कर सकता है, पर करता नहीं, यह बात अब तक कृष्ण केवल अर्जुन से कहते रहते थे, अब समूची पांडव सभा से कहते हैं। इसी के साथ ही अर्जुन के साथ अपने विशिष्ट सम्बन्ध की बात भी कृष्ण कहते हैं :

तव भ्राता, मम सखा, सम्बन्धी शिष्य एव च,
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते।
(भीष्म, १०७; ३३)

युधिष्ठिर। आपका भाई तेरा मित्र है, मेरा सम्बन्धी है, मेरा शिष्य है।

यह क्रम कृष्ण प्रदान करते हैं। यह क्रम देखने लायक है। वे अर्जुन को सर्वप्रथम अपने प्रिय मित्र के रूप में स्थापित करते हैं, फिर अपने सम्बन्धी (बहनोई) के रूप में उल्लेख करते हैं। अर्जुन ने शिष्यत्व स्वीकार किया इससे वह सखा-पद से च्युत नहीं होता, उल्टे यह सखापद कृष्ण और अर्जुन के सम्बन्धों में सबसे पहला स्थान प्राप्त करता है। कृष्ण की मूल्यभावना का ध्यान यहाँ स्पष्ट मिल जाता है।

आगे कृष्ण उपरोक्त श्लोक की दूसरी पंक्ति में कहते हैं : इस अर्जुन के लिए मेरा मांस भी काटकर देना पड़े तो दूँगा।

और फिर उसी साँस में अर्जुन भी उनके लिए प्राण तक दे सकता

है यह बात भी कृष्ण कहते हैं। और अर्जुन ने भीष्म का वध करने की प्रतिज्ञा की थी। इस बात की याद दिलाते हुए कृष्ण कहते हैं :

अनुज्ञातं तु पार्थेन मया कार्यं न संशयः।

[भीष्म, १०७; ३७]

अर्जुन को जो काम करना चाहिये वह यदि उसे न कर सके तो मुझे उसे पूरा करना चाहिए इसमें कोई संशय नहीं है।

कृष्ण का यह समूचा संवाद एक ओर अर्जुन के प्रति उनकी प्रीति दर्शाता है तो दूसरी ओर से अर्जुन के लिए उपालंभ जैसा भी है।

युधिष्ठिर इसका उत्तर संक्षेप में ही देते हैं। कृष्ण युधिष्ठिर के लिए शस्त्र उठाये तो युधिष्ठिर की विजय निश्चित हो जाय, पर युधिष्ठिर का गौरव बढ़ाने के लिए कृष्ण को असत्य आचरण करना पड़ेगा, क्योंकि कृष्ण ने दुर्योधन को 'अयुध्यमान' रहने का वचन दिया है।

युधिष्ठिर को मार्ग सूझता है : भीष्म से ही उनके वध का निमित्त पूछने का। और कृष्ण को साथ लेकर वे भीष्म के पास जाकर एक बार फिर भीष्म से पूछते हैं : 'आपकी मृत्यु किस उपाय से होगी ?'

भीष्म सरल भाव से कहते हैं कि शिखण्डी को आगे रखकर कोई मेरे साथ युद्ध करे तो मैं युद्ध नहीं करूँगा। कारण यह कि तब मैंने शिखण्डी के साथ युद्ध किया ऐसा कहा जायेगा। पर इसमें दूसरा कोई सफल नहीं हो सकेगा। मैं अशस्त्र होऊँ तो भी मुझे मारना कोई आसान काम नहीं।

न तं पश्यामि लोकेषु मां हन्याद् यः समुद्यतम्।
ऋते कृष्णान्महाभागात् पाण्डवाद् वा धनंजयात्॥

(भीष्म, १०७; ८५–८६)

महाभाग कृष्ण और पाण्डव धनंजयः इन दोनों को छोड़कर कोई भी मनुष्य मुझे नहीं दिखता जो मुझे मार सके।

अपनी मृत्यु का उपाय द्रोण पहले ही बता चुके हैं। भीष्म ने उस समय युधिष्ठिर से फिर आने को कहा था। पर अब उन्होंने यह उपाय क्यों बताया होगा ? कवि इसके लिए सुन्दर वाक्य प्रयोग करते हैं : 'परलोकाय दीक्षिते' अब भीष्म परलोक की दीक्षा ले चुके हैं। मृत्यु का वरण करने का संकल्प ले चुके हैं। युद्ध के पहले दिन उन्होंने यह संकल्प नहीं किया था। पर नवें दिन की रात भीष्म को कोई उहापोह नहीं है क्योंकि उन्होंने परलोक की दीक्षा ले ली है।

पर यह परिस्थिति कुटुम्ब वत्सल अर्जुन को पुनः एक बार उलझन में डाल देती है। जिसे पिता मानकर जिसकी गोद में कूदा था और जिसने वे पिता नहीं हैं पितामह हैं, यह बात शिशु अर्जुन को समझाई थी, उस भीष्म को वह मारेगा ?

> कामं वध्यतु सैन्य मे नाहं योत्स्ये महामना,
> जयो वास्तु वधो वा मे—

भले वे मेरी सेना का नाश करें, पर उस महामना के साथ मैं युद्ध नहीं करूँगा, फिर चाहे मेरी जय हो या मेरी मृत्यु।

इतने शब्द तो अर्जुन निर्णयात्मकता सहित बोल जाता है। पर फिर उसने कृष्ण से जो बात की थी वह याद आ जाती है। वह कहता है :

> कथं वा कृष्ण मन्यसे। (भीष्म, १०६; ९५)

अथवा तो कृष्ण, आप कहें, आपको क्या समझ में आता है ?

अब तक कृष्ण आज्ञापूर्ण वाक्य नहीं बोलते थे, पर अब तो वे कहते हैं :

> प्रतिज्ञाय वधं जिष्णो पुरा भीष्मस्य संयुगे,
> क्षत्रधर्मे स्थितः पार्थ कथं नैनं हनिष्यसि।
> (भीष्म, १०७; ९६)

पहले तूं भीष्म को मारने की प्रतिज्ञा कर चुका है, तब तूं उन्हें कैसे नहीं मारता यह मैं देखूंगा; अब तो तुझे यह प्रतिज्ञा पूर्ण करनी होगी। कितनी अप्रिय क्यों न हो तो भी यह प्रतिज्ञा तूं कर चुका है। अब तो तुझे इसे पूर्ण करना ही होगा तूं क्षात्रधर्म में स्थित है। तुझे उसे मारना ही होगा।

२५. शरशय्या

भीष्म यों तो परलोक के लिए दीक्षित हुए हैं, पर युद्ध में वे अपने पराक्रम को क्षीण नहीं होने देते। समूचे महाभारत में वीरयुद्ध और वीरमृत्यु दोनों का वरण यदि किसी एक व्यक्ति ने किया तो वह भीष्म ही हैं। कृष्ण जिसे हनन करने के लिए अपनी प्रतिज्ञा त्याग कर रण-

क्षेत्र में कूद पड़े, वह भीष्म के लिए ही। और अट्ठारह दिन के युद्ध में से दस दिन का युद्ध तो भीष्म के कारण ही चलता रहा था, भीष्म पर शिखण्डी या दूसरा कोई योद्धा बाण वर्षा करे तो भी वह उनके संरक्षण को भेद नहीं सकता।

उष्णार्तो हि नरो यद्वज्जलधाराः प्रतीच्छति,
तथा जग्राह गांगेयः शरधाराः शिखण्डिनः।

(भीष्म, ११७; २४)

जैसे गर्मी में व्याकुल हुआ मनुष्य अपने ऊपर गिरती जलधारा को ग्रहण करता है, उसी प्रकार गांगेय (भीष्म) शिखण्डी की शरधारा को ग्रहण कर रहे थे।

भीष्म दूसरे किसी को तो गिनते भी नहीं। कृष्ण या अर्जुन यही दो महारथी पाण्डव पक्ष में हैं, जिनके बाण भीष्म को लग सकते हैं और भीष्म के तापसे उद्विग्न होकर योद्धा धनंजय को याद करने लगे और कृष्ण ने भी कहा :

तेरे सिवा भीष्म के बाणों को सहन कर सके, ऐसा दूसरा कोई नहीं है।

अर्जुन भी भीष्म के लिए कोई बड़ी हस्ती नहीं है। पर अर्जुन के सारथी कृष्ण हैं। देवाधिदेव जैसे महावीर को युद्ध में हँफा देने वाले भीष्म दस दिन हो गये पर पाँडवों को मार नहीं पाते। भीष्म को भी लगा होगा : 'मात्र पाण्डवों के लिए अनुकम्पा के कारण मैं पाण्डवों को नहीं मारता।'

पर नहीं, दुर्योधन ऐसा मानता है। पर हकीकत यह नहीं है। समर भूमि में भीष्म किसी के द्वारा रोकने से रुकें, ऐसे नहीं हैं। वे चाहें तो एक ही बाण से पाँचों पाण्डवों को मार सकते हैं। पर चाहने के बावजूद वे ऐसा क्यों नहीं कर पाते ? दस दिन तक पूर्ण पराक्रम प्रगट किया फिर भी भीष्म अपनी शक्तियों को अर्जुन द्वारा कटते देखते रहते हैं, तब वे बुद्धि से विचार करते हैं। 'बुद्धि से विचार करने' का प्रयोग भी नोट करने योग्य है। युद्ध में सामान्यतः आवेशपूर्वक निर्णय होते रहते हैं, पर भीष्म जैसे कोई बिरले ही बुद्धि से संयोग पर विचार करते होते हैं :

शक्तोऽहं धनुषैकेन निहन्तुं सर्वपाण्डवान्,
यद्येषां ना भवेद् गोप्ता विष्वक्सेनो महाबल ।
(भीष्म, ११९; ३२-३३)

मैं इन सभी पाण्डवों को केवल एक तीर से मार सकता हूँ : यदि महाबलवान् विश्वक्सेन भगवान उनका रक्षण करनेवाले न हों तो। कृष्ण पाण्डवों के पक्ष में हैं इसीसे वे नहीं हारते । तब उन्होंने इतने दिनों तक जो पुरुषार्थ किया वह आगे भी चालू रक्खें तो अधिक से अधिक इस संहार की यातना लम्बी कर सकते हैं, पर इस संहार का अन्त कैसे आ सकता है ? और उन्हें याद आता है :

स्वच्छन्द मरणं दत्तम बध्यत्वं रणे तथा,
तस्मान्मृत्युमहं मन्ये प्राप्त कालमिवात्मनः ।
(भीष्म, ११९; ३५)

पिता ने, वे रण में-संग्राम में अवध्य रहेंगे और उन्हें इच्छामृत्यु प्राप्त होगी ऐसा वरदान दिया था । अब स्वेच्छा से मृत्यु को स्वीकार करने का समय आ पहुँचा है ।

स्वेच्छामृत्यु के वरदान का अधिकारी वही बन सकता है, जिसे उसके लिए समय आवे तब मृत्यु की इच्छा हो । मानव की जिजीविषा इतनी प्रबल होती है कि मृत्यु को बुलाकर अन्त में उस वृद्धा की भाँति केवल बोझा उठा देने का काम ही लेना होता है । पर भीष्म ऐसे बोझा बढ़ानेवालों में से नहीं थे उन्हें लगा कि अब मृत्यु आ पहुँची है : फिर वे मृत्यु को ठेलना नहीं चाहते थे । भीष्म यदि लड़ते रहते तो यह महाभारत का युद्ध अनन्तकाल तक चलता रहता । भीष्म का वध रण संग्राम में कोई कर नहीं सकता और भीष्म वासुदेव रक्षित पाण्डवों का वध करने में असमर्थ हैं । इस संयोग में अब यह इच्छा-मृत्यु का श्रेष्ठ समय है, ऐसा भीष्म विचार करते हैं और तभी आकाश में से ऋषि और वसुगण आकाशवाणी करके इस निर्णय का समर्थन करते हुए, आज्ञा देते हैं :

युद्धे बुद्धिं निवर्तय (भीष्म, ११९; ३७)

युद्ध में से बुद्धि का निवर्तन करो, युद्ध में से मन को वापस खींच लो ।

युद्ध में से मन को वापस खींचना यह बहुत बड़ी बात है । ऐसा संकल्प भीष्म ने लिया कि तत्काल ही 'जल की बूंदों के साथ सुखद,

शीतल, सुगंधित तथा मन के अनुकूल वायु बहने लगी।' द्विधा, जहाँ तक युद्ध में मन लगा हो, तब तक ही रहती है। युद्ध में से मन वापस खींच लिया कि तत्काल सारी दुविधा टल जाती है।

भीष्म का यह निर्णय, उसके संयोग और उनके सूचितार्थ बहुत-बहुत कुछ कह जाते हैं : 'युद्धे बुद्धिं निवर्तय' इन तीन शब्दों में दी गई आज्ञा केवल भीष्म के लिए ही नहीं है, संसार में अनेक बार वृथा युद्ध की भूमिका आती है। ऐसे वृथायुद्ध की भूमिका का प्रतिकार करना, युद्ध का त्याग करना, यह शायद ही कभी हमें सूझता हो। जिसमें से कुछ भी मिलना नहीं है और जिसमें कुछ भी खोना नहीं है, ऐसे युद्ध के पीछे सम्पूर्ण आयु खो देनेवाले लोग भी कम नहीं हैं।

भीष्म ने एक बार यह संकल्प किया कि तत्काल उनके मन में से युद्धखोरी अदृश्य हो गई। शिखण्डी को आगे रखकर अर्जुन भीष्म के धनुष काटते हैं तब भीष्म ने अर्जुन पर हाथ उठाना बन्द कर दिया और अर्जुन के बाणों से घायल हुए भीष्म दुःशासन को 'स्मयमान' (स्मित के साथ) कहते हैं :

मुक्ता सर्वेऽव्य वच्छिन्नानेमे बाणाः शिखंडिनः ।

(भीष्म ११९; ६१)

अथवा

समाविशन्ति मर्माणि नेमे बाणाः शिखंडिनः,
अर्जुनस्य इमे बाणा नेमे बाणाः शिखंडिनः ।

(भीष्म, ११९; ६५)

'अविछिन्न रूप से छूटनेवाले ये सब बाण शिखण्डी के ही नहीं हो सकते' ऐसा कहकर भीष्म दुःशासन से कहते हैं 'ये बाण मेरे मर्मस्थल में प्रवेश करते हैं अतः ये शिखण्डी के तो नहीं ही हो सकते। ये अर्जुन के बाण हैं, शिखण्डी के नहीं हैं।'

युद्धभूमि में शरवर्षा झेलते समय इस प्रकार अर्जुन के बाण (वे जो वास्तव में उन्हीं को लक्ष्य बनाकर छूटते हैं) की ऐसी समालोचना परलोक के लिए दीक्षित हो और जिसने युद्ध में से बुद्धि निवृत्त की हो ऐसे महारथी ही कर सकते हैं।

और भीष्म अन्त में रणभूमि में गिरते हैं। इसका वर्णन महाकवि इस प्रकार करते हैं।

एवं स तव पिता शरैर्विशकलीकृतः,
शिताग्रैः फाल्गुनेनाजौ प्राक्शिराः प्रापतद्रथात्,
किंचिच्छेषे दिनकरे पुत्राणां तव पश्यताम् ।
(भीष्म, १४। [illegible])

ये शब्द संजय धृतराष्ट्र को संबोधित करते हुए कहता है। भीष्म पर्व के तेरहवें अध्याय में कथा कहाँ से आरंभ हुई थी, यह याद करना है?

हतो भीष्मः शान्तनवो भरतानां पितामहः ॥
(भीष्म, १४। ३)

भरतों के पितामह, शान्तनु के पुत्र भीष्म युद्ध में मारे गये, यह समाचार जानने के बाद, इससे पहले क्या हुआ ऐसी धृतराष्ट्र की जिज्ञासा से आरंभ हुई यह दस दिन की कथा के सूत्र को यहाँ जोड़ना चाहें तो जोड़ सकते हैं। संजय कहता है 'आपके पिता इस प्रकार युद्धभूमि में फाल्गुन (अर्जुन) के तीक्ष्ण बाणों से खूब ही बिंधकर छलनी जैसे शरीर सहित, जब दिन थोड़ा ही शेष बचा था, आपके पुत्रों को देखते हुए पूर्व दिशा में मस्तक रखकर रथ से नीचे गिर गये।'

यह समूचा वर्णन गौर करने लायक है। भीष्म का सारा शरीर छलनी की भाँति बिंध गया है, धृतराष्ट्र के पुत्र दस दिन में दस अर्बुद सैन्य का नाश करनेवाले अपने प्रतापी सेनापति जैसे पितामह को गिरते देख रहे हैं, पर कुछ कर नहीं सकते। वे गिरे हैं तब अभी सूर्य आकाश में है, ढलने की तैयारी में अर्थात् पश्चिम में है। और भीष्म पूर्व की ओर मस्तक रखकर, उनकी दृष्टि पश्चिम के क्षितिज पर बिदा लेते सूर्य को देख सकें। इस प्रकार, भूमि पर गिर पड़ते हैं।

अब भीष्म के सामने एक दुविधा आती है, उन्होंने युद्ध से बुद्धि को निवृत्त की और वे धराशायी हुए। पर अभी तो सूर्य दक्षिणायन में हैं। हंस दक्षिण की ओर जा रहे हैं। भीष्म तब संकल्प करते हैं। भले ही सारा शरीर बिंधा हो। वे शरशय्या में ही पड़े हैं, पर उत्तरायण होने तक वे अपने प्राणों को धारण किये रहेंगे। प्राणों को धारण कर रखने का भीष्म का संकल्प वेदना भरा है, पर इस वेदना में वीरत्व है।

बाद की घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। भीष्म का सारा शरीर शरशय्या पर है, केवल सिर नीचे लटक रहा है। अतः वे राजाओं से कहते हैं : 'मेरे

लिये उपधान—तकिया ले आइये' और राजा लोग मृदु तथा मुलायम वस्तुओं से बने अनेक तकिये लेकर आये, पर भीष्म ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा :

नैतानि वीरशय्यासु युक्तरूपाणि पार्थिवाः।

(भीष्म, १२०; ३६)

इनमें से एक भी वीरशय्या के अनुरूप उपधान नहीं है।

भीष्म गिरे हैं तब वहाँ कोई शत्रु नहीं है, कोई मित्र नहीं है। वहाँ कौरव और पांडव दोनों ही विनम्र होकर खड़े हैं। किसी एक पक्ष का महारथी नहीं गिरा है, बल्कि दोनों कुलों का आधार-स्तंभ ढल गया है। वहाँ अर्जुन भी हैं। भीष्म अर्जुन से कहते हैं : तुझे मन से जो उपयुक्त प्रतीत हो (यद् युक्तमिह मन्य से) ऐसा उपधान–तकिया–मुझे दे।

पितामह की इस आज्ञा का संकेत अर्जुन समझ जाता है। उसकी आँखें सजल हो उठती हैं। जिस बाण शय्या पर पितामह सोये हैं वे उसके ही छोड़े हुए बाण हैं यह बात अभी अर्जुन भूला नहीं है। वह तीन और बाण छोड़कर उनके आधार पर मस्तक को स्थिर करता है।

दुर्योधन भीष्म के शरीर में से बाण निकालकर औषधि का लेप कर सके ऐसे उत्तम उपचारकों को भेजता है। भीष्म इन सबको वापस लौटा देते हैं और कहते हैं,—"क्षात्र धर्म में जिसकी प्रशस्ति है वह वीरशय्या मुझे प्राप्त हुई है, अब वे बाण निकालकर चिकित्सा कराऊँ तो मैं अपना धर्म चूकुंगा। अपनी देह इन बाणों के साथ ही चिता पर चढ़े यही अब पितामह की इच्छा है।"

अर्जुन का एक और पराक्रम इसके बाद आता है और यह भी सुविदित है। जैसे वीरशय्या के लिए अनुरूप उपधान अर्जुन ने दिया वैसे ही भीष्म के सूखते मुँह को जल की जरूरत है। और अर्जुन पर्जन्यास्त्र संयुक्त बाण से पृथ्वी वेधता है और 'विमल, शुभ, शीतल, अमृतकल्प, दिव्यगंध रस के साथ' जलधारा पृथ्वी में से फूटकर भीष्म के मुख में गिरने लगती है।

भीष्म अर्जुन से ये दो पराक्रम दुर्योधन तथा अन्य कुरुवीरों की उपस्थिति में कराते हैं इसके पीछे उनका एक आशय है। वे दुर्योधन के मन में वासुदेव जिसके सहायक हैं, ऐसा अर्जुन अजेय है, यह बात

बैठाना चाहते हैं। वे इस भूमिका के बाद दुर्योधन को पांडवों के साथ संधि करने को समझाते हैं। भीष्म पहले से ही इस युद्ध की व्यर्थता को जानते थे। पर दस दिनों के संग्राम के बाद तो यह बात उन्हें और भी तीव्रता से समझ में आ गई थी। अतः उन्होंने यह सलाह सभी राजाओं के समक्ष दुर्योधन को दी। पर दुर्योधन अब युद्ध में से पीछे हटें इस स्थिति में है ही नहीं।

भीष्म पर्व का अन्त बहुत ही छोटे पर बहुत ही सूचक अध्याय के साथ होता है। यह है भीष्म और कर्ण के बीच का संवाद। महाभारत-कार प्रत्येक पात्र को उसकी अपनी खूबी के अनुरूप सँवार देते हैं। भीष्म ने हमेशा कर्ण का तिरस्कार किया है। कर्ण ने हमेशा भीष्म के प्रति द्वेष रक्खा है।

अब भीष्म के आसपास टोलियाँ बनाकर आये सभी राजा बिखर चुके हैं, और कार्तिकेय अपने जन्म के समय सोये थे ऐसी शय्या पर सोये भीष्म निमीलिताक्ष– आँखें बंद हैं। भीष्म और कर्ण कुटुम्ब पर-म्परा के अनुसार भी पितामह और पौत्र हैं, पर दोनों के बीच वीरत्व का भी सम्बन्ध है, दोनों ही वीर हैं। अस्तु एक वीर की यह वीरगति देखकर दूसरे वीर की आँखों में आँसू आवे यह सहज ही है। 'महाद्युति' कर्ण की आँखों और आवाज में आँसू का भार आता है और वह कहता है :

> राधेयोऽहं कुरुश्रेष्ठ नित्यमक्षिगतस्तव,
> द्वेष्योऽहं तवसर्वत्र..............................।
>
> (भीष्म १२२; ५)

कर्ण जानता है कि वह कुंती के गर्भ से जन्मा है। पर 'दैवायत्त कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्' ऐसे शब्द संस्कृत कवि भास ने जिसके मुख में रक्खे हैं वह कर्ण खुमारी भरा है। वह अपना पालन करनेवाली माता का गौरव तनिक भी कम नहीं करना चाहता। वह कहता है, 'राधेयोऽहं' (मैं राधेय हूँ) और फिर कुछ नाट्यात्मकता और जिन संयोगों में बातें कही जाती हैं उन्हें ध्यान में लेने पर, कुछ वेदना के साथ कहता है, 'आपकी आँखों में हमेशा किरकिरीकी तरह गड़ता और जिसे आप हमेशा द्वेष से ही देखते थे, ऐसा यह राधेय, मैं आपके पास आया हूँ।'

भीष्म कर्ण के भी पितामह हैं। इस क्षण उनका वात्सल्य छलक पड़ता है। युद्धभूमि में गिरने के बाद वे अर्जुन या दुर्योधन किसी से भी एकांत में नहीं मिले हैं, यह अधिकार–यश वे केवल कर्ण को प्रदान करते हैं। वे रक्षकों को भी दूर करके 'पूर्ण एकान्त' में कर्ण से मिलते हैं :

पितेव पुत्रं गांगेयः परिरभ्यैकपाणिना,

(भीष्म १२२; ७)

पिता पुत्र को आलिंगन दे इस प्रकार एक हाथ से उन्होंने कर्ण का परिरंभन किया–कर्ण का आलिंगन किया। और फिर जो शब्द कुंती ने कर्ण से कहे थे वही वे कहते हैं :

कौन्तेय स्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता।

(भीष्म, १२२; ९)

तू कौन्तेय है, राधेय नहीं, अधिरथ तेरा पिता नहीं है।

कर्ण के इस वंश रहस्य को यदि भीष्म जानते हैं तो फिर वे सूतपुत्र कहकर बारम्बार उसकी हेठी क्यों करते थे ? भीष्म इस बात का खुलासा भी करते हैं कि तूँ दुर्योधन को उसकाता रहता था अत. तेरा तेजोवध करने के लिए मैं तुझे कटुवचन कहता था, पर रणभूमि में तेरा पराक्रम शत्रुओं के लिए दुःसह है। तूं ब्राह्मणभक्त, शूर और दान में उत्तम निष्ठा रखनेवाला है, भीष्म आगे कहते हैं :

इष्वस्त्रे चास्त्रसंधाने लाघवेऽस्त्रबले तथा
सदृशः फाल्गुनेनासि कृष्णेन च महात्मना।

(भीष्म, १२२; १६)

शरविद्या में, शस्त्र संधान में, लाघव में तथा अस्त्रबल में तूं फाल्गुन अर्थात् अर्जुन तथा महात्मा कृष्ण की बराबरी का है।

समूचे महाभारत में कर्ण के लिए, उसके शौर्य के लिए इससे बड़ा प्रमाणपत्र दूसरा एक भी नहीं है। भीष्म जैसे दुंःसह वीर जिनकी मृत्यु सम्मुख है तब, एकांत में कर्ण के मुँह पर ये शब्द कहते हैं। अतः ये शब्द सत्य और केवल सत्य ही हो सकते हैं।

कर्ण की एक और परीक्षा यहाँ होती है। कर्ण को पांडवों के पक्ष में मोड़ने का एक प्रयत्न कृष्ण ने किया था, दूसरा प्रयास कुंती ने

किया था। अब भीष्म दसवें दिन की रात में ऐसा ही एक भगीरथ प्रयास करते हैं। वे कर्ण से कहते हैं कि पांडव तेरे सगे भाई हैं, तूं उनके साथ जुड़ जा तो यह संहार तूं टाल सकेगा।

कर्ण ने कृष्ण से कहा था वही भीष्म से कहता है, वह कहता है 'जानाभ्येव' (मैं यह सब जानता हूँ।) मुझे इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है पर मैंने दुर्योधन के समक्ष प्रतिज्ञा की है कि तेरे समस्त दुष्कर कार्य मैं पूरे करूँगा और अब........

भुक्त्वा दुर्योधनैश्वर्यं न मिथ्या कर्तुमुत्सहे।

(भीष्म, १२२; २४)

दुर्योधन का ऐश्वर्य भोगने के बाद मुझसे इन प्रतिज्ञाओं को निष्फल नहीं किया जा सकता।

इतना ही नहीं पर कर्ण अपनी दुर्योधन के साथ की मैत्री के सत्य को एक परम उपमा द्वारा प्रगट करता है :

वसुदेवसुतो यद्वत् पांडवाय दृढ़व्रतः
वसुचैव शरीरं च पुत्रदारं तथा यशः।

(भीष्म, १२२;२५)

जैसे वसुदेव के पुत्र पांडव-अर्जुन की सहायता के लिए दृढ़व्रत हैं, उसी प्रकार मैं श्री, शरीर, पुत्र, दारा के साथ ही यश आदि सबके साथ दुर्योधन के पक्ष में हूँ, दुर्योधन के वास्ते सब कुछ न्यौछावर कर सकता हूँ।

कर्ण यहाँ अपने स्थान की जैसे अर्जुन के पार्श्व में कृष्ण हैं इससे तुलना करता है। यहाँ अहंकार नहीं है, पर नम्रता के साथ सत्य का निवेदन है। पराक्रम में जिसकी बराबरी केवल अर्जुन और कृष्ण ही कर सकें ऐसा कर्ण दुर्योधन के साथ मैत्रीरूप-सत्य से बंधा है। इस मैत्री की वेदी पर वह लक्ष्मी, शरीर, पुत्र, पत्नी, यश सबकुछ त्याग देने को तत्पर है। दुर्योधन के पक्ष में रहा अतः यश तो छोड़ ही दिया। पर यहाँ कर्ण और कृष्ण की दो समताएं एक भीष्म ने और एक जो कर्ण ने स्वयं की है, गौर करने लायक हैं। 'यदि वैर न छोड़ा जा सके तो स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा के साथ युद्ध करो' ऐसी भीष्म की आज्ञा शिरोधार्य करके कर्ण भीष्म के पास से चला जाता है। कर्ण और भीष्म

का यह मिलन महाभारत में मानव सम्बन्धों के शिरमौर प्रकरणों में से एक है।

२६. चक्रव्यूह

भीष्म मारे गये, इस घटना ने कर्ण को झकझोर दिया है। वासुदेव सहित अर्जुन जहाँ धर्म की सहायतार्थ हो, वहाँ युद्ध में विजयी होऊँगा ऐसा मिथ्या वचन वह दुर्योधन को नहीं देता। यदि दुर्योधन में समझने की शक्ति हो तो कर्ण उल्टे उससे कहता है।

नेह ध्रुवं किंचन जातु विद्यते
लोके ह्यस्मिन् कर्मणोऽनित्ययोगात्
सूर्योदये को हि विमुक्त संशयो
भावं कुर्वीतार्य महाव्रते हते।

(द्रोण, २;६)

इस संसार में कर्मो के अनित्य योग के कारण कुछ भी ध्रुव-स्थिर- नहीं है, महान व्रतधारण करनेवाले और श्रेष्ठ भीष्म मारे गये तो अब ऐसा कौन है जो संशयविमुक्त होकर कह सकता है कि कल सबेरा होगा ही?

इस कथन में दुर्योधन को युद्ध का भविष्य समझा दिया गया है: भीष्म जैसे महारथी भी जिनके सामने टक्कर नहीं ले सके, उसके सामने औरों की क्या बिसात है, यह बात कर्ण अच्छी तरह जानता है। अतः वह दुर्योधन को झूठा आश्वासन नहीं देता। वह कहता है।

तथापि हन्तास्मि समेत्य संख्ये
यास्यामि वा भीष्म पथा यमाय।

(द्रोण, २;३२)

मृत्यु स्वयं अर्जुन की रक्षा करने आये तो भी मैं युद्ध के मैदान में उसका सामना करके या तो अर्जुन को मारूँगा अथवा मैं स्वयं भीष्म के मार्ग पर यमअर्थ—अर्थात् उनके दर्शन करने जाऊँगा।

कर्ण में औचित्य की लेश मात्र भी कमी नहीं है। भीष्म लड़ते थे तब तक वह नहीं लड़ा, पर दुर्योधन निरंतर यही मानता था कि जहाँ कर्ण लड़ना शुरू करेगा कि मेरे पक्ष पर छाये बादल दूर हो जायेंगे।

पर कर्ण हकीकत या वास्तविकता जानता है। वह कहता है कि अब भीष्म के बाद सेनापति पद तो आचार्य को ही मिलना चाहिये।

महाभारतकार को कथा का आरंभ अन्त से करने की युक्ति बहुत प्रिय है। इसी से तो द्रोणपर्व के सातवें अध्याय में ही संजय धृतराष्ट्र को झटका देता है :

एतानि चान्यानि च कौरवेन्द्र
कर्माणि कृत्वा समरे महात्मा,
प्रताप्य लोकानिव कालसूर्यो
द्रोणो गतः स्वर्गमितो हि राजन्।

(द्रोण, ८;२९)

हे कौरवेन्द्र, समरभूमि में तथा अन्यत्र भी (वीर) कर्म करके महात्मा द्रोण कालसूर्य की भाँति (प्रलयकाल के सूर्य की दाहकता-सहित) लोकों को तपाकर यहाँ से स्वर्ग में गये।

इस प्रकार द्रोण की मृत्यु के साथ ही द्रोणपर्व का आरंभ होता है। द्रोण इत्यादि के पराक्रम की कथा बाद में आती है। इसमें कथन की युक्ति के अलावा विधि द्वारा नियत विधान अटल है, यह याद दिलाने की भी महाकवि व्यास की युक्ति हो सकती है। हर समय युद्ध में पराजय निश्चित है, इसका विश्वास होने के बाद भी दुर्योधन युद्ध करता है; अपने पुत्रों का विनाश ही होना है, ऐसी चेतावनी तथा स्वयंप्रतीति के बावजूद धृतराष्ट्र इस युद्ध के लिए उसे प्रेरित करता है। अपनी पराजय अवश्यंभावी है, यह जानने के बाद भी लड़ते, जूझते, विधि के विधान के समक्ष असहाय होकर मोरचा बाँधते मानव का ही प्रतीक इन सब में दिखता है।

द्रोण की मृत्युका समाचार जानकर धृतराष्ट्र कहता है–शारंगधन्वा पुरुष सिंह कृष्ण जिनके आश्रय हों, ऐसे कुंती कुमारों की पराजय कैसे हो सकती है? उन कृष्ण की लीला का स्मरण करके धृतराष्ट्र अपनी बुद्धि को स्थिर करने का विचार करता है। ऐसे कृष्ण का स्मरण भी करता है, पर यह स्मरण करने के बाद भी इसी निर्णय पर आता है :

यस्य यन्ता हृषीकेशो योद्धा यस्य धनंजयः,
रथस्य तस्य कः संख्ये प्रत्यनीको भवेद रथः।

(द्रोण, ११;३६)

जिसके सारथी हृषीकेश (इंद्रिय-नियंता) हैं और जिसके योद्धा धनंजय हैं, उस रथ का सामना कर सके ऐसा रथ समरभूमि में दूसरा कौन सा हो सकता है ?

मृत्यु की सनातनता भी द्रोणपर्वका विषय है। आगे अभिमन्यु वध के समय यह बात सविस्तार आती है, पर उसका आरंभ तो धृतराष्ट्र के आत्मनिरीक्षण से ही हो जाता है :

नह्येव ब्रह्मचर्येण न वेदाध्ययनेन च,
न क्रियाभिर्न चास्त्रेण मृत्योः कश्चिन्निवार्यते।

(द्रोण, ११;४४-४५)

भीष्म ब्रह्मचारी थे : भीष्म और द्रोण दोनों ही ने वेदोंका अध्ययन किया था, कर्मों के अनुष्ठान या शस्त्रविद्या में दोनों में से कोई भी उन्नीस नहीं था, पर मृत्युको कौन टाल सकता है ? ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन, कर्म या शस्त्र; इनमें से कोई भी मृत्यु का निवारण नहीं कर सकता।

मृत्यु का निवारण नहीं हो सकता इसके साथ ही मृत्यु को सरसरी तौरपर आम आदमी स्वेच्छा से पा भी नहीं सकता। अस्तु धृतराष्ट्र शोक करता है, मैं अभी जीवित क्यों हूँ ? धृतराष्ट्र नहीं जानते कि यह उनकी प्रबल जिजीविषा ही उन्हें उनके श्रेष्ठ बुजुर्गो, आचार्यो, और पुत्रों की मृत्यु के बाद भी जीवित रखने वाली है। स्वेच्छामृत्यु तो धृतराष्ट्र जैसे कायरके भाग्य में नहीं हो सकती, उसे तो यह सब व्यथाएं निरखनी हैं और मृत्यु से उबरते रहना है। धृतराष्ट्र को एक क्षण भी यह नहीं होता कि चलो मैं स्वयं मृत्यु का वरण करूँ।

साधारणतः धृतराष्ट्र को ताना मारने का एक भी अवसर न चूकने वाला संजय इस समय धृतराष्ट्र से कुछ भी नहीं कहता। वह तो कथा कहना शुरु कर देता है। फिर बेबसी में डूबता आदमी जैसे तिनके का सहारा ढूंढे, ऐसी आशा झाँक जाती है।

द्रोण दुर्योधन से वरदान माँगने को कहते हैं, तब दुर्योधन युधिष्ठिर को जिंदा पकड़ लाने को कहता है, युधिष्ठिर का वध न करके उन्हें जिन्दा पकड़ लाने की माँगका क्या आशय है, यह दुर्योधन छिपाता नहीं। वह कहता है :

सत्यप्रतिज्ञे त्वानीते पुनर्द्यूतेन निर्जिते,
पुनर्वास्यन्त्यरण्याय पांडवास्तमनुव्रताः।

(द्रोण, १२;१७)

सत्यप्रतिज्ञ युधिष्ठिर को मैं पुनः द्यूत में जीतूंगा और उनका अनुसरण करने वाले पाण्डव पुनः अरण्य में जायंगे ।

भीष्म जैसे महारथी गिर चुके हैं, कर्ण ने कहा है कि अब तो 'कल किसने देखा है' का आलम है, तब भी दुर्योधन द्यूतसभा का स्वप्न देखता है। जो छलकपट एक बार सफल हुए थे, वे पुनः काम आवेंगे ऐसा विचार करता है; पर उसी छल कपट के कारण ही वह युद्धभूमि में ऐसी पराजय भोग रहा है, इसका विचार उसे नहीं आता ।

कर्ण ऐसी किसी गफलत में नहीं है। द्रोण प्रचंड युद्ध करते हैं तब पांडव हारकर भागेंगे ऐसा माननेवाले दुर्योधन से वह कहता है।

> विषाग्निद्यूतसंक्लेशान बनवासं च पांडवाः
> स्मरमाणा न हास्यन्ति संग्राममिति मे मतिः ।
>
> (द्रोण, ८२;२०)

इस एक श्लोक में समूचे महाभारत का सार, युद्ध का परिणाम कह दिया गया है। कर्ण कहता है कि विषप्रयोग, अग्निदाह और द्यूत सभा आदि क्लेश जिन्होंने भोगे हैं और इससे भी अधिक बनवास जिनके भाग्य में आया, ऐसे पाण्डव यह सब भूल नहीं सकते इसी से वे युद्ध में मरना पसन्द करेंगे पर अपने ऊपर ये आफतें बरसाने वाले से हारना तो कदापि पसंद नहीं करेंगे ।

कृष्ण और अर्जुन के बीच अब तक अर्जुन मृदु-युद्ध करता है, ऐसा कृष्ण का रोष दिखता है पर भगदत्त के समक्ष युद्ध में भगवान कृष्ण भगदत्त द्वारा छोड़े गये वैष्णवास्त्र को अपनी छाती पर झेलते हैं और कृष्ण की छातीपर यह भीषण शस्त्र बैजयन्ती माला बन जाता है, तब अर्जुन कहता है।

> अयुध्यमानस्तुरगान् संयन्तास्वामीति चानध,
> इत्युक्त्वा पुंडरीकाक्ष प्रतिज्ञां स्वां न रक्षसि ।
>
> (द्रोण, २९;२२)

मैं अयुध्मान रहकर केवल अश्वों को संयम में रखूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा आपने की है, यह बात है कमलनयन, आप क्यों भूल जाते हैं ? मैं अशक्त हो जाऊँ और मेरे पर होने वाला हमला आप झेलें यह तो ठीक है पर 'तत्कार्यं मयि स्थिते' (उस कार्य में मैं स्थिर होऊँ) तब आपको ऐसा नहीं करना चाहिये। कृष्ण इसके लिए अपना कारण बताते हैं।

इसके बाद अर्जुन भगदत्त का हनन करता है। इससे पहले भगदत्त का हाथी उसके अंकुश में नहीं रहता, इसका वर्णन आधुनिक कवि अंकित करें ऐसी उपमा के साथ कवि करते हैं :

न करोति वरस्तस्य दरिद्रस्येव योषिता।

(द्रोण, २९; ४२)

दरिद्र पुरुष की पत्नी अपने स्वामी का कहा न माने उसी प्रकार यह हाथी भी भगदत्त के अंकुश में नहीं रहा।

अभिमन्यु नामक पात्र महाभारत में थोड़ी देर के लिए चमकता है पर उसका विशेष महत्व है। पाण्डवोंके अनेक पुत्रों में अर्जुनपुत्र अभिमन्यु की ही महिमा अधिक है। पांडवोंका वंश भी इस अभिमन्यु की पत्नी उत्तारा के गर्भरक्षण से ही चालू रहता है। अभिमन्यु अर्जुन का पुत्र है तो कृष्ण का भांजा है। ये दोनों सम्बन्ध अभिमन्यु नामक पात्र को विशिष्ट आयाम प्रदान करते हैं।

द्रोण जब चक्रव्यूह रचते हैं तब अभिमन्यु इस व्यूह में से निकलने का मार्ग न जानते हुए भी छलांग मारकर कूदने का निश्चय करता है। वह कहता है :

अहमेतत् प्रवेक्ष्यामि द्रोणानीकं दुरासदम्
पतंग इव संक्रुद्धो ज्वलितं जातवेदसम्।

(द्रोण, ३५; २४)

जैसे परवाने सुलगते हुए अग्नि में गिरते हैं वैसे ही मैं भी संक्रुद्ध होकर द्रोणाचार्य के सैन्य-व्यूह में प्रवेश करूँगा।

परवाना सुलगते अग्नि में प्रवेश करता है तब उसका जो भावि होता वह अपना भी भावि है, यह जानने के बाद भी यह तरुण चक्रव्यूह में कूद पड़ता है। अभिमन्यु के अपार पराक्रम की गाथा में रस लेने वाले को तो महाभारत के निकट जाना ही होगा। पर जिसके बाणों के सामने टिकना संभव नहीं पर क्षत्रियधर्म है इसलिए खड़ा हूँ ऐसा द्रोण कहते हैं कि जिसके लिए 'रणभूमि में अर्जुन भी इससे बढ़कर कुछ नहीं है', ऐसा कहते हैं, इतना ही यहां पर्याप्त है। और द्रोण, कर्ण जैसे महारथियों द्वारा इस बालक अभिमन्यु की हत्या हुई तब 'नैष धर्मो' यह धर्म नहीं है ऐसी वाणी आकाश में उपस्थित भूतों ने उच्च स्वर में कही।

अब मृत्यु के प्रादुर्भाव की अत्यन्त रोचक कथा आती है। व्यास

आकर उदास युधिष्ठिर आदि को मृत्यु की अनिवार्यता समझाते हुए 'षोडशराजिक आख्यान' सुनाते हैं। ब्रह्म के क्रोध में से कृष्ण (श्याम) रक्तिम और पीतवर्ण की लालजीभ, मुँह और नेत्रवाली तथा तप्तकुंडल और तप्त आभूषण वाली एक नारी सृजित हुई, इस नारीको ब्रह्मा ने संहार का काम सौंपा।

एक तो नारी-और उसे संहार का काम सौंपा जाय यह बात वह कैसे पचा सकती है ? इस नारी ने इसका प्रतिकार किया। अपने ऊपर इस संहार का दोष न आवे इस हेतु उसने एक पैर पर खड़े रहकर इक्कीस पद्म वर्ष तक कठोर तप किया और दयावश, प्रजा के हित के लिए प्रिय विषयों में से इंद्रियों को निवृत्त किया। पुनः एक पैर पर खड़े रहकर दूसरे इक्कीस पद्म वर्ष तपस्या की। इतनी कठोर तपश्चर्या के बाद ब्रह्मा उसे आश्वासन देते हैं। 'हे मृत्यु, तू प्रजा का संहार करेगी पर तुझे अधर्म नहीं होगा।' और फिर ब्रह्मा कहते हैं–उनके मुख में व्यास आधुनिकतम कवि को ईर्ष्या हो ऐसे शब्द रखते हैं।

यान्यश्रुविन्दूनि करे ममासं–
स्ते व्याधयः प्राणिनामात्मजाताः,
ते मारयिष्यन्ति नरान् गता सून्
ना धर्मस्ते भविता भास्म मैषीः।

(द्रोण, ५४; ४०)

मेरे हाथ पर गिरे तेरे अश्रुकण व्याधि बनकर प्राणियों के शरीर में जायंगे और उसका नाश करेंगे। इस प्रकार तुझे अधर्म का स्पर्श भी न होगा।

मृत्यु की यह महिमा और सोलह महान राजाओं के जीवन में वह कैसे आई यह बात कहने के बाद सोलह राजाओं के उपाख्यान आते हैं। दिलीप के आख्यान में दिलीप राजा को वहाँ की महिमा व्यक्त करते हुए महाकवि ने एक बात कही है उसे टांकने का लोभ हम संवरण नहीं कर पाते :

पंच शब्दा न जीर्यन्ति खट्वांगस्य निवेशने।
स्वाध्यायघोषो जयाघोषः पिबताश्नीत खादत।

(द्रोण, ६१; १०–११

खट्वांग (दिलीप) के आवास में ये पांच शब्द कभी जीर्ण नहीं

होते थे। वेद इत्यादि का अध्ययन, धनुष की प्रत्यंचा की ध्वनि, अतिथियों से कहे जाते पियो, खाओ, आओ के तीन शब्द। ये पाँच शब्द जिसके घर में जीर्ण न हों वह सच्चा गृहस्थ है ऐसी अटपटी व्याख्या यहाँ दी गई है। साथ ही 'शब्द जीर्ण नहीं होते' ऐसा शब्द प्रयोग भी संमोहक है।

ऐसे ऐसे राजाओं को भी मृत्यु प्राप्त हुई तब अभिमन्यु ने वीर-गति प्राप्त की इसमें शोक करने लायक कुछ भी नहीं है ऐसा कहकर व्यास ने विदा ली तब युधिष्ठिर आदि के शोक का तो शमन हुआ पर संशप्तकगण का हनन करने गया अर्जुन वापस आयेगा तब क्या कहेंगे यह प्रश्न तो युधिष्ठिर के मन में है ही। 'अभी पुत्र दर्शन से नेत्र तृप्त हुए नहीं हैं कहां तो पुत्र को यमराज ले गये' इससे शोकाकुल अर्जुन के क्रोध के सामने केवल वासुदेव और ज्येष्ठ (युधिष्ठिर) के सिवा कोई बोल सके ऐसा न था। युधिष्ठिर ने परिस्थिति समझाई। जयद्रथ ने चार पाण्डवों को रोक रक्खा तभी छः महारथियों ने मिलकर अभिमन्यु को अधर्म से मारा। यह सुनकर अर्जुन अगले दिन के सूर्यास्त से पूर्व जयद्रथ का वघ करने और न कर पाये तो प्रज्जवलित अग्नि में प्रवेश करने की प्रतिज्ञा करता है। तब स्वयं इस प्रतिज्ञा का पालन न करे तो इससे जो पाप लगेंगे उनकी सूची याद करता है, इनमें 'कन्या शुल्केन दायिन।' के (शुल्क लेकर कन्या देने से होने वाले) पाप का भी समावेश करता है।

अर्जुन की इस प्रतिज्ञा से दुर्योधन की छावनी में स्यापा पड़ जाता है। जयद्रथ तो द्रोण के विश्वास से आश्वासन प्राप्त करता है, पर दुर्योधन के मन में रह रहकर एक प्रश्न उठता है। वह द्रोण से पूछता है 'मुझमें और अर्जुन में विद्याकी दृष्टि से कौन श्रेष्ठ है, यह तत्त्व मुझे जानना है अस्तु आप मुझे बतायें।' तब द्रोण उससे कहते हैं।

> सममाचार्यकं तात तव चैवार्जुनस्य च,
> योगाद् दुःखोषित तत्वाच्च तस्मात्त्वत्तोऽधिकोऽर्जुनः।
>
> (द्रोण, ७४! २५)

आचार्य द्वारा दिया हुआ ज्ञान तो तुझे और अर्जुन को बराबर ही मिला है। मात्र योग से और दुख सहन करना पड़ा है इस कारण अर्जुन तुझसे बढ़कर है।

बहुत बड़ी बात है। दुर्योधन में सबसे पहले तो योग, प्रभु के साथ का तादात्म्य नहीं है, दूसरा उसने दुख सहन नहीं किया है, इस परिस्थिति में दुर्योधन अर्जुन से इतना नीचे है।

योग और दुख, ये दो चीजें मानव को महान बनाती हैं; भगवान से जिसका योग होता है उसे ही भगवान अग्नि की भट्ठी में डालकर तपाते होंगे ?

२७. संहार के बीच जीव दया

जयद्रथ के वध के लिए ऐसे तो अर्जुन ने बिना विचारे आवेश में आकर प्रतिज्ञा कर ली थी। कुरुक्षेत्र के युद्ध में द्रोण जैसे आचार्य सामने हों और शस्त्रयुक्त हों तब ऐसी प्रतिज्ञा पूरी होना एक असंभव सा कार्य ही है। अर्जुन अभिमन्यु के शोक में इतना डूब गया था कि यह प्रतिज्ञा करते समय वह इसकी गम्भीरता समझ नहीं सका था। साथ ही अर्जुन को कृष्ण में पूरी श्रद्धा थी। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

> असम्मन्त्र्य मयासार्धमतिभारोऽयमुद्यतः,
> कथंतु सर्वलोकस्य नावहास्या भवेमहि।
>
> (द्रोण, ७५; ३)

मेरी सहमति लिये बिना तूने इतना बड़ा भार उठा लिया। इस स्थिति में हम सब लोगों के उपहास पात्र न बनें तो आश्चर्य होगा। कृष्ण अर्जुन को उसकी प्रतिज्ञा कितनी विकट है यह बात समझाते हैं। द्रोण ने जयद्रथ की रक्षा करने का भार लिया है। कर्ण, भूरिश्रवा, अश्वत्थामा, वृषसेन, कृपाचार्य और शल्य जैसे छः महारथी जयद्रथ के आसपास उसे घेर कर रहनेवाले हैं। इस परिस्थिति में सूर्यास्त से पूर्व जयद्रथ का वध करना कितना विकट है यह बात कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं।

अर्जुन के उत्तर में पहले तो हमें थोड़ा-सा 'अहंकार' लगता है। परन्तु अर्जुन की इस उक्ति के पीछे की पृष्ठभूमिका जब प्रकट होती है तब कृष्ण के साथ की उसकी तन्मयता का ध्यान आता है। अर्जुन यह सब केवल अपने बल पर नहीं कहता। वह कहता है :

गांडीवं च धनुर्दिव्यं योद्धा चाहं नरर्षभ,
त्वं च यन्ता हृषिकेश किं नु स्यादजितं मया।

(द्रोण, ७६; २०)

एक तो गांडीव जैसा दिव्य धनुष, मेरे जैसा योद्धा और आप जैसे सारथी, तब मैं इस पृथ्वी पर किसे नहीं जीत सकता ?

अर्जुन की कृष्ण में अनन्य निष्ठा है। जैसे ब्राह्मण में सत्य, साधु में नम्रता और यज्ञ में श्री ध्रुव (अचल) है वैसे ही (ध्रुवो नारायणं जयः) जहाँ कृष्ण हों वहाँ 'जय' भी ध्रुव है–जय भी निश्चित है।

जयद्रथ वध का अर्जुन का संकल्प कृष्ण जिस प्रकार पूरा कराते हैं उसमें कृष्णार्जुन सम्बन्ध की सबसे उत्तम परीक्षा होती है।

उस रात कोई सोया नहीं। अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी होगी कि नहीं होगी, इस भय से पांडवों के शिविर में किसी को भी नींद नहीं आती, अर्जुन प्रतिज्ञा पूरी किये बिना नहीं रहेगा इस भय से कौरवों के शिविर में भी कोई नहीं सोता। कृष्ण और दारुक उस रात जाग रहे हैं। कृष्ण दारुक से कहते हैं :—मुझे स्त्री, मित्र, जाति, बंधुगण–कोई भी अर्जुन से अधिक प्रिय नहीं है। आगे बढ़ते हुए वे कहते हैं :—

यस्तं द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्तंचानु स मामनु,
इति संकल्प्यतां बुद्धया शरीरार्द्धं ममार्जुनः।

(द्रोण, ७९; ३३)

जो अर्जुन से द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है। जो उसका अनुसरण करता है वह मेरा अनुसरण करता है। तू अपनी बुद्धि से ऐसा संकल्प कर कि अर्जुन मेरा आधा शरीर है।

अर्जुन के साथ ही यह तद्रूपता कृष्ण प्रगट कर रहे हैं तभी अर्जुन के स्वप्न में कृष्ण आते हैं और कृष्ण उसे शिवके पास ले जाते हैं और पाशुपतास्त्र का वरदान प्राप्त होता है। कृष्ण और अर्जुन शंकर को प्रसन्न करके शिविर में वापस लौटते हैं और इस प्रकार ८१ वां अध्याय पूरा होता है। जब ८२ वां अध्याय शुरु होता है तब ७९ वें अध्याय के कृष्ण-दारुक संवाद की कड़ी ही आगे बढ़ती है। यहाँ कृष्ण और दारुक 'मैने बताई वे बातें कर रहे थे कि रात बीत गई' ऐसा वृत्तान्त संजय कहता है। यहाँ ब्यास के कथागुंथन की कला भी आती है, साथ

ही ऐसे महा-संकल्प की रात कैसी विकट बीती, इसका भी ख्याल आता है।

दूसरे दिन सबेरे भी सबको यही चिंता है। युधिष्ठिर जब कृष्ण से अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी करवाने में सहायक होने की प्रार्थना करता है तब कृष्ण वचन देते हैं : 'आग जिस तरह ईंधन को सुलगा देती है उसी प्रकार अर्जुन दुर्योधन की सेना को भस्म कर देगा और सौभद्रघाती जयद्रथ अर्जुन के बाण का भोग बनकर उसी मार्ग पर जायेगा जहाँ से उसके जीव को इस लोक का पुनः दर्शन संभव ही नहीं रहेगा।' (द्रोण, ६०; १७–१८)

संजय यह कथा धृतराष्ट्र से कहता है तब शोक और पुत्रनिंदा की धृतराष्ट्र की प्रकृत्ति प्रबल हो उठती है और संजय उस पर हमेशा की भाँति वार करता है।

गतोदके सेतुबन्धो यादृक् तादृगयं तव,
विलापो निष्फलो राजन् मा शुचो भरतर्षभ।

(द्रोण, ८६; २)

पानी बह जाने के बाद सेतुबन्ध (पुल बाँधना) जैसे व्यर्थ होता है उसी प्रकार आपका यह विलाप भी निष्फल है।

उस दिन के युद्ध के आरंभ में जब सबसे पहले द्रोण और अर्जुन आमने-सामने आते हैं, तब अर्जुन, रणभूमि पर जिनका पराजय असम्भव है ऐसे द्रोण को गुरुभक्ति की भूमि पर घायल कर डालता है। वह द्रोण से कहता है : आप मेरे लिए पिता, बड़े भाई, धर्मराज और सखा कृष्ण के समान हैं : मैं आपके लिए अश्वत्थामा जैसा हूँ। इसी से–

तवप्रसादादिच्छेयं सिन्धुराजानमाहवे।
निहन्तु द्विपदां श्रेष्ठ प्रतिज्ञां रक्ष में प्रभो !

(द्रोण, ९१; ६)

आपके प्रसाद से मैं सिन्धुराज को युद्ध में मारने की इच्छा रखता हूँ। हे प्रभू, आप मेरी प्रतिज्ञा की रक्षा करें।

द्रोण अर्जुन को बराबरी का युद्ध प्रदान करते हैं। पर आज कृष्ण किसी और मिजाज में हैं। वे जानते हैं कि आज साँझ से पहले अर्जुन को जयद्रथ का वध करना है। यदि वह मार्ग में भिन्न महारथियों से युद्ध करने में लग गया तो सूर्यास्त से पहले जयद्रथ तक पहुँच भी नहीं पायेगा। अतः वे तत्काल ही अर्जुन को सचेत करते हैं।

पार्थ पार्थमहाबाहो न नः कालात्ययो भवेत्।
(द्रोण, ९१; ३०)

वे जल्दी में हैं अतः पार्थ को दो बार संबोधित करते हैं-और कहते हैं—यहाँ ज्यादा समय न बीते इसका ध्यान रख। द्रोण के साथ तो कई दिन तक अर्जुन लड़ें तो भी युद्ध पूरा नहीं होगा। अर्जुन तुरन्त द्रोण की प्रदक्षिणा करके आगे बढ़ता है। कृष्ण अर्जुन के रथ को आगे ले जाते हैं। द्रोण तुरन्त ही टोकते हैं :

ननु नाम रणे शत्रुमजित्वा न निवर्तसे।
(द्रोण, ९१; ३३)

अर्जुन, तूं तो युद्ध में शत्रु को पराजित किये बिना कभी हिलता नहीं था, तब आज क्यों भाग रहा है?

अर्जुन का उत्तर एक बार फिर द्रोण को भक्ति की भूमि पर घायल कर देता है।

गुरुर्भवान् न मे शत्रुः शिष्यः पुत्रसमोऽस्मि ते,
न चास्ति स पुमाँल्लोके यस्त्वां युधि पराजयेत।
(द्रोण, ९१; ३४)

आप तो मेरे गुरू हैं, मेरे शत्रु नहीं हैं। मैं आपके पुत्र के समान शिष्य हूँ। और इस लोक में आपको युद्ध में पराजित करे ऐसा कोई मुझे दिखाई नहीं देता।

जयद्रथ-वध के युद्ध को महाकवि व्यास ने खूब रंग दिये हैं पर इन सब प्रवृत्तियों के बीच कृष्ण की चिंता एक ही है।

चिन्तयामास वार्ष्णेयो न नः कालात्ययो भवेत्।
(द्रोण, ९२; २४)

वार्ष्णेय की (कृष्ण की) चिंता यही है कि यहाँ अधिक समय न बीत जाय। अर्जुन की रुचि अपना पराक्रम दिखाने में है। वह योद्धा है। कृष्ण सारथी हैं। प्रतिज्ञा अर्जुन ने की है, पर उसे निभानी है कृष्ण को। और इसी से कृष्ण 'यहाँ अधिक समय बीत न जाय' इसकी चिंता करते हुए अर्जुन से आगे, और आगे बढ़ने को कहते हैं।

एक सुंदर प्रसंग आता है। श्रुतायुध के पास ऐसी गदा है जो 'अयुध्यमान' लड़ता न हो ऐसे व्यक्ति पर फेंकी जाय तो लौटकर

करती है। श्रुतायुध यह गदा कृष्ण पर फेंकने वाले का ही संहार करती है। श्रुतायुध यह गदा कृष्ण पर फेंकता है। जैसे वायु विन्ध्य पर्वत को कंपा नहीं सकता, उसी प्रकार यह गदा कृष्ण को कंपा न सकी' पर वापस लौटकर वह श्रुतायुध का वध करती है।

कृष्ण अर्जुन के रथ को शत्रुसेना में धीरे-धीरे उसके लक्ष्य की ओर ले जा रहे हैं।

> रथशिक्षां तु दाशार्हो दर्शयामास वीर्यवान,
> उत्तमाधममध्यानि मंडलानि विदर्शयन।
>
> (द्रोण, ९९; ६)

दशार्हवंशी, वीर्यवान कृष्ण अपनी रथशिक्षा को उत्तम, अधम और मध्यम जैसे तीनों मण्डलों द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं। कृष्ण सारथि के रूप में अर्जित अपनी कला प्रगट कर रहे हैं।

इस अवसर पर कृष्ण और अर्जुन की महत्ता सिद्ध करती एक घटना होती है। युद्ध में साधारणतया योद्धा का ध्यान अपने आप पर ही होता है। सारथि का ध्यान भी स्वयं लक्ष्य न बने ऐसा बचाव करने में होता है। परन्तु अर्जुन कृष्ण से कहता है। अश्व बाणों से पीड़ित हुए हैं, जयद्रथ अभी बहुत दूर है; मुझे लगता है कि हमें रथ त्यागकर अश्वों के शरीर से बाण निकालने चाहिये।

घोर युद्ध चलरहा है, तब अर्जुन को ऐसी बात सूझे यह विचित्रता है। कृष्ण भी कहते हैं: 'अर्जुन, तूने जो बात कही, मैं उससे सहमत हूँ।'

अर्जुन अकेला भूमि पर खड़ा कौरवसेना को रोके रखता है। यह एकदम असम्भव सी बात है। इसी से तो धृतराष्ट्र पूछ बैठता है:

> अर्जुने धरणीं प्राप्ते हयहस्ते च केशवे।
> एतदन्तरमासाद्य कथं पार्थो न घातितः॥
>
> (द्रोण, ९९; ५४)

अर्जुन धरती पर उतर आया और कृष्ण अश्वों की चिकित्सा में जुट गये; यह तो अजीब मौका है। इस अवसर का लाभ उठाकर मेरे सैनिकों ने अर्जुन का वध किया या नहीं ?

संजयका जवाब इतना ही चुटीला है :

सद्यः पार्थिव पार्थेन निरुद्धाः सर्वपार्थिवा :
रथस्था धरणीस्थेन वाक्यमच्छान्दसं यथा ।
(द्रोण, ९९; ५५)

अछांदस वाक्य जैसे अस्वीकार्य बनता है (अथवा रूढ़िगत अर्थ में वेद विरुद्ध वाक्य जैसे अग्राह्य बनता है) वैसे ही सभी राजाओं को अर्जुन ने रोक लिया ।

ऐसे अपूर्व नरसंहार के बीच प्राणी के प्रति दया की यह घटना अनूठी हैं । बात यहीं रुकती नहीं है । कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—अश्वों को जल पीना है । और अर्जुन पृथ्वी को बाण से बींधकर स्वच्छ जलाशय की रचना करता है । इतना ही नहीं वह बाणों से कृष्ण के चारों ओर एक दीवाल की रचना करता है । कृष्ण मानो स्त्रियों के बीच खड़े हों इस प्रकार अर्जुन द्वारा रचे गये शर-गृह के बीच हंसते हुए खड़े रहकर अश्वों को जल पिला रहे थे; स्नान करा रहे थे ।

संहार के समक्ष जीवदया की यह समतुला व्यास जैसे कवि ही कर सकते हैं, ऐसी है ।

२८. जयद्रथ-वध

जयद्रथ-वध का प्रसंग कुरुक्षेत्र का शिरमौर प्रसंग है । भीष्म के प्रकाण्ड युद्ध के ग्यारह दिनो में ऐसी एक भी घटना नहीं मिलती । भीष्म प्रचण्ड योद्धा हैं, पर उनके सेनापतित्व के अन्तर्गत अधर्म तो नहीं ही चल सकता था । इसी से अभिमन्यु का जिन संयोगों में वध हुआ, ऐसा प्रसंग भी भीष्मपर्व में कहीं नहीं है, तब कृष्ण अर्जुन ने मिलकर जयद्रथ का जिस प्रकार वध किया ऐसी घटना भीष्मपर्व में एक भी नहीं है । भीष्म पर्व की चरम घटना श्रीमद्भगवत्गीता है : द्रोण पर्व की चरम घटना जयद्रथ वध है ।

जयद्रथ को मारने के लिए जिस प्रकार कृष्ण और अर्जुन आगे बढ़े, उसका वर्णन कवि इन शब्दों में करते हैं :—

सर्वक्षत्रस्य मिषतो रथेनैकेन दंशितौ
बालः क्रीडनकेनैव कदर्थीकृत्य नो बलम् ।
(द्रोण, १००; २१)

सभी क्षत्रियों की आँखों के आगे, केवल एक ही रथ पर बैठे, किसी की भी रोक टोक बिना, बालक खिलौनों से खेलता जैसे निकल जाता है, वे आगे निकल गये ।

अर्जुन के पराक्रम के लिए कवि के पास सुन्दर उपमा है : भीष्म पर्व में युद्ध करता अर्जुन अभिमन्युवध से उद्वेलित हो उठा है: ऐसे अर्जुन के समक्ष जो भी योद्धा लड़ने गया वह :—

तेऽद्यापि न निवर्तन्ते सिन्धवः सागरादिव ।

(द्रोण, १०१; ३)

समुद्र में गयी नदियाँ वापस नहीं लौटतीं उसी प्रकार योद्धा भी अर्जुन के साथ लड़ने के बाद वापस नहीं लौटे ।

जयद्रथ-वध में कृष्ण का सहयोग अद्भुत है : सच्चा सारथि, उचित समय पर रथी का मार्ग दर्शन करता है, शौर्य जगाता है, कभी उसके रोष को प्रज्जवलित करता है । दुर्योधन जब अर्जुन के सामने आता है तब पहले तो कृष्ण कहते हैं कि उसके ऐसा कोई दूसरा रथी नहीं है, परन्तु फिर यही दुर्योधन पांडवों के सर्वनाश के मूल में है, यह कहकर अर्जुन के क्रोध को भड़काते हुए कहते हैं ।

अन्न वो द्यूतमायत्तं विजयायेतराय वा

(द्रोण, १०२; ४)

अब जो जुआ खेला जायेगा उसी में विजय या पराजय का निर्णय होगा, ऐसे शब्द कहकर वे द्यूत-सभा, द्रौपदी चीर-हरण आदि सब कुछ अर्जुन को याद दिला देते हैं । अर्जुन और दुर्योधन के बीच प्रचण्ड संग्राम होता है तब द्रोणाचार्य प्रदत्त कवच से आरक्षित दुर्योधन अर्जुन के बाणों से बिंधता नहीं । कृष्ण तब अर्जुन से पूछते हैं :

कच्चिद् गाण्डीवजः प्राणस्तथैव भरतर्षभ,
मुष्टिश्च ते यथापूर्वं भुजयोश्च बलं तव ।

(द्रोण, १०३; ७)

हे भरतश्रेष्ठ, तुम्हारे गाण्डीव के प्राण तो पूर्ववत् ही हैं न ? तथा तुम्हारी मुट्ठी और तुम्हारी भुजाओं का बल भी यथापूर्व, (पहले जैसा ही) है न ?

अर्जुन कृष्ण के इस उपालम्भ के पीछे छिपे आशय को समझता है । वह कृष्ण से कहता है, मेरे शस्त्रों के लिए भी अभेद्य ऐसी

'कवच-धारणा' द्रोणाचार्य के कारण दुर्योधन को मिली है। तथापि मैं इस दुर्योधन को पराजित करूँगा ही। और कृष्ण ने छेड़ा है पुरुषत्व जिसका, ऐसा अर्जुन नख, हथेली जैसे कवच से अनावृत मर्मों को ढूंढ कर दुर्योधन को पीड़ित करता है और दुर्योधन को रणक्षेत्र छोड़ना पड़ता है।

द्रोण भी भीष्म की भाँति अर्जुन के लिए मृदु हैं, अब वे मृदुयुद्ध करते हैं। इसकी प्रतीति वे सात्यकि को जिस प्रकार अपने पाश से छूटने का मार्ग बताते हैं उससे प्राप्त होती है। अर्जुन की सहायता के लिए पहुँचने हेतु तीव्रगति से निकले सात्यकि के मार्ग में द्रोण खड़े हैं। द्रोण का अतिक्रमण करके आगे जाना सात्यकि के लिए बहुत कठिन है। शायद सात्यकि द्रोण के निकट ही रुक गया होता पर द्रोण ही उससे कहते हैं :—

त्वं हि मे युध्यते नाद्य जीवन यास्यसिमाधव।
यदि मां त्वं रणे हित्वा न यास्याचार्यवद् द्रुतम्॥
(द्रोण, ११३; ३१-३२)

तेरा आचार्य अर्जुन तो मैं 'युध्यमान' (लड़ने को तत्पर) था तो भी मेरी प्रदक्षिणा करके आगे बढ़ गया। यदि तूं अपने आचार्य की भाँति तुरत ही समरांगण में मुझे छोडकर आगे नहीं बढ़ गया तो युद्ध में तत्पर मेरे इन हाथों से वापस जिन्दा नहीं लौट सकेगा।

इस प्रकार द्रोण सात्यकि को अर्जुन की सहायता के लिए कम से कम अन्तराल में कैसे जाना इसका रास्ता सुझाते हैं।

कृष्ण और अर्जुन द्रोण का अतिक्रमण करके बढ़ गये। यह तो दुर्योधन समझ पाया पर सात्यकि और भीम भी द्रोण का अतिक्रमण करके आगे निकल जा सके, इस बात का आश्चर्य दुर्योधन को होता ही है। वह द्रोण के पास जाकर कड़े शब्दों में फरियाद करता है। द्रोण दुर्योधन को चार श्लोकों में आर-पार बींध डाले ऐसा जवाब देते हैं। वे कहते हैं : 'शकुनि की बुद्धि में द्यूत खेलने की बात पैदा हुई थी, वह आज वास्तविकता बन गई है। उस दिन उस सभा में कोई भी पक्ष हारा नहीं था, न जीता था। आज यहाँ हम प्राणों की बाजी लगाकर जो द्यूत खेल रहे हैं उसमें ही सच्ची हारजीत होने वाली है।

शकुनि कौरव सभा में जो भयंकर पासे हाथ में लेकर खेल रहा था वे वास्तव में पासे नहीं थे--बाण थे।' और द्रोण आगे कहते हैं :--

सेनां दुरोदरं विद्धि शरानक्षान् विशाम्पते,
ग्लहं च सैन्धवं राजस्तत्र द्यूतस्य निश्चयः।

(द्रोण, १३०; २०)

यह सेना जुआड़ी है, बाण पासे हैं। सिन्धुराज जयद्रथ दाँव है। उस पर हार जीत का फैसला होगा।

द्यूतसभा में पासे खड़खड़ाते समय भी धृतराष्ट्र संजय से क्या हुआ, यह पूछते थे। रण-सभा में भी वे पूछते हैं। अन्तर केवल इतना है कि द्यूत सभा में जो हारे थे वे इस रणक्षेत्र में जीत रहे हैं।

द्यूत सभा का एक और पात्र यहाँ आता है। वह है विकर्ण। जब द्रौपदी के न्यायी प्रश्नों के उत्तर देने की सामर्थ्य भीष्म-द्रोण इत्यादि में नहीं थी तब विकर्ण ने कहा था कि स्वयं को हार चुके युधिष्ठिर को द्रौपदी को दाँव पर लगाने का हक नहीं है। यह विकर्ण जब कर्ण की रक्षा करते करते भीम के हाथों मारा जाता है तब वज्र हृदय भीम भी शोक करता है, संजय धृतराष्ट्र से कहता है।

पुत्राणां तव सर्वेषां निहतानां वृकोदरः
शोचत्यतिभृशं दुःखाद् विकर्णं पाण्डवः प्रियम्।

(द्रोण, १३७; ३१)

भीम द्वारा मारे गये आपके सभी पुत्रों में विकर्ण पाण्डवों को अधिक प्रिय था। उसकी मृत्यु के लिए वृकोदर (भीम) भी शोक करते हुए कहने लगा।—

युद्धधर्मो हि निष्ठुर (द्रोण, १७३; ३३)

युद्धधर्म निष्ठुर होता है। भीम जैसे के मुँह से ऐसे वाक्य निकल सके, वह विकर्ण पाण्डवों को कितना प्रिय होगा? इस विकर्ण की मृत्यु भी द्रोण-पर्व की एक महत्वपूर्ण घटना है। धृतराष्ट्र के पुत्रों में से केवल एक विकर्ण की मृत्यु पर ही भीम शोक व्यक्त करता है।

भीम और कर्ण के युद्ध में एक महत्वपूर्ण क्षण दोनों के लिए आता है। एक मौका ऐसा आया जब भीम कर्ण की हत्या कर सकता था पर उसे अर्जुन की प्रतिज्ञा याद आई कि मैं कर्ण का वध करूँगा, अतः

वह कर्ण को नहीं मारता। फिर एक क्षण ऐसा आता है जब कर्ण के बाणों से भीम मूर्च्छित हो जाता है, तब :—

व्यायुधं नावधीच्चैनं कर्णः कुन्त्या वचः स्मरन्

(द्रोण. १४१; ९२)

आयुधविहीन भीम का कर्ण ने वध नहीं किया, क्योंकि उसने कुंती को वचन दिया था कि अर्जुन को छोड़कर किसी भी पाण्डव का वह स्वयं वध नहीं करेगा। ऐसे क्षण सिद्ध करते हैं कि महाभारत के युद्ध में कोई भी जी लगाकर नहीं लड़ा था।

भूरिश्रवा का वध भी द्रोण पर्व की एक और महत्वपूर्ण घटना है। 'कुरुपुंगव' भूरिश्रवा जैसा प्रचण्ड युद्ध कर रहा था उससे पाण्डव सेना त्राहि त्राहि पुकार उठी थी। इतना ही नहीं, भूरिश्रवा ने सात्यकि को अपने पाश में इस प्रकार लिया कि सात्यकि का मस्तक भूरिश्रवा के खड्ग से कटकर गिरे इसमें एक पल की ही देर थी। सात्वतवीर और अर्जुन के शिष्य सात्यकि की इस हालत की ओर कृष्ण ही अर्जुन का ध्यान आकर्षित करते हैं। तब अर्जुन, सात्यकि को गोल गोल घसीटकर उसका सिर काट लेने को प्रवृत्त, भूरिश्रवा का बाजुबंद विभूषित दाहिना हाथ खड्ग सहित काट डालता है।

यहाँ सबसे पहले भूरिश्रवा अर्जुन से पूछता है। मैं तेरे साथ युद्ध नहीं कर रहा था तब मेरा वध करने का उद्यम तूने किया, इसमें कौन-सा धर्म है? अब तू अपने बड़े भाई धर्मराज को कैसे मुँह दिखा सकेगा?'

अर्जुन का उत्तर :

न शक्यो मामको हन्तुं यो मे स्याद् बाण गोचरे।

(द्रोण. १४३; ४०)

जो भी मेरा आत्मीय जन मेरे बाण की पहुंच में होगा, वह किसी भी शत्रु द्वारा मारा नहीं जा सकेगा।

जब 'मामका' की बात आती है तब शायद ही किसीको धर्म का ख्याल रहता है। अर्जुन का तो यह व्रत है—'मामका' की रक्षा करनी। युद्ध वास्तव में निष्ठुर है ऐसी भीम की उक्ति याद आती है।

इसके बाद 'सूर्य में चक्षुको और प्रसन्न मन को जल में' समाहित करके महोपनिषद का ध्यान करता योगयुक्त मुनि बनकर रणभूमि में

बाहुविहीन, शस्त्रविहीन, आमरण अनशन पर बैठे भूरिश्रवा का मस्तक सात्यकि काट लेता है, तब दोनों में से किसी भी पक्ष के योद्धा सात्यकि का विरुद नहीं बखानते। सभी स्तब्ध हो गये हैं। सात्यिकि के पक्ष में तथा उसके विरुद्ध बहुत कुछ कहा जाता है। तब सात्यकि का उत्तर यह है :--

यदा बालः सुभद्रायः सुतः शस्त्रबिना कृतः
युष्माभिर्निहतो युद्धे तदा धर्मः कव वो गतः।
(द्रोण. १४३; ६१)

जब सुभद्रा के बालक को शस्त्ररहित करके आप सबने साथ मिल-कर मार डाला था तब आपका धर्म कहाँ गया था ?

भूरिश्रवा के वध के औचित्य और अनौचित्य की बाबत अपार दलीलें दी जा सकती हैं। और कविन्याय तो हमेशा रहता ही है। यादव स्थली में जब यादवों में आपस में मारपीट हुई तब सात्यकि पर कृतवर्मा ने भूरिश्रवा के वध का आक्षेप किया था और इसी से सात्यकि और कृतवर्मा लड़ पड़े थे।

जयद्रथ वध रोमांचकारी प्रसंग है। द्रोण, कृप, कर्ण, शल्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन, आदि महारथियों द्वारा संरक्षित जयद्रथ को मारना आसान नहीं था। कृष्ण कहते हैं ।

योगमत्र विधास्यामि सूर्यस्यावरणं प्रति
अस्तंगत इति व्यक्तं द्रक्ष्यत्येकः स सिन्धुराट्।
(द्रोण. १४६; ६४)

सूर्य के आवरण के लिए मैं योग का विधान करूँगा। सबको ऐसा लगेगा कि सूर्य अस्त हो गया, केवल सिन्धुराज अकेले ही सूर्य को स्पष्ट देख सकेंगे।

कृष्ण यहाँ इतना न्याय तो रखते ही हैं। वह अन्य सब लोगों के लिए सूर्य को आवरण के पीछे रखते हैं, पर जयद्रथ को अंधेरे में नहीं रखते।

जयद्रथ-वध का प्रसंग आता है, तब कृष्ण अर्जुन को पुनः चेताते हैं। 'जयद्रथ के पिता ने वरदान दिया है कि जो मेरे पुत्र का मस्तक जमीन पर गिरायेगा उसका मस्तक चूर चूर हो जायेगा। जयद्रथ के पिता वृद्धक्षत्र समन्तपंचकक्षेत्र के बाहर तप कर रहे हैं।'

अर्जुन इस प्रकार शरसंधान करता है कि वाण जयद्रथ का मस्तक उतारकर कुरुक्षेत्र के ऊपर समन्तपंचक क्षेत्र के पास जहाँ वृद्धक्षत्र तपस्या कर रहे हैं, वहाँ जाता है और जयद्रथ के मस्तक को पिता गोद में रखता है। पिता खड़े होते हैं तो मस्तक जमीन पर गिर पड़ता है और तब उनके, वृद्धक्षत्र के, मस्तक के खंड-खंड हो जाते हैं।

जयद्रथ-वध की महिमा कृष्ण की मैत्री की महिमा है। कृष्ण ने दारुक से पिछली रात ही कहा था कि आगामी कल दुनियाँ कृष्ण और अर्जुन का सख्य देखेगी। यदि अर्जुन जयद्रथ को नही मार सकेगा तो मैं अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर भी अर्जुन की प्रतिज्ञा की रक्षा करूँगा। और वास्तव में कृष्ण केवल शस्त्र हाथ में नहीं लेते इतना ही, बाकी कृष्ण की सहायता बिना, कृष्ण के योग बिना जयद्रथ का वध संभव नहीं था। जैसे ही जयद्रथ का मस्तक अर्जुन के बाण ने उतार लिया कि तत्काल कृष्ण ने अपना माया जाल समेट लिया।

पश्चात् ज्ञातं महीपाल तव पुत्रोः सहानुगैः
वासुदेव प्रयुक्तेयं मायेति नृपसत्तम।
(द्रोण, १४६; १३३)

तब आपके पुत्रों को ज्ञात हुआ कि यह तो वासुदेव द्वारा ही प्रयुक्त माया थी।

पहले बार बार जो बात आयी है वही यहाँ जयद्रथ-वध या भूरिश्रवा के वध में विद्यमान धर्म के औचित्य का सवाल पूछने वालों से कही जा सकती है।

यतो कृष्णस्ततो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः।
जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ धर्म है, जहाँ धर्म है, वहाँ जय है।

२९. नरो वा कुञ्जरो वा

युद्ध एक निष्ठुर घटना है। इसमें कितना कुछ ऐसा करना पड़ता है, जिसे करने के लिए जी नहीं करता। कृपाचार्य (द्रोणाचार्य के साले और अश्वत्थामा के मामा) के सम्मुख प्रहार करना पड़ता है तब एक बार अर्जुन फिर यह विचार करता है कि आचार्य ने तो अर्जुन को गुरुजनों पर प्रहार न करने की सीख दी थी। पर युद्धभूमि में दोनों

आमने-सामने के पक्ष में हैं अतः अर्जुन के लिए प्रहार करने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। अर्जुन तब कहता है :

नमस्तस्मै सुपूज्याय गौतमायापलायिने
धिगस्तु मम वार्ष्णेय यदस्मै प्रहराम्यहम् ।
(द्रोण, १४७; २६)

रणभूमि से जो कभी भी पलायन नहीं करते, गौतम वंश के उन पूज्य आचार्य को प्रणाम। और हे कृष्ण, उन पर प्रहार करनेवाले मुझको धिक्कार।

अब कर्ण और अर्जुन के बीच के युद्ध के प्रसंग अधिक आते हैं, परन्तु कृष्ण अर्जुन को पूरी ताकत से कर्ण के समक्ष लड़ने से बराबर रोकते हैं। कर्ण के पास इन्द्र की दी हुई शक्ति है। इस शक्ति से अर्जुन का वध शक्य है। अतः कर्ण उसका उपयोग न कर ले तब तक कृष्ण अर्जुन को कर्ण के सामने पूरी ताकत से भिड़ने के लिए जाने से रोके रहते हैं।

युद्ध में स्वयं को मिलती सफलता का सच्चा श्रेय कृष्ण को मिलता है इस बात से अर्जुन अनभिज्ञ नहीं है, अर्जुन को, जयद्रथवध- की प्रतिज्ञा पूरी की, इसका अभिमान नहीं है। कृष्ण जब इस हेतु अर्जुन का अभिनन्दन करते हैं तब अर्जुन कहता है।

अनाश्चर्यो जयस्तेषां येषां नाथोऽसि केशव ।
(द्रोण, १४८; ३३)

जिनके नाथ केशव हैं, उसी की जय हो इसमें नई बात क्या है; अर्जुन की और पांडवों की यह नम्रता और दुर्योधन का अहंकार और आशंका इन दोनों चीजों को आमने-सामने रखकर देखने योग्य है। अश्वत्थामा ने दुर्योधन से जो बात कही थी वह याद आती है :

सर्वाभिशंकी मानी च ततोऽस्मानभिशंकसे ।
(द्रोण, १७०; ९)

तूं सब पर शंका करनेवाला है और अभिमानी है, इसी से ही तूं हम पर (अर्थात् द्रोण, कृप और अश्वत्थामा पर) शंका करता है।

दुर्योधन कर्ण के बल पर युद्ध लड़ रहा है और जब कर्ण जैसा कर्ण हारता है, तब दुर्योधन के मुख से निकल ही जाता है :

यस्य वीर्यमुसमाश्रित्य शमं याचन्तमच्युतम्,
तृणवत् तमहं मन्ये स कर्णो निर्जितो युधि ।

(द्रोण, १५०; ९)

जिसके वीर्य-पराक्रम का आश्रय लेकर मैंने समाधान के झंखनेवाले अच्युत (कृष्ण) को तृणवत् समझा था, वह कर्ण भी रणभूमि में पराजित हुआ है ।

दुर्योधन की हताशा को कवि धीरे-धीरे गहरी बनाता है । द्रोण पूरी ताकत से लड़ते हैं । कृपाचार्य भी दुर्योधन के पक्ष में लड़ते हैं, अश्वत्थामा भी । परन्तु इन सबके हृदय में पाण्डवों के प्रति प्रीति है । इतना ही नहीं, कृप तो दुर्योधन के युद्ध में धर्म नहीं है यह भी जानता है । जिस कर्ण के पराक्रम पर दुर्योधन का दारोमदार है उस कर्ण के लिए कृपाचार्य कहते हैं :

शोभनं-शोभनं कर्ण सनाथः कुरुपुंगवः,
त्वया नाथेन राधेय वचसा यदि सिध्यति ।

(द्रोण, १५८; १३)

जो वाणी हो वही कार्यसिद्धि हो तब तो बहुत अच्छी बात है— तुझे पाकर दुर्योधन सनाथ बन गया ।

पर वाणी कार्य-सिद्धि नहीं है । जब काम करने का समय आता है, तो वचन नहीं पराक्रम ही काम आता है । गौतम वंश के कृप यह बात जानते हैं और वे कर्ण की दुर्बलता भी जानते हैं, इसी से उपरोक्त बात जमाकर कहते हैं, क्षत्रिय बाहुबल से शूर, द्विज वाणी–शूर, अर्जुन धनुष विद्या में शूर है पर—

कर्णः शूरो मनोरथैः

(द्रोण, १५८; २३)

कर्ण केवल मनोरथ गढ़ने में ही शूर है । इतना ही नहीं, कर्ण की शेखीका उत्तर कृपाचार्य देते हैं :

ध्रुव स्तत्र जयः कर्ण यत्र युद्धविशारदौ ।

(द्रोण, १५८; ३४)

कर्ण, जय तो वहीं होती है जहाँ युद्ध विशारद होते हैं । कृष्ण और अर्जुन ये सामान्य योद्धा नहीं हैं । ये दोनों युद्ध विशारद हैं और इन्हें जीतना आसान नहीं है ।

कर्ण कृपाचार्य के प्रत्युत्तर में फिर एक बार अपनी अहंकार भरी वाणी बोलता है। पर कर्ण नामक पात्र में महाकवि व्यास एक संतुलन हमेशा रखते आये हैं। कर्ण, 'मैं अर्जुन को मारूँगा', 'दुर्योधन को राज्य दिलाऊँगा' ये सब बातें कहने के बाद पुनः धरती पर लौट आता है और कहता है :

(द्रोण, १५८; ७०)

जयो दैवे प्रतिष्ठितः

जय तो देव में (भाग्य में) प्रतिष्ठित है।

कर्ण कृपाचार्य को जो जी में आता है कहता है, तब एक मौके पर अश्वत्थामा रोष से भरकर अपने मामा के लिए अनुचित बातें कहते कर्ण को मारने हेतु खड्ग लेकर दौड़ता है। पर कृपाचार्य और दुर्योधन दोनों उसे रोकते हैं और कर्ण को क्षमा करने को कहते हैं।

अश्वत्थामा स्पष्टवक्ता है। वह कहता है : मेरे पिता को और मुझे पाण्डव प्रिय हैं : और पाण्डवों को हम प्रिय हैं। पर यह तो हमारी व्यक्तिगत बात है। 'न तु युद्धे' (युद्ध में ऐसा नहीं होता) युद्ध में तो हम आमने-सामने लड़ रहे हैं।

इस प्रकार उत्तेजित होने के बाद कर्ण भयंकर युद्ध करता है। इस समय कर्ण पाण्डव सेना मे रुद्र की भाँति घूमता है। कर्ण उस समय कितना भयावह दुर्धर्ष लगता था उसका आलेखन कवि इस प्रकार करते हैं—

ते वध्यमानाः समरे पंचालाः सृंजयैः सह,
तृण प्रस्पन्दनाच्चापि सूत पुत्रं स्म मेनिरे।

(द्रोण, १७३; १९)

समरांगण में मार खानेवाले पांचालवीर और सृंजयगणकहीं तृण प्रस्तदन होता (तिनका भी हिलता) तो भी कर्ण आया, ऐसा भय अनुभव करते थे।

कर्ण का ऐसा प्रचण्ड रूप प्रगट हुआ है तब अर्जुन उसके समक्ष लड़ने जाने और 'या तो कर्ण का वध करने अथवा उसके हाथों मारे जाने हेतु' तैयार होता है। परन्तु कृष्ण की अर्जुन के लिए संरक्षण-वृत्ति यहाँ एक बार फिर प्रगट होती है। कर्ण के पास इन्द्र प्रदत्त शक्ति है, उसका उपयोग करके वह अर्जुन का वध कर सकता है, यह कृष्ण भूलते नहीं अतः जब तक कर्ण ने वह शक्ति सुरक्षित रखी है,

तब तक कृष्ण अर्जुन को पूरे मन से कर्ण के विरुद्ध लड़ने देने को तैयार नहीं है। कृष्ण भीमसेन और हिडिम्बा के पुत्र घटोत्कच को कर्ण से लड़ने भेजते हैं : कहते हैं कि कर्ण के बाणों से पाण्डव सेना के पैर उखड़ गये हैं वे कौरवरूपी समुद्र में डूब रहे हैं, तूं जाकर उनके लिए किनारा बन जा।

कर्ण और घटोत्कच के युद्ध में कवि ने कर्ण का विरुद गाने में कोई कमी नहीं रक्खी है। कर्ण को 'रुद्रोपेन्द्रेंद्रविक्रमः' (रुद्र, विष्णु और इन्द्र जैसा पराक्रमी) कहा गया है। कर्ण घटोत्कच युद्ध के बीच अलायुध राक्षस के साथ भीम का युद्ध और घटोत्कच द्वारा राक्षस का वध निरूपित हुआ है। यह अलायुध भीम के लिए काल बनेगा ऐसा दुर्योधन मानता था, पर अलायुध को मृत देखकर अब तो भीम अपनी प्रतिज्ञा (सभी कौरवों का वध करने की) पूरी करके ही रहेगा ऐसी दहशत दुर्योधन के हृदय में प्रविष्ट हो जाती है।

घटोत्कच महा पराक्रम करता है। कर्ण भी इस मायावी राक्षस के विरुद्ध युद्ध में मुकाबला नहीं कर पाता। सभी कौरव मिलकर (कुरवः सर्वे) (अर्थात् कि दुर्योधन सहित ऐसा अर्थ करें क्या ?) कर्ण को इन्द्र ने जो शक्ति दी है उसका उपयोग करके इस राक्षस का वध करने का आग्रह करते हैं। भीम अर्जुन से समझ लिया जायेगा। पर मध्य-रात्रि में कौरवों को सता रहे इस राक्षस से मुक्ति तो मिलनी ही चाहिये, ऐसी विनती की जाती है और कर्ण इन्द्र की दी हुई शक्ति का उपयोग करके घटोत्कच का वध करता है।

पुनः एक बार कौरव सैन्य आनन्दमग्न हो जाता है और पाण्डव सेना में स्यापा पड़ जाता है : कारण यह कि भीम का महाबलवान पुत्र मारा गया है : परन्तु जब समूची पाण्डवसेना शोकग्रस्त है, तब यहाँ कृष्ण क्या करते हैं, यह देखने लायक है। वे हर्ष मग्न होकर सिंहनाद करने लगते हैं :

ननर्त हर्षसंवीतो वातोद्धूत इव द्रुमः

(द्रोण १८०; ३)

वायु में वृक्ष झूमते हैं ऐसे कृष्ण हर्ष से झूमकर नृत्य करने लगे। यह देखकर अर्जुन को आश्चर्य और दुःख दोनों हुए। घटोत्कच की मृत्यु पांडवों पर भारी आघात है, तब यह हर्ष का सिंहनाद क्यों ?

कृष्ण कहते हैं : कवच कुंडल सहित कर्ण तो युद्ध में तेरे और मेरे दोनों के लिए अवध्य था :

गांडीवमुद्यम्य भवांश्चक्रं चाहं सुदर्शनं,
न शक्तौ स्वो रणे जेतुं तथायुक्तं नरर्षभम् ।

(द्रोण, १८०; १७)

तूँ गाण्डीव लेकर और मैं सुदर्शन लेकर चलें तो भी नरश्रेष्ठ वह कर्ण, तथायुक्त (अर्थात् कवचकुंडल सहित) हो तो नहीं मर सकता। ऐसे कर्ण के कवचकुंडल इन्द्र ने ले लिये तब उसने अमोघ शक्ति प्रदान की जिसके द्वारा वह तेरा वध करने में समर्थ था। वह शक्ति उसने घटोत्कच पर खर्च कर डाली।

कर्ण की बाबत कृष्ण का अभिप्राय हमेशा एक जैसा रुचिर रहा है, वे कहते हैं :

ब्रह्मण्यः सत्यवादी च तपस्वी नियत व्रतः
रिपुष्वपि दयावांश्च तस्मात् कर्णो वृषा स्मृतः ।

(द्रोण, १८०; २४)

कर्ण ब्रह्मण्य-ब्राह्मणों के लिए आदर रखनेवाला है, सत्यवादी है, तपस्वी है और नियमव्रत-व्रत का पालन करनेवाला है। वह दुश्मनों पर भी दया करनेवाला है। इसी से उसे 'वृष' अर्थात् धर्मात्मा कहा गया है।

एक तो ऐसा तेजस्वी कर्ण और फिर उसके पास विद्यमान इन्द्र की अमोघ शक्ति, इस शक्ति से युक्त कर्ण से अर्जुन को बचाने के लिए कृष्ण द्वारा किये गये उपायों से हम अवगत हैं। इसी से घटोत्कच को मारने हेतु कर्ण ने इस शक्ति का उपयोग किया। इस हकीकत मात्र से कृष्ण आनंदित हो उठे हैं। कृष्ण की पार्थ के प्रति प्रीति का यहाँ परिचय प्राप्त होता है।

पुत्र प्रेमी धृतराष्ट्र के लिए कर्ण की शक्ति कृष्ण या अर्जुन पर इस्तेमाल नहीं हुई पर 'तृणवत्' घटोत्कच के लिए प्रयुक्त हुई, यह असहनीय हो उठता है। वह संजय से पूछता ही रहता है : ऐसा क्यों हुआ ?

संजय के पास उत्तर तैयार है। संजय जानता है कि कृष्ण ने ही अर्जुन को कर्ण के समक्ष जाने से बारंबार रोका है। वह कहता है :

साश्वध्वज रथः संख्ये धृतराष्ट्र पतेद् भुवि,
विना जनार्दनं पार्थो योगिनामीश्वरं प्रभुम् ।

(द्रोण, १८२; १४)

महाराज धृतराष्ट्र, यदि योगेश्वर प्रभु श्रीकृष्ण न होते तो अर्जुन अश्व, ध्वजा और रथसहित निश्चय ही युद्ध में भूमि पर पड़ा होता ।

कृष्ण ने ही अर्जुन को बचाया है ।

सात्यकि यही प्रश्न कृष्ण से पूछता है तब वे कहते हैं कि मैंने ही कर्ण को मोहित कर रक्खा था । जब तक अर्जुन के लिए मृत्युस्वरूप वह शक्ति कर्ण के पास थी तब तक मुझे (न निद्रा न च मे हर्षो) निद्रा या हर्ष कुछ भी नहीं होता था । फिर कहते हैं :

न पिता न च मे माता न यूयं भ्रातरस्तथा ।
न च प्राणस्तथा रक्ष्या यथा बीभत्सुराहवे ।।

(द्रोण, १८२; ४३)

पिता, माता, तुम्हारे (सात्यकि) जैसे भाइयों की या मेरे अपने प्राणों की रक्षा करने की अपेक्षा अर्जुन की रक्षा करना मुझे प्रिय है ।

कृष्ण अर्जुन के बीच के सम्बन्धों के अनेक मनोहारी शिखर हैं, उन्हीं में एक यहाँ दिखाई पड़ता है । कर्ण के हाथों अर्जुन की मृत्यु निश्चित थी, पर कृष्ण ने युक्ति द्वारा उसका निवारण किया ।

यह सब, घटोत्कच का वध आदि, रात्रि-युद्ध में घटित होता है । रात्रियुद्ध का वर्णन पैदलों के हाथ में पकड़ी मशालों के सुवर्ण के कवच-अलंकारों, रथ इत्यादि में पड़ते प्रतिबिम्बों आदि द्वारा किया गया है । रात्रियुद्ध में थके सैनिकों के लिए अर्जुन विराम की सूचना देता है तब कामिनियों के कुच के साथ आलग्न हो इस प्रकार (कुचेषु लग्ना इव कामिनीनाम) सैनिक हाथियों के कुंभस्थल (हाथी के मस्तक पर उभरे दो मणि) से लिपट कर सो गये । इसके बाद चन्द्र उदित हुआ, उसका वर्णन :

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना
नेत्रानंदेन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ।

(द्रोण, १८४; ४६)

इसके बाद कामिनी के गाल जैसे, श्वेतपीत वर्णवाले, नेत्रों को

आनन्द देनेवाले कुमुदनाथ पूर्व दिशा में उदित हुए और युद्ध शुरू हुआ।

दुर्योधन एक बार फिर द्रोण के पास जाता है। द्रोण एक बार फिर उससे कहते हैं : मैं अपने दम श्रेष्ठ युद्ध तो कर ही रहा हूँ। फिर भी तुझे ऐसा क्यों लगता है ? अब मैं धर्मपूर्वक युद्ध छोड़कर तेरे लिए अधर्म का युद्ध शुरू करूँगा। जो दिव्य अस्त्रों से परिचित नहीं हैं उनके विरुद्ध इन अस्त्रों का प्रयोग नहीं करना चाहिये ऐसे धर्मनियम को मैं भंग करूँगा।

द्रोण के प्रचण्ड युद्ध से पाण्डव सेना त्रस्त हो जाती है। इस प्रकार यदि द्रोण आधा दिन और लड़ें तो पांडव सैन्य विनष्ट हो जायेगी ऐसा कृष्ण कहते हैं। इस अवसर पर कृष्ण युधिष्ठिर को सलाह देते हैं कि अश्वत्थामा की मृत्यु हो जाने की बात द्रोण के समक्ष करने में असत्य नहीं है।

न भवांस्त्रातु नो द्रोणात् सत्याज्जयायोऽनृतं वचः।
अनृतं जीवितस्यार्थे वदन्न स्पृश्यतेऽनृतैः।

(द्रोण, १९०; ४७)

हे युधिष्ठिर आप हमें द्रोण से बचावें। इस समय अनृत—असत्य उस सत्य से ऊपर है। प्राण रक्षा के लिए असत्यवादन करना पड़े तो असत्य का पाप नहीं लगता। कृष्ण की यह बात सच थी ?

युधिष्ठिर ने 'अश्वत्थामा हतः' ये शब्द जोर से कहे पर 'हतः कुंजरः' (हाथी मारा गया) ये शब्द धीरे स्वर में कहे। यदि कृष्ण सच कह रहे थे तो इसके तत्काल बाद जो घटना हुई वह क्यों हुई ?

तस्य पूर्वं रथः पृथव्याश्चतुरंगुलमुच्छ्रितः।
बभूवैवं च तेनोक्ते तस्य वाहाः स्पृशन्महीम्।

(द्रोण, १९०; ५६)

इससे पूर्व युधिष्ठिर का रथ पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर रहता था। परंतु उस दिन इस प्रकार बोलने के कारण ही उसके रथ के अश्व मही-धरती का स्पर्श करने लगे।

सत्य का एक शब्द, उसकी शक्ति कितनी है और व्यक्ति को वह धरती से ऊपर कैसे रख सकती है, इस बात का यहाँ ख्याल आता है और सत्य के लोप के साथ रथ धरती पर आ जाता है। इसी से

असत्य भले ही प्राण रक्षा के लिए क्यों न हो, रहता तो असत्य ही है। पर युद्ध में कभी-कभी विजय प्राप्त करने हेतु नितांत सत्य खपता नहीं प्रतीत होता। इसी से कृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं कि प्राण-रक्षा के लिए असत्य बोलने में पाप नहीं है। कृष्ण जिन्हें वे अपना मानते हैं उनकी रक्षा करने के लिए कुछ भी कर डाल सकते हैं।

इसके बाद धृष्टद्युम्न जिस प्रकार द्रोण का मस्तक काट लेता है वह सात्यकि द्वारा भूरिश्रवा के वध के बाद दूसरा अधर्म है। और यही सात्यकि द्रोण का वध करने के लिए धृष्टद्युम्न की आलोचना करता है। मानव की विचित्रता का पार नहीं है। यथार्थ अथवा अयथार्थ के अपने और दूसरों के पैमाने अत्यन्त भिन्न होते हैं।

भीष्म, द्रोण, भूरिश्रवा और आगे देखेंगे उस प्रकार युद्ध में जो प्रवृत्त नहीं थे, ऐसे महारथियों का वध क्या उचित था? क्या यह धर्म है? यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता। धर्म का एक विराट् अर्थ कृष्ण नजर के सामने रखते हैं। इस अर्थ के विरुद्ध संघर्ष करे ऐसा कोई भी धर्म तब स्वीकार्य नहीं रहता। युध्यमान भीष्म या द्रोण को जीतने का पाण्डवों में दम नहीं था और इस धर्मयुद्ध में पाण्डव हारें तो अधर्म की विजय होगी। व्यापक पैमाने पर अधर्म न जीते इसके लिए कृष्ण इन सब बातों को सम्मति प्रदान करते हैं।

३०. सेनापति कर्ण

कर्ण पर्व का आरम्भ भी पहले के दो पर्वों की भाँति संजय द्वारा धृतराष्ट्र को कर्णवध की सूचना देने से होता है। धृतराष्ट्र कोई भी आघात सह सकने में सक्षम है: पुत्रों की मृत्यु के बाद, पुत्रों के हत्यारों के राज में भी वे जी सके। इसी कारण कर्ण के वध की खबर सुनकर उन्हें विश्वास नहीं हुआ। वे इसी अविश्वास के साथ पूछते हैं: 'क्या हुआ? कर्ण को कैसे मारा?'

संजय का उत्तर कर्ण-पर्व के दसवें अध्याय से आरम्भ होता है और इसमें कर्ण के सेनापति पद की अवधि के कितने ही उत्तम क्षण आते हैं। युद्ध में सबसे पहले तर्क का आधार उड़ जाता है। जो कर्ण भीष्म जैसे भीष्म गिर गये तो 'कल सबेरा तो होगा ही,' यह कौन

कह सकता है ऐसा कहता था, वह सेनापति पद पर अभिषिक्त होने के बाद कृष्ण सहित पाण्डवों का संहार करने की डींग हाँकता है। युद्ध में विजय प्राप्त हो या न हो, पर सेना को विजय के नशे में रखने हेतु वीर-रस के ऐसे कृत्रिम शब्द आवश्यक होते ही हैं।

अर्जुन जब भी मृदुयुद्ध करता है तब कृष्ण उसे प्रेरित किये बिना नहीं रहते। पिता के वध के कारण क्रोधभरे अश्वत्थामा के समक्ष जब अर्जुन को शिथिल होते देखते हैं तो कृष्ण कहते हैं :

> गुरुपुत्र इति ह्येनं मानयन् भरतर्षभ,
> उपेक्षां मा कृथाः पार्थ नायं कालोह्युपेक्षितम्।
>
> (कर्ण, १६; ३६)

गुरु पुत्र है ऐसा मानकर अश्वत्थामा के पराक्रम की उपेक्षा न कर, पार्थ, यह समय उपेक्षा का नहीं है, यह समय तो युद्ध करने का है। पूरे बल से, पूरे वेग से युद्ध करना यही एक मात्र मार्ग है।

और तब अर्जुन पूरी ताकत से युद्ध करता है। अश्वत्थामा को मैदान छोड़ना पड़ता है।

कर्ण को अनेक बातों की शंका है। वह मानता है कि स्वयं पराक्रम में अर्जुन के समान है, सिर्फ यह कि उसके पास कृष्ण जैसा सारथी नहीं है। कर्ण को वह सूतपुत्र है इस वंश-लांछन का तीव्र रोष है। शल्य को अपना सारथी बनाने की माँग के पीछें शायद यही रोष और ग्रंथि काम करती है। कर्ण की बात दुर्योधन सुनता है और वह शल्य को कृष्णतुल्य कहकर कर्ण का सारथी-पद ग्रहण करने को कहता है।

अन्तर इतना है कि कृष्ण हमेशा अर्जुन का कल्याण करने को तत्पर रहते हैं जबकि शल्य को उसने युधिष्ठिर को जो वचन दिया है उसे सार्थक करने का यह अवसर है ऐसा प्रतीत होता है। अतः वह कर्ण का दर्प-चूर्ण करने का एक भी अवसर नहीं चूकता। कर्ण पूरी ताकत से नहीं लड़ सकता कारण यह कि उसका मन युद्ध में नहीं, शल्य के वाक्य-वाणों से बिंधा है। इस युद्ध में वह अर्जुन के बाणों से नहीं बिंधता उससे अधिक तो शल्य के वाक्य-वाणों से बिंध जाता है और उसके उत्तर में शल्य को वह वैसे ही वाक्य-वाण मारता है।

कर्ण का मन यदि इस दूसरे मानसिक स्तर पर से किये गये हमले

में केन्द्रित न हुआ होता तो शायद वह ज्यादा पराक्रम से लड़ सका होता।

पाण्डवों के बीच मतभेद नहीं था ऐसा तो कोई कभी नहीं कह सकेगा। अर्जुन द्वारा द्रौपदी-विजय के तत्काल बाद ही अर्जुन का वन-वास, यह घटना जब घटी थी तब अर्जुन और युधिष्ठिर आमने-सामने आ गये थे और उस समय अर्जुन ने युधिष्ठिर को कुछेक धर्मवचनों का बोध कराया था। युद्ध में युधिष्ठिर कुशल हैं या नहीं इसकी चिंता में कर्ण का सामना करके युद्ध करने का भार भीम को सौंपकर अर्जुन तथा कृष्ण युधिष्ठिर के पास आते हैं तब कर्ण का वध किये बिना अपना मुँह दिखाने की हिम्मत करने वाले अर्जुन पर युधिष्ठिर बरस पड़ते हैं।

युधिष्ठिर के मुख में कर्णपर्व के ६८ वें अध्याय के तीस श्लोकों में जो धिक्कार रक्खा गया है, वह दंग कर देने वाला है। युधिष्ठिर जैसे पात्र के साथ इन शब्दों का तारतम्य नहीं बैठता। वह अर्जुन को धिक्कार भरी वाणी सुनाते हुए पराकाष्ठा पर पहुँचकर कहता है :

धनुश्च तत्केशवाय प्रयच्छ यन्ता भविष्यस्तवं रणे केशवस्य,

तदाह निष्यत् केशवः कर्णमुग्रं मरुत्पतिर्वृत्रमिवात्तवज्रः।

(कर्ण ६८; २६–२७)

अपना धनुष कृष्ण को देकर तू कृष्ण का सारथि हो जा। जैसे इन्द्र ने वज्र से वृत्रासुर का वध किया था वैसे ही कृष्ण उस परम उग्र कर्ण का वध करेंगे।

युधिष्ठिर के ये शब्द अर्जुन का रोष प्रज्ज्वलित करने के लिए काफी थे। उसने प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई भी उसके गांडीव धनुष को दूसरे को देने को कहेगा तो वह उसका सिर काट लेगा। अर्जुन खड्ग लेकर युधिष्ठिर का सिर काट लेने को उद्यत होता है।

पर कृष्ण उससे पूछते हैं :

उवाच किमिदं पार्थ गृहीतः खड्गइत्युत।

(कर्ण, ६९; २)

पार्थ, यह क्या ? तूने खड्ग किसलिए उठाया है ?

कृष्ण के ये शब्द अर्जुन को यथार्थ की धरती पर उतार देते हैं। एक बार फिर वह कृष्ण की शरण में जाता है और कहता है : आप ही कहिये मैं क्या करूँ ?

युधिष्ठिर का धिक्कार तो अर्जुन को मिला ही था, कृष्ण उससे कहते हैं—'धिग्धिगित्येव' (धिक्कार है, धिक्कार)

सत्य और असत्य की बाबत कृष्ण के मापदण्ड भिन्न हैं। कभी-कभी समझ में न आवें ऐसे हैं। इनकी मीमांसा करने के बजाय कृष्ण द्वारा वे जिस प्रकार व्यक्त हुए हैं, उसी ढंग से उन्हें देख लें :

भवेत् सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्,
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत्।

(कर्ण. ६९; ३२)

जहाँ असत्य बोलने का परिणाम सत्य बोलने जैसा ही मंगलकारी हो अथवा जहाँ सच बोलना असत्य भाषण जैसा अनिष्टकारक हो वहाँ सत्य नहीं बोलना चाहिये, वहाँ असत्य बोलना ही उचित होगा।

कृष्ण अर्जुन को युधिष्ठिर का स्थूल के बदले सूक्ष्म-वध करने का उपाय बताते हैं अर्जुन जिन कटुवचनों से युधिष्ठिर को दुतकारता है उसमें भरा जहर एकाएक नहीं उमड़ा है वह वर्षों से संचित है। युधिष्ठिर और अर्जुन की परस्पर अपमान सूचक उक्तियाँ इन पाण्डवों में कलह तो था ही इसी का संकेत देती हैं।

कृष्ण विषविमोचन का अवसर दोनों को देते हैं। युधिष्ठिर को यह सत्य समझ में आता है।

भवन्तं नाथमासाद्य ह्यावां व्यसनसागरात्

(कर्ण. ७०: ५९)

आपको स्वामी के रूप में पाकर हम दोनों व्यसन के सागर से पार उतर गये।

युधिष्ठिर और अर्जुन के बीच की यह घटना भले ही एक अध्याय के अन्दर झलक जाती है पर उसमें मानव स्वभाव के कितने ही चिरंतन लक्षण प्रगट होते हैं। आदमी कैसा भी धर्मात्मा क्यों न हो, कितना ही वीर क्यों न हो पर वह हमेशा पूर्णतः निखालिस और निर्मल नहीं होता। युधिष्ठिर अर्जुन को जो वचन सुनाते हैं उसमें युधिष्ठिर युद्ध में थके हैं, हारे हैं, हतवीर्य है, ये सब कारण तो हैं ही, पर इनके साथ ही अर्जुन की बाबत उनके मन में संगृहीत विष भी इकट्ठा होकर निकल पड़ा है, यह बात देखनी ही चाहिये। व्यास महान कवि है। इसी से वे कैसे भी महान मानवी की मर्यादा प्रकट करने में संकोच

नहीं करते। युधिष्ठिर माने धर्मराज ऐसा मानने वाले किसी भी व्यक्ति को यह अध्याय पढ़ने को दें, तो शायद उसे आघात लगेगा।

अर्जुन के मन में बड़े भाई के लिए आदर है। पर इस आदर का थोड़ा भंग तो उसने युधिष्ठिर द्रोपदी के साथ थे तब उनके भवन से शस्त्र लेने जाते समय जब युधिष्ठिर ने कहा कि उसने नियम भंग नहीं किया है, तब अर्जुन ने प्रत्युत्तर में जो कहा, उसमें किया था। स्मरणीय है कि धर्मराज ने 'प्रमाणास्मि यदि' (यदि मुझे प्रमाण मानता हो तो) ऐसे शब्दों में जो सलाह दी थी उसे अर्जुन ने 'मैं सत्य में छल नहीं करूँगा' ऐसा कहकर अस्वीकार किया तब धर्मराज की सत्यप्रियता पर आघात ही किया था। यहाँ इन अध्यायों में युधिष्ठिर और अर्जुन के मन में पड़ी गाठें एक साथ प्रगट हो जाती हैं और दोनों का विष-विमोचन इस प्रकार होता है।

पुनः एक बार कर्ण का घोर पराक्रम और उसका अर्जुन द्वारा प्रतिकार पारी-पारी से कौरव-पांडव सेनाओं का संहार और पलायन आदि आते हैं।

शल्य और कर्ण के बीच प्रारंभ में जो संवाद हुए थे वे याद आते हैं। शल्य ने कर्ण को जो कटु वचन कहे और कर्ण ने शल्य को जो कटु वचन कहे वह हमें याद आते हैं और जब कर्ण बराबर के चाप में आता है तब यही शल्य उसे प्रोत्साहित करता है। वह कहता है :

न तं पश्यामि लोकेऽस्मिस्त्वत्तो ह्यन्यं धनुर्धरम्,
अर्जुनं समरे क्रुद्धं यो वेलामिव धारयेत्।
(कर्ण. ७९; ३९)

समुद्र में आते ज्वार जैसा समरांगण में क्रुद्ध अर्जुन को रोक सके ऐसा धनुर्धर एकमात्र तूँ ही है, तेरे सिवा कोई धनुर्धर मुझे दिखाई नहीं पड़ता।

जो शल्य कर्ण के दर्प-दलन के लिए प्रयत्न करता था, वह बराबरी का द्वन्द्व आता है तब अपने सारथिधर्म से च्युत नहीं होता, वह कहता है : तू ही इन दोनों कृष्णों को रणभूमि में पराजित कर सकने में समर्थ है।

कर्ण जब उसे उत्तर देता है तो पहले का अहंकार लाँघ चुका है। कर्ण को महाकवि व्यास ने विभक्त व्यक्तित्व वाले पात्र के रूप में

निरूपित किया है : उसमें एक ओर मानव में संभावित वे तमाम अंश सम्मिलित हुए हैं तो दूसरी ओर वह कभी-कभी क्रूर और अहंकारी भी दिखाई पड़ता है। शल्य जब उसकी प्रशंसा करता है तब कर्ण का उत्तर, कर्ण के पास अपना मापदण्ड है इसकी प्रतीति देता है। वह कहता है—

स्वप्स्ये वा निहतस्ताभ्याम सत्यो हि रणे जयः,
कृतार्थोऽद्य भविष्यामि हत्वा वाप्यथवा हतः।

(कर्ण, ७९; ५२)

बड़े ही रुचिर ढंग से कर्ण सारी बात कहता है। एक-एक शब्द तौलकर देखने का मन करे ऐसी यह उक्ति है। इनके हाथों मारा जाकर मैं सदा के लिए सो जाऊँगा, क्योंकि रण में जय हमेशा अनित्य है। एकबार युद्ध में झोंके गये तो जितनी संभावनाएँ जीतने की हैं उतनी ही हारने की भी हैं। शत्रु का वध कर सकते हैं तो शत्रु के हाथों बधे भी जा सकते हैं। इसीसे कृष्ण अर्जुन को मारकर अथवा उनके हाथों मारे जाकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। कर्ण में यह अपनी शक्ति का माप है और कृष्ण अर्जुन की शक्ति के लिए जो आदर है वह विरल है। ऐसे श्लोक पढ़ते हैं तब सोचना पड़ता है कि "मैं अकेला कृष्ण सहित पाण्डवों को मार डालूँगा" ऐसा कहने वाला कर्ण सच्चा है या "मारकर या मारा जाकर कृतार्थ हो जाऊँगा" ऐसी विनम्र उक्ति कहनेवाला कर्ण सच्चा है ? कर्ण ठीक-ठीक जानता है :

अतीव पार्थो युधि कार्मुकिभ्यो नारायणश्चाप्रति चक्र युद्धे।

(कर्ण, ७९; ६७)

पार्थ धनुर्धरों में श्रेष्ठ है और नारायण (कृष्ण) चक्रयुद्ध में। इन दोनों कृष्णों को एक साथ रथ पर देखकर अपने मन में भय उदित होता है, यह बात एक तरह से कर्ण कबूल करता है तो उनके समक्ष युद्ध करने में अब उसके अपने सिवा कोई योग्य नहीं है, यह भी जानता है।

३१. कर्ण वध

कर्ण का यह युद्ध 'मित्रार्थे मित्रगृद्धिना' मित्र के लिए, मित्र की भलाई के वास्ते था। कर्ण युद्ध के धर्म-अधर्म दोनों को जानता था।

पर वह मित्र-प्रेमी था। मित्र के लिए वह कुछ भी कर सके ऐसा व्यक्ति था। कर्ण में विद्यमान दिखाई पड़नेवाला व्यक्तित्व का विसंवाद इस हकीकत में से प्रगट होता है, पश्चिमी विचारक-उपन्यासकार ई. एम. फारेस्टर ने मित्र और देश में दो में से एक के साथ दगा करना हो तो 'प्रभू, देश से दगा करने की शक्ति प्रदान करो', ऐसी प्रार्थना की थी। इस उत्कटता के साथ कर्ण दुर्योधन के साथ मैत्री रखता है। वह धर्मज्ञ है। फिर भी दुर्योधन के पक्ष में है : इसका रहस्य यही है। वह दुर्योधन के अहंकार का पोषण करता है और स्वयं भी अहंकारी बनता है इसका रहस्य भी शायद यही है।

कर्ण पर्व में एक प्रसंग आता है। कवि के रूप में व्यास कहीं भी पक्षधर नहीं होते। वे प्रत्येक पात्र की गरुआई को उभारते हैं। दुःशासन का भीमसेन द्वारा किया गया वध, इस घटना में दुःशासन के पौरुष को महाकवि ने पूरी तौर से प्रस्फुटित किया है। दुःशासन के सामने धनुष युद्ध में भीम टिक नहीं सकता, पर गदायुद्ध में भीम के प्रथम प्रहार से ही दुःशासन धराशायी होता है। तब दुःशासन का रुधिरपान करने को उत्सुक भीम उससे पूछता है--

ये राजसूयावभृथे पवित्रा
जाताः कचा याज्ञसेन्या दुरात्मन,
ते पाणिना कतरेणावकृष्टा
स्तद्ब्रूहि त्वां पृच्छति भीमसेनः।

(कर्ण, ८३; २०-२१)

राजसूय यज्ञ में अवभृथ स्नान से पवित्र हुई याज्ञसेनी (द्रौपदी) के केश तूने किस हाथ से खींचे थे यह बता, दुःशासन भीमसेन तुझसे यह प्रश्न पूछ रहा है।

दृश्य कल्पना करने लायक है। भीम के गदा प्रहार से दुःशासन धराशायी हुआ है, उस पर से भीम उसके गले पर लात मारकर तलवार निकालकर खड़ा है और तब यह प्रश्न पूछता है। यदि दूसरा कोई दुर्बल और साहसहीन व्यक्ति होता तो इस संयोग में डरके मारे बोल न पाता, बेहोश हो जाता। पर दुःशासन तो कौरवों और सोमको की ओर देखकर तनिक स्मित के साथ, किंचित रोष के साथ और 'परिवर्तनेत्रे' (बदली हुई आँखों से) से कहता है—

अयं करिकराकारः पीनस्तनविमर्दनः
गोसहस्त्रप्रदाता च क्षत्रियान्तकरः करः ।
अनेन याज्ञसेन्या मे भीमकेशाविकर्षिताः
पश्यतां कुरुमुख्यानां युष्माकं च सभासदम् ।
(कर्ण. ८३; २३-२४)

पीनस्तन का मर्दन करनेवाले, हजारों गायों का दान करनेवाले और क्षत्रियों का विनाश करनेवाले ये मेरे हाथ हाथी की सूँड़ जैसे स्थूल हैं। इस हाथ से भीम, मैंने कुरुमुख्यों के देखते हुए, तेरे देखते हुए और सभासदों के सामने याज्ञसेनी के केश खींचे थे ।

दुःशासन मृत्यु की बेला में कायर या जान बचाने की वृत्तिवाला नहीं बनता ।

इसी के साथ भीम जब अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने हेतु दुःशासन का रुधिर पान करता है तब महाकवि उसकी ओर सबकी घृणा प्रगट हो ऐसी आलोचना करते हैं। 'भीमं रक्षो' (भीम राक्षस है) ऐसा कहते कौरव योद्धा और स्तब्ध हो गयी पाण्डव सेना सभी 'न वै मनुष्योऽयं (यह मनुष्य नहीं है) ऐसे शब्द कहने लगते हैं ।

भीम के इस कृत्य से सभी लोग विमूढ़ हो जाते हैं। कर्ण जैसा महारथी भी अपना लड़ना भूल जाता है । तब शल्य उसे स्मरण कराता है, तेरे ऊपर दारोमदार रखकर तो दुर्योधन ने यह युद्ध आरंभ किया है, अब तू मोह में फँस जायेगा तो काम कैसे चलेगा ?

जये स्याद् विपुला कीर्तिः ध्रुवः स्वर्गः पराजये ।
(कर्ण, ८४; १६)

जय प्राप्त हो तो विपुल कीर्ति, पराजय मिले तो निश्चित रूप से स्वर्ग । शल्य इतना कहकर ही रुक नहीं जाता, पर कर्ण का पुत्र वृषसेन कैसे पराक्रम से पाण्डवों के विरुद्ध लड़ रहा है यह भी कर्ण को बताता है । जिस शल्य ने आरम्भ में कर्ण का तेजोवध किया था वही शल्य अब कर्ण के सारथि के रूप में अपने कर्तव्य में कहीं भी चूकता नहीं ।

कर्ण का पुत्र वृषसेन घोर युद्ध करके नकुल को पराजित करता है, तब रोषभरा अर्जुन वृषसेन का वध करता है। रोषभरा कर्ण जब अर्जुन की ओर धँसता है, तब कृष्ण कहते हैं—

आखंडलधनुः प्रख्यमुल्लिखन्तमिवाम्बरम्
पश्य कर्ण समायन्तं धार्तराष्ट्र प्रियैषिणम् ।

(कर्ण, ८६; ६)

जिसकी ध्वजा इन्द्रधनुष की भाँति आकाश में रेखा अंकित कर रही है, वह दुर्योधन का हित चाहने वाला कर्ण देख इधर ही आ रहा है ।

कर्ण की प्रशस्ति में कृष्ण पीछे नहीं रहे हैं, पर फिर कहते हैं, ऐसे कर्ण का वध केवल तू ही कर सकता है ।

अर्जुन कृष्ण की इस प्रशंसा से फूल नहीं जाता । अब तक वह कृष्ण की महिमा को पूर्ण रूप से समझ चुका है । इसी से वह नम्रतापूर्वक कहता है—

ध्रुव एव जयः कृष्ण मम नास्त्यत्र संशयः
सर्व लोक गुरुर्यस्त्वं तुष्टोऽसि मधुसूदन ।

(कर्ण, ८६; १७)

कृष्ण मेरी जय निश्चित है इसमें मुझे कोई संशय नहीं है, कारण यह कि सब लोगों के गुरु, आप मुझ पर प्रसन्न हैं ।

कर्ण की महिमा व्यास तनिक भी कम करके नहीं आँकते । युद्ध में 'मैं अर्जुन का वध करूँगा', कर्ण की यह शेखी भी झूठी नहीं है । कृष्ण यदि अर्जुन के सारथि न होते तो अर्जुन सहित ये पाण्डव युद्ध में इतने दिनों तक टिक ही न पाते ।

कर्ण-अर्जुन आमने-सामने होते हैं तब व्यास कहते हैं । 'द्वाविवार्कौ समुद्गतौ' मानो एक साथ दो सूर्य प्रगट हुए । (कर्ण, ८७; ३)

कवि इन दोनों के रथों का, सारथियों का, तथा दोनों के पराक्रम का जी लगाकर वर्णन करते हैं : पृथ्वी पर के मनुष्य तो कर्ण-अर्जुन में से कौन जीतेगा यह प्रश्न पूछ ही रहे थे पर अन्तरिक्ष में विद्यमान 'भूत' भी यही प्रश्न पूछ रहे थे और उत्तर में वे सहमत नहीं थे 'द्यौ' (आकाश की अधिष्ठात्री देवी) कर्ण की विजय चाहती थी, परन्तु भूमि धनंजय के जय की आकांक्षा रखती थी ।

इस समय कर्ण के पक्ष में राक्षस थे और अर्जुन के पक्ष में देवता थे, यह प्रचलित बात महाभारत में देखें तो झूठी सिद्ध होती है । अर्जुन के पक्ष में वसु, मरुद्गण, साध्य, रुद्र, विश्वदेव, अश्विनीकुमार, अग्नि,

इन्द्र, सोम आदि हैं तो तमाम आदित्य कर्ण के पक्ष में हैं। सूर्य स्वय कर्ण के पक्ष में हैं। इन्द्र और सूर्य के कारण देवता और असुर भी दो दलों में बंट गये हैं। देवता अन्त में ब्रह्मा से पूछते हैं इन कुरु-पाण्डवों में से कौन जीतेगा ? और फिर अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं।—

समोऽस्तु विजयो देव एतयोर्नरसिंहयोः !

(कर्ण, ८७; ६४)

हे देव, इन दोनो नरसिंहों की समान विजय हो।

किसी को भी देवताओं की इस प्रार्थना के सुर में सुर मिलाने का मन होगा पर कर्ण अधर्म के पक्ष में है, अर्जुन धर्म के साथ हैं। इतना ही नहीं अर्जुन के पक्ष में कृष्ण हैं। इसी से ब्रह्मा जी कहते हैं :—

तोषितो भगवान् येन महात्मा वृषमध्वजः,
कथं वा तस्य न जयो जायते शतलोचन।

(कर्ण, ८७, ७३)

हे शतलोचन (इन्द्र) जिसने भगवान वृषभध्वज को तुष्ट किया है, ऐसे अर्जुन की विजय क्यों न हो ?

कृष्ण में विवेक है, प्रमाण है। इसका एक उदाहरण कर्ण-शल्य के तथा कृष्ण-अर्जुन के संवाद में मिलता है। कर्ण शल्य से पूछता है : शल्य रणभूमि में कुंती पुत्र मुझे मार डालें तो तू क्या करेगा ? शल्य कहता है–'यदि श्वेतवाहन अर्जुन तुझे युद्ध में मार डालेगा तो मैं एक मात्र रथ द्वारा माधव और पाण्डव दोनों का वध कर डालूंगा।' सारथि के रूप में शल्य यहाँ ओछा सिद्ध होता है। अर्जुन कर्ण का वध कर सकता है इस शक्यता को शल्य कर्ण के कहते ही स्वीकार कर लेता है। अर्जुन ऐसा ही प्रश्न कृष्ण से पूछता है तब कृष्ण उत्तर देते हैं—

पतेद् दिवाकरः स्थानात् शुष्येदपि महोदधिः
शैत्यमग्निरियान्नं त्वां हन्यात् कर्णो धनंजय।

(कर्ण, ८७, १०५)

धनंजय सूर्य अपने स्थान से च्युत हो जाय, समुद्र सूख जाय, अग्नि सदा के लिए शीतल बन जाय तो भी कर्ण तुझे मार नहीं सकता।

फिर वे आगे कहते हैं, तो भी यदि इसके विपरीत कुछ घटित हो तो मैं कर्ण-शल्य दोनों को अपने दो खुले हाथों से मार डालूंगा।

कृष्ण के उत्तर में अपने रथी का शौर्य बखानने की चेष्टा है।

शल्य में अहंकार है, कृष्ण में प्रमाण है। इसी से सारथि पद की कला में शल्य चाहे कितना ही कुशल क्यों न हो पर कर्ण को जिता नहीं सकता।

युद्धभूमि में दो सूर्य आमने-सामने आये हैं, तब शेष बचे लोगों का विनाश निश्चित है, यह तो दीपक जैसी स्पष्ट बात है। अभी भी यदि दुर्योधन संधि कर ले तो बचा-खुचा बच सकता है। पर दुर्योधन से यह बात कहे कौन ? जो अवध्य है ऐसा अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है कि अभी शान्ति की स्थापना कर पाण्डवों से मिलकर तूं राज कर। द्रोण और भीष्म जैसे नहीं रहे तो अब युद्ध में तूं किस प्रकार जीत सकता है। इतना ही नहीं, वह स्वयं समाधान कराने का बीड़ा उठाता है और कहता है--

न विग्रहमतिः कृष्णः स्वजने प्रतिनन्दति

(कर्ण, ८८; २७)

कृष्ण विग्रह में मति रखनेवाले नहीं हैं। वे स्वजनों पर हमेशा सन्तुष्ट रहते हैं।

पर दुर्योधन के मन पर यह सलाह प्रभाव करे, ऐसी नहीं है। वैसे भी वह विग्रह-मति है तिस पर से अभी हाल में ही भीम ने दुःशासन की छाती चीरकर रुधिर पान किया है और कर्ण के पराक्रम की हवा भी ताजी है। इसी से वह कहता है कर्ण अवश्य ही थके हुए अर्जुन को मार डालेगा। ऐसे देखें तो कर्ण इस महाभारत युद्ध के पहले ग्यारह दिन तो लड़ा ही नहीं है और उधर अर्जुन के युद्ध का यह सत्रहवां दिन है।

कर्ण तथा अर्जुन का युद्ध प्रखर है। कर्ण के पास इन्द्र द्वारा प्रदत्त शक्ति बची होती तो अर्जुन उसके सामने टिक ही न पाता, कृष्ण की यह बात याद आती है। अर्जुन जितने भी दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करता है उन सबका प्रतिकार कर्ण के पास है, आग्नेय अस्त्र के सामने वरुणास्त्र, वज्रास्त्र के सामने भार्गवास्त्र। अर्जुन और कृष्ण भी त्राहि-त्राहि पुकार उठे ऐसा प्रचण्ड युद्ध कर्ण प्रदान करता है। भीम आकर अर्जुन से कहता है 'तू देवताओं के लिए भी अजेय है, तुझे यह सूतपुत्र कर्ण कैसे बींध सकता है ?' यही नहीं द्रौपदी के चीरहरण के समय कर्ण ने 'षंढतिलान' (ये नपुँसक हैं) जैसे शब्द उच्चारे थे, इन

सब बातों की याद दिलाकर भीम अर्जुन की शूरता को प्रेरित करता है।

अस्तु अर्जुन कृष्ण, ब्रह्मा, शंकर और समस्त देवताओं की अनुमति लेकर कर्ण के वध के लिए ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है, कर्ण उसे भी नष्ट कर देता है। भीम कर्ण का पराक्रम देखकर धधक उठता है। कर्ण अर्जुन, भीम और कृष्ण तीनों को घायल कर देता है।

कर्ण-अर्जुन का यह युद्ध कैसा बराबरी का था कि उसे देखने हेतु युधिष्ठिर भी वहाँ घुस आये। इतना ही नहीं, फिर कर्ण के बाणों की वर्षा से त्रस्त होकर वहाँ से चले भी गये।

कर्ण के शौर्य को महाकवि एक नयी पराकाष्ठा पर लाते हैं। खांडव-दहन के समय अर्जुन ने जिसकी माता का वध किया था वह अश्वसेन नाग बैर का बदला लेने का मौका देखकर कर्ण की जानकारी बिना उसके तरकश में प्रविष्ट हो गया। कर्ण ने उसे बाण मानकर अर्जुन की ओर उसका संधान किया। शल्य ने देखा कि इस संधान से बाण अर्जुन के कंठ पर नहीं पहुँचेगा। उसने फिर से संधान करने को कहा। कर्ण जवाब देता है—

न संधत्ते द्विः शरं शल्य कर्णो
न मादशः जिह्मयुद्धा भवन्ति

(कर्ण, ९०, २६)

शल्य, कर्ण दोबार संधान नहीं करता और मेरे जैसा वीर कपट युद्ध नहीं कर सकता।

प्रथम संधान प्रतिस्पर्धी को अपना व्यूह बनाने के लिए चेताता है, प्रतिस्पर्धी को धोखा देकर दूसरा संधान करना यह अधर्म है। प्रति-स्पर्धी के समूचे व्यूह को निष्फल बना दे ऐसा संधान न हो तो जैसी तकदीर, पर कपट से युद्ध तो नहीं ही हो सकता।

यह संधान शर का नहीं था। अर्जुन के प्राण लेने को उत्सुक अश्वसेन नाग का था। कर्ण यह नहीं जानता था। एक तो यह जहरीला नाग और तिस पर से कर्ण की प्रत्यंचा पर से हुआ संधान। अर्जुन बच जाय तो ही अनहोनी कहें। स्वयं इन्द्र को भय हुआ कि अर्जुन अब नहीं बचेगा।

पर कृष्ण ने अश्वों को बैठा दिया, इतना ही नहीं रथ के पहिये पृथ्वी में गहरे उतार दिये और बाण ऊपर से निकल गया। अश्वसेन

अर्जुन का वध करने, उसका मस्तक उतार लेने को उत्सुक था–उसने झपट्टा मारा। पर अर्जुन का मस्तक तो नहीं, पर मस्तक पर का मुकुट ही उसके हाथ आया। इन्द्र द्वारा दिया हुआ मुकुट अर्जुन ने खो दिया, पर कृष्ण की समय सूचकता से अर्जुन स्वयं बच गया।

अश्वसेन नाग पुनः एक बार कर्ण के पास जाकर कहता है। आप फिर मेरा संधान करें, मैं अर्जुन का प्राण हरण करूँगा। कर्ण उसका परिचय पूछता है और वह जान लेने पर कहता है।

न संदध्यां द्विः शरं चैव नाग
यद्यर्जुनानां शतमेव हन्याम्

(कर्ण, ९०;४८)

सौ अर्जुनों का वध हो सके ऐसा भी हो तब भी मैं एक ही बाण दुबारा इस्तेमाला नहीं करता और पराये बल का आश्रय लेकर कर्ण विजय प्राप्त करना नहीं चाहता।

कर्ण की इस युद्ध में धर्मवृत्ति पर गौर करें तो अब कृष्ण जैसा वर्णन करने वाले हैं उस अधर्म के साथ उसकी तुलना करने की प्रेरणा होती है। पर द्यूतसभा का अधर्म और रणसंग्राम का धर्मः इनमें धर्म को स्वीकार करें, धर्म का आदर करें तो भी यह रण-संग्राम स्वयं उस अधर्म में से प्रगट हुआ है यह बात कैसे भूल सकते हैं ?

इस बीच कर्ण के रथ का पहिया धरती में धंसने लगता है, तब कर्ण कहता है : अर्जुन, मैं तुझसे या कृष्णसे डरता नहीं पर तू तो युद्ध धर्म से अभिज्ञ है, क्षत्रिय है, उच्च कुल का है। (यहाँ स्वयं सूतपुत्र होने के बावजूद युद्धधर्म से च्युत नहीं होता इस बात का स्मरण दिलाता है) अस्तु मैं रथ का पहिया निकाल लूं तब तक मुझ भूमि पर स्थित को रथारूढ़ मानकर तूं बाणों से व्याकुल न कर।'

इस बात का जवाब अर्जुन नहीं, कृष्ण देते हैं। अर्जुन यदि अधर्म का भी आचरण करे तो वह कितने बड़े अधर्म के फलस्वरूप है यही बात यहाँ व्यक्त की गई है। अस्तु कृष्ण कर्ण से पूछते हैं तूं आज धर्म की बात करता है, पर तूं ने, दुःशासन ने, शकुनि ने तथा दुर्योधन ने एक वस्त्रधारी द्रौपदी को सभा में बुलाया तब तेरे मन में धर्म का विचार नहीं उठा था ? जब द्यूत से अनभिज्ञ युधिष्ठिर को कुशनि ने छल से जीता तब तेरा धर्म कहाँ गया था ? वनवास में तेरह

वर्ष बिताने के बाद भी पाण्डवों को उनका राज्य वापस नहीं मिला तब तेरा धर्म कहाँ गया था ?

कव ते धर्मस्तदा गतः ।

(कर्ण, ६७; ३)

तेरा धर्म तब कहाँ गया था, यह सवाल बारंबार कृष्ण पूछते हैं। विष प्रयोग, लाक्षागार, द्रौपदी चीर हरण, दूसरी बार की द्यूतसभा, अभिमन्यु का अधर्म से किया गया वध इन सब के समय तेरा धर्म कहाँ गया था ?

कृष्ण के इन प्रश्नोंका उत्तर कर्ण के पास नहीं था। कर्ण धर्मज्ञ है। धर्म का जानकार है अस्तु कृष्ण के प्रश्नों की सच्चाई परख सकता है। वह पृथ्वी पर खड़ा रहकर ही अर्जुन के समक्ष लड़ने लगता है। वह ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है, अर्जुन उसका निवारण करने को मंथन करता है उस बीच वह रथ का पहिया बाहर निकालने की चेष्टा करता है। पुनः अर्जुन आग्नेयास्त्र छोड़ता है। कर्ण वरुणास्त्र के प्रयोग से उसे नष्ट कर देता है और एक महाभयंकर बाण अर्जुन की छाती पर मारता है। अर्जुन को इससे चक्कर आगया, गांडीव पर से उसकी पकड़ ढीली पड़ गयी।

धरती पर खड़े कर्ण का रथारूढ़ अर्जुन के साथ हुआ युद्ध भी ऐसा पराक्रमयुक्त था। अन्त में अर्जुन आंजलिक नामक बाण हाथ में लेता है। कृष्ण भी कहते हैं, 'कर्ण रथारूढ़ हो उससे पहले उसे मार डाल।' रथारूढ़ कर्ण तो दुर्जेय नहीं अजेय ही लगता है। अन्त में अर्जुन ने आंजलिक बाण का भूमि पर खड़े कर्ण पर संधान किया और कहा: 'मेरे सत्य के प्रभाव से यह शर कर्ण का वध करे' और सूर्य जैसे अस्ताचल से नीचे गिरते हैं वैसे ही कर्ण का मस्तक उसके धड़ पर से नीचे गिरा, और कर्ण का शर-विशीर्ण शरीर अंशुमालि सूर्य-जैसा शोभित हुआ।

३२. शल्य वध

शल्य जब कर्ण की मृत्यु का समाचार दुर्योधन को देता है, तब कहता है :

दैवं ध्रुवं पार्थवशात् प्रवृत्तं यत् पाण्डवान् पाति हिनस्ति चास्मान् ।

(कर्ण, ९२; १२)

निश्चय ही विधि पार्थ के वश में हैं, जिससे वे पाण्डवों की रक्षा करते हैं और हमारा नाश ।

भीष्म, द्रोण और कर्ण जैसे वीरों की जो गति हुई उसे देखते हुए शल्य ने जो कहा, वही सत्य प्रतीत होता है । दुर्योधन भी तब 'मनसा निरीक्ष्य' मन में अवलोकन कर रहा है । कर्ण के मारे जाने से भागती हुई सेना को लौटाने का बारम्बार निष्फल प्रयत्न करते दुर्योधन को शल्य शिविर में वापस लौटाता है । इस घटना पर संजय धृतराष्ट्र से कहता है :

यमाश्रित्याकरोद् वैरं पुत्रस्ते स गतो दिवम्,
आदाय तव पुत्राणां जयाशां शर्म वर्म च ।

(कर्ण, ९४; ४८)

जिसका आश्रय लेकर आपके पुत्रों ने पाण्डवों के साथ वैर किया था वह कर्ण, आपके पुत्रों के जय की आशा, उनका सुख और कवच (उनकी रक्षा) अपने साथ लेकर स्वर्ग गया ।

कर्ण की मृत्यु के साथ दुर्योधन की जय की रही-सही आशा भी नष्ट हो गई । इतना ही नहीं, पर उसका सुख गया, उसका कवच भी गया । अब पाण्डवों से रक्षा कर सके ऐसा एक भी वीर उसके पक्ष में नहीं बचा था । कृतवर्मा, शकुनि, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन और शल्य त्रस्त होकर शिविर की ओर पलायन कर गये ।

दूसरी तरफ कृष्ण और अर्जुन 'कांचने शयनोत्तमे' (सोने के पलंग पर) सोये राजशार्दूल युधिष्ठिर को कर्ण मारा गया, यह खबर देने गये । दोनों ने युधिष्ठिर के पैर पकड़ लिये । यदुपुंगव ने—कृष्ण ने जो हुआ वह युधिष्ठिर को कह सुनाया । युधिष्ठिर यह सुनकर हर्षित हुए, पर संयम नहीं खोया । इस विजय के लिए कृष्ण के ही आभारी हैं, यह तथ्य वे भूलते नहीं हैं । वे कहते हैं :—

जयश्चैव ध्रुवोऽस्माकं न त्वस्माकं पराजयः
यदा त्वं युधि पार्थस्य सारथ्यमुपजग्मिवान् ।

(कर्ण, ९६; ३१)

आप युद्ध में अर्जुन के सारथि बने तबसे ही हमारी विजय निश्चित थी : हमारी पराजय थी ही नहीं।

संजय जब कर्ण कैसे मारा गया यह बात पूरी करता है तब धृतराष्ट्र और गांधारी को मूर्च्छा आ जाती है। भीष्म और द्रोण मारे गये तब ऐसा नहीं हुआ था। धृतराष्ट्र भी दुर्योधन की भाँति यह मानने लगा था कि कर्ण कृष्ण सहित पाण्डवों को जीत सकेगा।

पिछले पर्वों की भाँति ही शल्यपर्व के प्रारम्भ में ही संजय खिन्न-चित्त रुदनभरी वाणी में कहता है, राजन् मद्रराज शल्य, शकुनि, उलूक आदि मारे गये, इतना ही नहीं भीम ने जैसा कहा था उसी प्रकार दुर्योधन भी मारा गया। धृष्टद्युम्न, अपराजित शिखण्डी आदि पांचालवीर और द्रौपदी के पुत्र भी मारे गये।

और अट्ठारह दिन के इस युद्ध के महासंहार में से क्या शेष बचा यह भी संजय बताता है—

सप्त पाण्डवतः शेषा धृतराष्ट्रस्त्रयो रथाः

(शल्य, १; ३५)

पाण्डवपक्ष के सात रथी बचे; पाँच पांडव, छठे कृष्ण और सातवां सात्यकि जबकि दुर्योधन के पक्ष के तीन रथी बचे; कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा। इनके अलावा समस्त अक्षौहिणी सेनाएं काल के गाल में समा गयीं।

धृतराष्ट्र, विदुर, गांधारी सबके लिए यह खबर बिजली गिरने जैसी है। धृतराष्ट्र "पुत्रों बिना अनाथ जैसा मैं केवल तेरे आसरे हूँ" विदुर से ऐसा कहकर पुनः मूर्च्छित हो जाते हैं। पर स्वस्थ होने के बाद यह सब कैसे हुआ 'किमकुर्वंत मामकाः' (मेरे पुत्रों ने क्या किया) यह जानने की इच्छा करते हैं।

कर्ण मारा गया, पाण्डव छिन्न-विच्छिन्न कौरव सैन्य को रौंद रहे हैं, अब दुर्योधन के पक्ष में कोई प्रमुख वीर नहीं बचा है इस बात का स्मरण दिलाकर कृपाचार्य उससे कहते हैं :

रक्ष दुर्योधनात्मानमात्मा सर्वस्य भाजनम्
भिन्ने ही भाजने तात दिशो गच्छांत तद्गतम्।

(शल्य, ४; ४२)

दुर्योधन, अब तू अपनी–अपने शरीर की रक्षा कर। यही सभी

सुखों का भाजन है। यह भाजन टूटेगा तो पात्र टूटने पर जैसे पानी चारों ओर बह जाता है वैसे ही तेरे सुखों का भी अन्त हो जायेगा। इससे तो अच्छा है तूं पाण्डवों के साथ सन्धि करके राज्य सुख भोग। दुर्योधन बढ़िया उत्तर देता है :

न मां प्रीणाति तत्सर्वं मुमूर्षोरिव भेषजम्।

(शल्य, ५; ५)

आपकी मेरे हित में कही बात भी मुझे अच्छी नहीं लगती जैसे मरणासन्न रोगी को दवा अच्छी नहीं लगती।

और फिर यह दवा रोग का उपचार है यह जानने के बाद भी वह उसे क्यों नहीं लेता, इसका दुर्योधन तर्कसंगत उत्तर देता है। सबसे पहले तो वह, उसने पाण्डवों के साथ जो छल और अन्याय किया उसे याद करता है, द्यूत सभा और कृष्ण की सन्धिवार्ता याद करता है, अभिमन्यु का जिस प्रकार वध किया वह याद करता है, द्रौपदी को 'सर्वलोकस्य पश्यतः' सब लोगों की नजर के सामने 'विवसन' और 'दीन' किया यह याद करता है और कहता है : पांडव अब मुझे कैसे क्षमा कर सकते हैं ? फिर भी दलील के लिए, मान लें कि माफ कर दें और राज्य मुझे सौंप दें तो भी—

कीदशं च भवेद् राज्यं मम हीनस्य बन्धुभिः,
सखिभिश्च विशेषेण प्रणिपत्य च पाण्डवम्।

(शल्य, ५; ४६)

अपने बांधवों और मित्रों रहित मैं; मुझे पाण्डवों के पैरों पर गिर कर राज्य मिले उस राज्य को भोगने में कौन-सा रस रहेगा ?

अपने वास्ते जिन्होंने मृत्यु का वरण किया उन वीरों की याद कर के दुर्योधन समाधान के लिए ना कहता है। यह समाधान की अस्वीकृति महत्वपूर्ण है। पहले जब-जब दुर्योधन ने संधि के लिए ना कही तब वह विजय की आकांक्षा रखता था। अभी पिछली रात जब अश्वत्थामा ने उससे सन्धि करने को कहा था और वह स्वयं सन्धि दूत बनेगा यह प्रस्ताव किया था, तब दुर्योधन कर्ण के बल पर युद्ध जीत जाऊँगा ऐसा मानता था। परन्तु कृपाचार्य जब सन्धि के लिए कहते हैं तब वह हार चुका है यह बात दुर्योधन जानता है। अब उसे बन्धुसखा रहित राज्य नहीं चाहिये।

शल्य का सेनापति पद पर अभिषेक होता है तब प्रत्येक सेनापति की भाँति वह भी कृष्ण सहित पाण्डवों और पांचालों का वध करेगा, ऐसा कहता है। शल्य सेनापति में उचित जोश पैदा करने के लिए ऐसा कहता है पर कृष्ण उसके शब्दों का लेशमात्र भी कम मूल्यांकन नहीं करते। वे तो युधिष्ठिर से कहते हैं।

यादृग् भीष्मस्तथा द्रोणो यादृक् कर्णश्च संयुगे,
तादृशस्तद्विशिष्टो वा मद्रराजे मतो मम।

(शल्य, ७; २९)

दुश्मन का बल कम आंककर छक जाने में कृष्ण विश्वास नहीं करते। इसीसे वे कहते हैं कि जैसे भीष्म या द्रोण या तो कर्ण जैसे, वैसा ही यह, या उससे भी विशिष्ट ऐसा यह शल्य है ऐसा मैं मानता हूँ।

शल्य को तुच्छ मानकर पाण्डव आत्मसंतोष की मरीचिका में जीती हुई बाजी हार न बैठें इसका कृष्ण को ध्यान है। और इसके साथ ही वे शल्य का सही माप भी दे देते हैं :

द्रोण भीष्मार्णवं तीर्त्वा कर्णपातालसंभवम्
मा निमज्जस्व सगणः शल्यमासाद्य गोष्पदम्।

(शल्य, ७; ४०)

द्रोण, भीष्म, कर्ण इन सब महासागरों को पार करने के बाद, शल्य जैसे गाय के खुर के चहबच्चे में हम डूब जायंगे क्या ?

यहाँ कृष्ण की दोनों उक्तियों में विरोधाभास नहीं है, पर युद्ध में रखनी चाहिये वैसी सावधानी है। भीष्म, द्रोण, कर्ण को हराया तब शल्य की क्या बिसात ? ऐसा अहंकार नहीं पालना चाहिये और साथ ही भीष्म, द्रोण, कर्ण को हराया, शल्य से हारना अब शोभा नहीं देगा।

युधिष्ठिर का प्रचण्ड युद्ध इन अट्ठारह दिनों में नहीं आया है। अर्जुन द्वारा सुरक्षित युधिष्ठिर को जिन्दा पकड़ लानेका बीड़ा द्रोण ने उठाया था और कर्ण ने युधिष्ठिर को बुरी तरह पराजित किया था। युधिष्ठिर इसीसे कृष्ण-सात्यकि सहित अपने बान्धवों को बुला कर कहता है कि आपने जो पराक्रम किया है, वह अपूर्व है। दुर्योधन ने जिन जिन का आश्रय लेकर यह घोर संग्राम रचा था उन सब को बाकी के भाइयों ने मात दी, अब—

भागोऽवशिष्ट एकोऽयं मम शल्यो महारथः
सोऽहमद्य युधा जेतुमाशंसे मद्रकाधिपम् ।।

(शल्य, १६; १८)

अब मेरे हिस्से में एकमात्र शल्य बाकी रह गया है : और आज मैं उसे युद्ध में जीतने की आकांक्षा रखता हूँ ।

युधिष्ठिर इस अवसर पर नकुल और सहदेव को अपने रथ के पहियों की रक्षा करने का-अर्थात् यह कि अपने आसपास रहने का काम सौंपता है। युधिष्ठिर यह काम भीम या अर्जुन को सौंप सकते थे। पर युधिष्ठिर को यह बात याद है कि शल्य माद्री का भाई और नकुल सहदेवका सगा मामा है। वह कहता है 'नकुल सहदेव मेरे लिए मेरी ओर से अपने मातुल-मामा के साथ उचित युद्ध करें।' अपने आसपास की रक्षा के लिए नकुल सहदेव को स्थापित करके युधिष्ठिर विशद व्यूह रचना करते हैं। अपने सामने अपने कोमल भांजों को देखकर शल्य का बल आधा हो जाता है। शल्य जी लगाकर नहीं लड़ सकता। तीन कौन्तेय उसके सामने होते तो उसे ऐसा लगाव न होता।

युधिष्ठिर शल्य का वध करते हैं, तब शल्य की मृत्यु की व्यास अपूर्व महिमा दिखाते हैं। भीष्म, द्रोण, कर्ण-किसी के पतन के समय ऐसा असामान्य वर्णन नहीं आता।

प्रत्युदगत इव प्रेम्णा भूम्या स नरपुंगवः
प्रियया कान्तया कान्तः पतमान इवोरसि ।
चिरं भुक्त्वा वसुमतिं प्रियांकान्तामिव प्रभुः,
सर्वैरंगैः समाश्लिष्य प्रसुप्त इव चाभवत् ।।

(शल्य, १७; ५४-५६)

शल्य पृथ्वीपति था, यह बात यहाँ काव्यात्मक ढंग से उभारी गई है। शल्य की वीर मृत्यु महान उत्सव बन जाय इस प्रकार कविवर ने उसे निरूपित किया है। प्रिया अपने वक्षस्थल पर आकर लिपटते प्रियतम का जैसे प्रेमपूर्वक स्वागत करती है उसी प्रकार पृथ्वी ने अपने ऊपर ढल रहे नरपुंगव शल्य को मानो प्रेमपूर्वक आगे बढ़ कर अंगीकार किया और प्रिय कान्ता की भाँति वसुमति-पृथ्वी का चिरकाल तक उपभोग करने के बाद राजा शल्य सर्वांग से उसका आलिंगन करके सो गया।

इस विजय के बाद जो पाण्डव सेना शेष बच रही थी उसे भी प्रतीति हो गयी कि इसमें पाण्डवों को नहीं पाण्डवों के नाथ को जस देना है। कौरव सेना को पलायन करते देखकर ये योद्धा कहते हैं : भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य तथा अन्य सैकड़ों नृपों पर विजय प्राप्त करने में युधिष्ठिर के सिवा कौन समर्थ है ? और युधिष्ठिर भी कैसे ?

यस्य नाथो हृषीकेश : सदा सत्ययशो निधि: ।

(शल्य, १९; २९)

जिसके नाथ कृष्ण हैं–जो हमेशा सत्य और यश के भण्डार हैं।

३३. भीम और दुर्योधन

संजय अब तक प्रेक्षक के रूप में ही हमारे सामने आता है। वह धृतराष्ट्र का सचिव है और इस नाते पक्षधर तो है ही। वह धृतराष्ट्र से कभी 'आपके पुत्र' अथवा 'तावकंबलं' (आपकी सेना) और कभी 'हमारी सेना', 'हमारे वीर' जैसे शब्दों में बात कहता है। कारण यही है कि वह दुर्योधन के पक्ष में है। यद्यपि उसका सद्भाव धर्म के पक्ष में है : वह निरन्तर धृतराष्ट्र को अपने पुत्रों को युद्ध के मार्ग से न रोकने के लिए उपालम्भ देता ही रहता है।

यह संजय युद्धभूमि में लड़ता भी है, वह धृष्टद्युम्न के लड़ते हुए थकता है और वहाँ फिर से सात्यकि की सेना के बीच घुस जाता है और सात्यकि उसे जीवित पकड़ लेता है।

अब आगे की कुछेक घटनायें संजय बन्दी अवस्था में ही देख सकता है–उसे भगवान व्यास ने दृष्टि प्रदान की है, उसी की सहायता से।

भीम एक के बाद एक धृतराष्ट्र के पुत्रों का रण में वध करता है। शल्य पर्व के सत्ताइसवें अध्याय के आरंभ में केवल दुर्योधन और सुदर्श ये दो ही पुत्र बाकी बचे हैं। साथ हैं शकुनि और उसके पांचसौ घुड़सवार, अश्वत्थामा, कृप, सुशर्मा, उलूक और कृतवर्मा : बस इतनी गिनती में ही दुर्योधन की सेना का गणित पूरा हो जाता है।

शकुनि की हत्या सहदेव के हाथों होती है, इसमें सहदेव के त्रिकाल ज्ञानीपन की किंवदन्ती का हाथ होगा ? द्रौपदी चीरहरण के

मूल में द्यूतसभा थी, द्यूतसभा के मूल में शकुनि। अर्जुन ने कृष्ण से अभी कुछ ही क्षणों पूर्व कहा था—:

निकृत्या वै दुराचारो यानि रत्नानि सौबलः,
सभायामहरद् द्यूते पुनस्तान्याहराम्यहम्।

(शल्य, २२; २३)

सुबल के इस दुराचारी पुत्र ने द्यूतसभा में छलकरके जो रत्न हर लिये थे वे सभी मैं पुनः प्राप्त करूँगा।

तो भी शकुनि का वध अर्जुन के हाथों नहीं, सहदेव के हाथों होता है। यहाँ यह याद रहे कि जब भीम सहित सभी पाण्डव सन्धिवार्ता के समय समाधान के लिए अनुरोध कर रहे थे तब सहदेव ने ही युद्ध माँगा था : तब द्रौपदी ने उसकी पूजा करके उसकी बात का समर्थन किया था। इस समय युद्धभूमि में सहदेव शकुनि का मस्तक काट लेता है तब 'सर्वे प्रतिपूजयन्तो' सभी लोग सहदेव का प्रति पूजन करते हैं और यह अच्छा हुआ ऐसा कहते हैं।

इस दौर में सुशर्मा, उलूक इत्यादि का भी वध हो चुका है। दुर्योधन के लिए अब अपनी भाग रही सेना को रोकना असंभव हो गया था। एक ओर पाण्डवों की विराट सेना में से केवल दो हजार रथ, सात सौ हाथी, पाँच हजार घोड़े तथा दस हजार पैदल, इतना ही बच रहा था तो दूसरी ओर अकेला दुर्योधन खड़ा था। इस दृश्य की, इस सर्वनाश की कल्पना करने लायक है, 'स्वबल के संक्षय' पर दृष्टि डालता दुर्योधन रणभूमि से भागता है उसका वर्णन व्यास इस ढंग से करते हैं :

तथा दृष्ट्वा महाराज एकः स पृथिवीपतिः
हतं स्वहयमुत्सृज्य प्राङ० मुखः प्राद्रवद्भयात्।

(शल्य, २९; २६)

'एकः स पृथिवीपतिः'—पृथुवी का पति और अकेला, यह बहुत ही करुण कवि-निरीक्षण है। पृथिवीपति अपने को अकेला देखता है और अपने मृत अश्व को वहीं छाड़कर भय से आक्रान्त हो युद्धभूमि छोड़कर चला जाता है।

संजय के लिए एक कठिन क्षण आता है। वह बंदी है। धृष्टद्युम्न कहता है, 'इसे जीते रखने से क्या लाभ है ?' और सात्यकि उसे मारने

के लिए दौड़ता है तभी अचानक कहीं से महर्षि वेदव्यास आकर संजय को छोड़ देने की आज्ञा देते हैं। व्यास के कविकर्म की यह विशेषता है, वे जो महाकाव्य लिख रहे हैं उसमें स्वयं एक पात्र भी हैं, इस दृष्टि से कृष्ण द्वैपायन व्यास नामक पात्र महाभारत में देखने लायक है।

युद्ध शुरू होने से पहले 'किसी भी वीर को इस पक्ष से सामने के पक्ष में जाना हो तो' इस हेतु युधिष्ठिर ने आवाहन किया तब पाण्डव पक्ष से कोई भी कौरवपक्ष में नहीं गया, पर धृतराष्ट्र का दासी से पैदा हुआ पुत्र युयुत्सु कौरव पक्ष से पाण्डवपक्ष में चला आया था। कौरवों की सेना नष्ट हो गई, दुर्योधन भाग गया और अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा कहीं दिखाई नहीं पड़ रहे थे तब अरक्षित स्त्रियों को पहुँचाने वाले के रूपमें जाने की इच्छा इस युयुत्सु ने प्रगट की : कृष्ण और युधिष्ठिर ने इसके लिए सहमति प्रदान की। इस प्रसंग में विदुर और युयुत्सु की मुलाकात—दो मूल्य-चेतनावाले दासीपुत्रों की मुलाकात अवलोकनीय है। कुलाभिमान से छके धृतराष्ट्र के सौ पुत्र नष्ट हुए, तब मूल्यों की बाबत जाग्रत अकेला युयुत्सु बच सका था।

घायल दुर्योधन सरोवर में छुपकर माया से जल को बाँधकर बैठा है, यह खबर व्याध लोगों ने जाकर भीम को दी और भीम ने युधिष्ठिर को दी। युधिष्ठिर आदि जब सरोवर के तट पर आते हैं तब माया से स्तंभित जल को देखकर कहते हैं :' 'देवी माया का आश्रय लेकर जल में छिपे दुर्योधन को अब मनुष्यों का कोई भय नहीं है', तब कृष्ण कहते हैं :

> मायाविन इमां मायां मायया जहि भारत,
> मायावी मायया वध्यः सत्यमेतद् युधिष्ठिर।
>
> (शल्य, ३१; ६)

मायावी की इस माया का माया से ही नाश हो सकता है। माया का माया से वध करना यही सत्य है।

कृष्ण राजनीति और युद्धनीति में मायावी के साथ प्रामाणिक युद्ध नहीं चाहते। कृष्ण और बलराम के बीच युद्ध में छल की बाबत जो विवाद हुआ उसका मूल यही है। कृष्ण समग्र रूपसे परिस्थिति को देखते हैं। आदमी अन्याय करता है तब धर्म की ओर देखता भी नहीं है और अपने साथ अन्याय होता है तब धर्म या न्याय की बात करता है, यह कृष्ण को मंजूर नहीं था।

युधिष्ठिर आदि जब दुर्योधन को युद्ध के लिए ललकारते हैं तब दुर्योधन की जिजीविषा प्रगट हुए बिना नहीं रहती। एक ओर तो वह कहता है—

क्षीणरत्नां च पृथिवीं हतक्षत्रियपुंगवाम्,
नह्यु त्सहाम्यहं भोक्तुं विधवामिव योषितम्।

(शल्य, ३१; ४५)

जिसके रत्न क्षीण हो गये हैं, जहाँ क्षत्रियपुंगव मारे जा चुके हैं, ऐसी विधवा स्त्री के समान श्रीहीन पृथ्वी को भोगने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है।

पर दुर्योधन का यह वैराग्य सच्चा नहीं है, उसे अभी जीते रहना है। अस्तु वह युधिष्ठिरसे कहता है कि 'यह पृथ्वी आप भोगें। मैं तो वन में चला जाऊंगा।' युधिष्ठिर भी चकमे में आ जायं ऐसे नहीं हैं, वे स्पष्ट रूपसे कहते हैं:

त्वया दत्तां न चेच्छेयं पृथिवीमखिलामहम्,
त्वां तु युद्धे विनिर्जित्य भोक्तास्मि वसुधामिमाम्।

(शल्य, ३१; ५८)

तूं दे इस प्रकार–अर्थात् दान में यह सारी पृथ्वी मिले तो भी मुझे नहीं चाहिये, तुझे युद्ध में जीतकर मैं वसुधा का उपभोग करूँगा।

और युधिष्ठिर इसके बाद दुर्योधन के मर्म पर चोट करे ऐसी बात कहता है, 'तुझे पृथ्वी दे ही देनी थी तो हमारा न्यायपूर्ण हक माँगने कृष्ण सन्धि के लिए आये, तभी क्यों नहीं दे दी? आज न तो तेरे पास कोई धरती है जिसे तू दे सके, न बल है कि जिससे तूं पृथ्वी को बल-पूर्वक छीन सके।'

तथापि युधिष्ठिर क्रूरता की हदतक नहीं जाते। वे कहते हैं:

जीवितं तव दुष्प्रज्ञ मयि सम्प्रति वर्तते
जीवयेयमहं कामं न तु त्वं जीवितुं क्षमः।

(शल्य. ३१; ६९-७०)

तेरा जीवन मेरे हाथ में है, मैं चाहूँ तो तुझे जीवनदान दे सकता हूँ, स्वेच्छा से जीने का तुझे अधिकार नहीं है।

पर जीवन का दान मांगने का अधिकार भी दुर्योधन के पास शेष रहा है क्या? यह प्रश्न अत्यन्त सूचक, अत्यन्त महत्व का है। विष

प्रयोग से शुरू करके द्रौपदी चीरहरण तक के सभी प्रसंग युधिष्ठिर दुर्योधन को याद दिलाता है; अब दुर्योधन जीवनदान माँग सके इस स्थिति में नहीं है, उसका श्रेय तो अब युद्ध में ही है। 'युद्ध श्रेयो भविष्यति' ऐसा युधिष्ठिर कहते हैं।

दुर्योधन लड़ना चाहता है, कारण युद्ध में ही श्रेय है यह बात युधिष्ठिर ने उसके गले उतार दी है। वह अब दूसरी दलील पेश करता है। आप अनेक हैं और मैं एक। मेरे साथ एक-एक करके युद्ध करें। और दोबार वह जोर देकर कहता है—

न ह्ये` कः बहुभिर्न्याय्यौ वीरो योधयितुं युधि।

(शल्य, ३२, ५२)

एक के साथ अनेक वीरों का युद्ध करना यह न्यायसंगत नहीं है। युधिष्ठिर यह शर्त कबूल करता है। अनेक महारथियों ने मिलकर एक बालक अभिमन्यु को मार डाला तब न्याय का विचार क्यों नहीं आया? ऐसा प्रश्न पूछकर ही वह आगे बढ़ता है। इतना ही नहीं मन में विद्यमान द्यूतप्रियता का स्वभाव उन्हें यह कहने को प्रेरित करता है : वह कहते हैं 'हममें से जिसके साथ भी तुझे युद्ध करना हो उसके साथ तू युद्ध कर, उस भाई का तूं यदि वध करेगा तो राज पाट तेरा और अगर मारा गया तो स्वर्ग तेरा।' युधिष्ठिर की यह जुआड़ी दरख्वास्त का हाल द्यूत-सभा जैसा ही हुआ होता। परन्तु सौभाग्य से कृष्ण इस समय उपस्थित हैं। कृष्ण तुरत ही क्रोधान्वित होकर युधिष्ठिर से कहते हैं—

तदिदं द्यूतमारब्धं पुनरेव यथापुरा
विषमं शकुनेश्चैव तव चैव विशाम्पते।

(शल्य, ३३; ७-८)

इस समय आपने पहले की भाँति जुआ खेलना शुरु कर दिया है। प्रजानाथ, आपका यह जुआ शकुनि के जुए से भी अधिक विषम है।

दुर्योधन यदि युधिष्ठिर, अर्जुन या नकुल सहदेव का चयन करता है तो गदा युद्ध में वे दुर्योधन के सामने टिक नहीं सकते और भीम तथा दुर्योधन भी—

बलवान वा कृति वेति कृति राजन् विशिष्यते।

(शल्य ३३; ८)

भीम बलवान है : दुर्योधन कृति-अभ्यासी है। बलवान और अभ्यासी में अभ्यासी ऊपर होता है।

दुर्योधन के साथ न्यायपूर्वक युद्ध करे तो कोई जीत नहीं सकता। कृष्ण इतना क्रोधित हो उठे हैं कि महाभारत का सर्वाधिक कठोर वचन युधिष्ठिर से कहते हैं :

एकं वास्मान् निहत्य त्वं भव राजेति पुनः,
नूनं न राज्यभागेषा पाण्डो : कुन्त्याश्च संततिः,
अत्यन्तवनवासाय सृष्टा भैक्ष्याय वा पुनः।
(शल्य, ३३, १६-१७)

आपने (युधिष्ठिर ने) बारंबार कहा कि हममें से (पाण्डवों में से) किसी भी एक की हत्या करके तूं (दुर्योधन) पुनः राजा होजा। इस पर से तो लगता है कि पाण्डुराज और कुंती माता की संतानें राज्य-सुख भोगने की-अधिकारी ही नहीं हैं। विधाता ने उन्हें अनन्त काल तक वनवास भोगने के लिए या भिक्षा माँगकर वनवास भोगने के लिए या भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह करने के लिए ही पैदा किया था।

फिर कृष्ण युक्तिपूर्वक भीम को प्रोत्साहित करते हैं, इतना ही नहीं पर घृतराष्ट्र के सभी पुत्रों की गति ही दुर्योधन की भी होगी यह भी कहते हैं। साथ ही यह भी जोड़ते हैं, 'यह दुर्योधन है। इसमें केवल बल ही नहीं चलेगा, कल का भी प्रयोग करना पड़ेगा। पर तूँ अवश्य दुर्योधन की हत्या कर सकेगा और उसकी दोनों जाँघें तोड़कर अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर सकेगा।'

इसी बीच बलराम आ पहुँचते हैं। बलराम युद्ध में आरंभ से ही दुर्योधन के पक्ष में न्याय है ऐसा मानते रहे हैं, पर कृष्ण पाण्डव के पक्ष में थे अतः वे यात्रा करने निकल गये थे। कृतवर्मा दुर्योधन के पक्ष में गया, सात्यकि पाण्डवों के पक्ष में आया। तीर्थाटन पर गये बलराम मित्रावरुण के आश्रम में थे तब वहाँ पहुँचकर नारद उन्हें उकसाते हैं : 'आप अपने शिष्यों, दुर्योधन और भीम का गदायुद्ध देखने कुरुक्षेत्र जाइये'। और बलराम आ पहुँचते हैं।

बलराम की उपस्थिति भीम और दुर्योधन दोनों को छल से लड़ने से रोकने वाली है। बलराम आकर सबको समंतपंचक तीर्थ में ले जाते हैं : 'यहाँ युद्ध में मृत्यु पाने वाला निश्चित रूपसे स्वर्ग प्राप्त करता है', इस दृष्टि से। इन सब के साथ दुर्योधन भी पैदल चला तब अन्तरिक्ष के देवता भी 'साधु साधु' कहकर उसकी पूजा करने लगे।

दुर्योधन और भीम का युद्ध भी अवलोकनीय है। दोनों में से कोई भी एक दूसरे से छला नहीं जाता। इस समय अर्जुन कृष्ण से पूछता है 'इन दोनों में किस वीर में कौन-सा गुण है ?'

कृष्ण कहते हैं : 'दोनों को प्रशिक्षण तो एक जैसा ही मिला है परन्तु दोनों में बल में भीम चढ़कर है तो कल में दुर्योधन। अस्तु भीम धर्म से युद्ध करेगा तो कभी भी नहीं जीतेगा। उसे अन्याय से ही दुर्योधन का वध करना चाहिये।' और बलराम के आ जाने से कृष्ण द्वारा दिया गया निर्देश भीम भूल गया है ऐसा मानकर अर्जुन कहता है : 'भीम ने दुर्योधन की जाँघें तोड़ने की प्रतिज्ञा की थी वह तो उसे याद है न ?' युधिष्ठिर ने दुर्योधन के साथ लड़ने में जो मूर्खता पूर्ण आचरण किया है उसका रोष कृष्ण के मन से घटा नहीं है। किनारे लग रही नाव युधिष्ठिर डुबा दे ऐसा हुआ है। पर इस समय कृष्ण साथ हैं। वे कहते हैं :

धर्मराजापराधेन मयं नः पुनरागतम् ॥

(शल्य. ५८; १०)

धर्मराज की गलती से हम सब पर फिर एक बार भय आ पड़ा है।

अर्जुन के लिए इतना संकेत काफी है। उसने अपनी बाई जंघा पर ताल ठोंककर भीम को चेता दिया और यह संकेत समझकर भीम ने दुर्योधन की दोनों जाँघें गदाप्रहार से तोड़ डालीं। इतना ही नहीं, भीम ने धराशायी हो गये दुर्योधन को लात मारी तब तो अधर्म की पराकाष्ठा हो गई। बलराम तो अपना हल उठाकर भीम को मारने दौड़े। कृष्ण ने उन्हें रोका। भीम के वर्तन के पीछे जो औचित्य था वह उन्हें समझाया : महायुद्ध में गदा से दुर्योधन की जाँघ तोड़ने की भीम की प्रतिज्ञा थी, महर्षि मैत्रेय ने दुर्योधन को ऐसा शाप दिया था। अस्तु भीम ने तो जो कुछ विधि द्वारा नियत था वही किया है ऐसी बात कृष्ण कहते हैं।

पर बलराम को कृष्ण की यह धर्म-छल की बात अच्छी नहीं लगती। वे तो वहाँ जुटी संसद (मेदनी) में कहते हैं : धर्मात्मा सुयोधन को अधर्म से मारने वाला भीम हमेशा कपटयुद्ध करने वाले योद्धा के रूप में कुख्यात होगा, जबकि धर्मात्मा दुर्योधन ऋजुयोधि-

सरलता से लड़ने वाला था, उसे कपट से मार डाला गया, इससे दुर्योधन को सनातन सद्गति प्राप्त होगी।

३४. रथ-दहन

पाण्डवों का बचा-खुचा विजय-आनन्द या उत्साह बलराम के इन शब्दों से निर्मूल हो जाता है। हतोत्साह पाण्डव, पांचालगण और वृष्णिवंश वाले खड़े हैं, तब कृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं : 'भीम को अचेत दुर्योधन के मस्तक पर लात मारने से तो रोकिये।' तब युधिष्ठिर भीम का बचाव करते हैं और उस समय कृष्ण भी कहते हैं—कष्ट से (कृच्छाद्)। कृष्ण ये शब्द—भीम ने जो किया है उसके अनुमोदन के शब्द—कष्टपूर्वक, उनका अपना अन्तर इसमें प्रसन्न नहीं है ऐसे ढंग से कहते हैं :

कामम् अस्तु एतद्। (शल्य, ६०; ३९)

'चलिये, यही ठीक था' ऐसे कृष्ण मन को मनाते हैं।

अधर्म से दुर्योधन की हत्या हो तहाँ तक कृष्ण को विरोध नहीं था पर उसके बाद उसके मस्तक पर भीम पद प्रहार करें यह कृष्ण से सहन नहीं हो रहा था।

भीम अपनी विजय से प्रसन्न हैं। इससे पूर्व संजय ने 'अकेला वह पृथ्वीपति' ये शब्द दुर्योधन के लिए इस्तेमाल किये थे। अब यह पृथ्वीपति रण में धराशायी हुआ तब भीम कहता है :

यस्तु कर्तास्य वैरस्य निकृत्या निकृतिप्रियः
सोऽयं विनिहतः शेते पृथिव्यां पृथिवीपते।

(शल्य, ६०; ४४)

हे पृथ्वीपते (अब यह संबोधन युधिष्ठिर के लिए प्रयुक्त होता है) जिसे छल-कपट ही प्रिय था और जिसने कपट से इस वैर की नींव डाली थी वह दुर्योधन आज पृथ्वी पर गिरा पड़ा है।

पाण्डव, पांचाल आदि भीम की प्रशस्ति करते हैं तब कृष्ण कहते हैं : 'यह दुर्योधन न किसी का मित्र है, न शत्रु : यह तो काष्ठ के समान है। इस नराधम को अब कटुवचनों से बारम्बार मारने से

क्या लाभ है ? यह तो जब से अपने भाइयों से दूर हुआ तभी ही मर चुका था।'

कृष्ण के ये शब्द सुनकर दुर्योधन दोनों जाघें टूटी होने के बावजूद कमर के बल पर आधा ऊँचा उठा। पूँछ कटा सर्प आधे शरीर से जैसे उठ बैठता है उसी तरह दुर्योधन भी उठ बैठा और कृष्ण से कहा, 'मुझे तो अधर्म से मारा, कर्ण को अधर्म से मारा, द्रोण-भीष्म भी अधर्म से मारे गये।' वह कहता है और सत्य ही कहता है।

यदि मां चापि कर्णं च भीष्मद्रोणौ च संयुतौ,
ऋजुना प्रतियुध्येथा न ते स्याद विजयो ध्रुवम् ॥
(शल्य, ६१; ३७–३८)

यदि मेरे साथ, कर्ण के साथ, भीष्म-द्रोण के साथ ऋजु प्रतियुद्ध किया गया होता, (अर्थात् हम लड़ते थे उसी तरह लड़े होते) तो आपकी विजय नहीं ही होती यह निश्चित है।

कृष्ण भी यह जानते हैं। अभी-अभी थोड़ी देर पहले दुर्योधन-भीम के बीच घोर गदायुद्ध हो रहा था, तभी कृष्ण ने अर्जुन से कहा था: 'इस दुर्योधन को धर्मयुद्ध में जीत सकना सम्भव नहीं है, इसे तो अधर्म से ही मारा जा सकता है।'

साथ ही साथ कृष्ण यह भी जानते हैं: दुर्योधन युद्ध ही धर्म से करता है: पर जीवन अधर्म से ही जीता है। इसी से वे इस मौके पर फिर एक बार विषप्रयोग, लाक्षागृह से शुरू करके अभिमन्यु वध तक के दुर्योधन के अधर्मों को गिना जाते हैं और दुर्योधन के मुख्य अपराध क्या हैं यह गिनाते हुए कहते हैं:

वृहस्पतेरुशनसो नोपदेशः श्रुतस्त्वया।
(शल्य, ६१; ४८)

वृहस्पति तथा उशनस (शुक्राचार्य) के उपदेश तूने नहीं सुने हैं। आदमी के जीवन में एक दैवबल होता है: एक दानवबल: इन दोनों के प्रमुख अधिष्ठाता तो ऋषि ही हैं, देवताओं के गुरु वृहस्पति और दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य इन दोनों से आदमी को जीवन में मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिये। आदमी में दैव दानव दोनों का संयोजन हुआ है इसी से इन दोनों उपदेशों का श्रवण करना जरूरी है। इसके बाद—

वृद्धा नोपासिताश्चव

पुनः तूने वृद्धों की उपासना नहीं की है। उप-आसनः वृद्ध के पास में बैठना, यह भी एक तप है।

हित वाक्यं न ते श्रुतम् (शल्य, ६१; ४९)

तूने वृद्धों की उपासना नहीं की, इस कारण उन्होंने जो हित वाक्य कहे, वह भी तूने नहीं सुने।

दुर्योधन के अन्य सभी अधर्मों के मूल में यह एक श्लोक है।

इसके जवाब में दुर्योधन का उत्तर भी खमीरभरा है। वह कैसा ही जीवन क्यों न जिया हो, पर अन्त समय धर्म से लड़ा और बलराम जैसे वीर के मुख से धर्मात्मा का बिरुद प्राप्त किया और सद्गति प्राप्त होगी यह आशीर्वाद भी पाया। वह कहता है—

को नु स्वन्ततरो मया (शल्य, ६१; ५१)

लगातार तीन श्लोक इस चरण से अन्त होते हैं। मेरे जैसी अच्छी मृत्यु किसे मिली है? भीम ने मेरे ऊपर पैर रखा इसका मुझे रंज नहीं है। एकाध क्षण के बाद कौवे और गिद्ध भी इस देह को नोचेंगे।

मृत्यु के विषय में दुर्योधन का अभिगम वीर को शोभा दे ऐसा है। वह खुमारी से कहता है: 'मैं तो चला स्वर्ग में, आपलोग जीवन-भर शोकपूर्ण जीवन जीते रहें।'

ससुहृत् सानुगश्चैव स्वर्गंगन्ताहमच्युत,
यूयं विहत संकल्पाः शोचन्तो वर्तयिष्यथ।

(शल्य, ६१; ५३–५४)

हे अच्युत, अपने सुहृद और अनुचरों के साथ मैं तो स्वर्ग-लोक चला, आप निहत संकल्प-भग्न-मनोरथ होकर यह शोकपूर्ण जीवन बितायें।

दुर्योधन ने जीवन में हमेशा ऐश्वर्य भोगा, युद्ध के अठारह दिन बाद कहें तो हमेशा उसका हाथ ही ऊँचा रहा और अब मृत्यु भी वीरगति पूर्ण मिली। उसकी हत्या करने वाले भीम के कृत्य को कृष्ण ने भी कष्ट से गले उतारा।

'मैं तो स्वर्ग में चला, आप लोग जीवनभर शोकपूर्ण जीवन जीते रहें।' ऐसा यह सम्बोधन अद्भुत है। यह संबोधन मिथ्या भी नहीं

है। दुर्योधन की मृत्यु को गन्धर्वों, सिद्धों, अप्सराओं आदि ने सुगंधित पुष्पों और मीठे संगीत से स्वागत किया था। दुर्योधन की यह गर्वभरी वाणी और इस वाणी को यथार्थ सिद्ध करती गन्धर्वों, सिद्धों और अप्सराओं द्वारा मिली पुष्टि : संजय कहता है :

अत्यद्भुतानि ते दृष्ट्वा वासुदेव पुरोगमाः
दुर्योधनस्य पूजां तु दृष्ट्वा व्रीडामुपागमन् ।

(शल्य, ६१; ५८)

वासुदेव आदि सभी लोग यह अद्भुत दृश्य देखकर तथा दुर्योधन की पूजा देखकर व्रीडा-लज्जा नत हुए।

कृष्ण इन सबको शोक में से उबारते हैं। यह विजय का दिन है : अतः सब छावनी पर—दुर्योधन की छावनी पर जाते हैं। इस छावनी में दुर्योधन के सेवक उनका स्वागत करते हैं। सभी पाण्डव रथ पर से उतरते हैं। तब कृष्ण अर्जुन से कहते हैं : 'तू अपने गांडीव और अक्षय तरकश के साथ नीचे उतर जा। तब मैं उतरूँगा।' अपने इस कथन की बाबत अर्जुन कोई विवाद न उठाये इस हेतु कृष्ण कहते हैं : 'ऐसा करने में ही तेरा श्रेय है।' अर्जुन ने ऐसा ही किया इसके बाद सभी भूतों के नाथ श्री कृष्ण नीचे उतरे तब अर्जुन की ध्वजा के रूप में रहने वाला दिव्य बंदर रथ पर से अन्तर्ध्यान हो गया और—

स दग्धोद्रोण कर्णाभ्यां, दिव्यैरस्त्रैर्महारथः
अथादीप्तोऽग्निना ह्याशु प्रज्ज्वाल महीपते ।

(शल्य, ६२; १३)

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं : हे महीपति, इसके बाद अर्जुन का वह महारथ जो द्रोण कर्ण के दिव्यास्त्रों द्वारा दग्धप्राय हो गया था तत्काल ही भभककर जलने लगा।

रथ, उपसांग, रश्मि (डोरी), अश्व, बन्धुरकाष्ठ यह सब कुछ भस्मीभूत हो गया।

अर्जुन को यह रहस्यमय प्रतीत हुआ। उसने कृष्ण से कहा कि आप यह रहस्य समझायें। तब कृष्ण कहते हैं :

इदानीं तु विशीर्णोऽयं दग्धो ब्रह्मास्त्रतेजसा
मया विमुक्तः कौन्तेय त्वय्यद्य कृतकर्मणि ।

(शल्य, ६२; १९)

कौन्तेय तेरा काम पूरा हुआ अतः ब्रह्मास्त्र के तेज से कब का जल गया यह रथ मेरे छोड़ देने पर छिन्न-विच्छिन्न होकर पड़ा है।

यह रथ द्रोण कर्ण के बाणों से सुलग ही गया था। भीष्म इन दोनों की अपेक्षा दिव्य शस्त्रों की अधिक जानकारी रखते थे। पर भीष्म ने उनका उपयोग नहीं किया था। भीष्म का पराक्रम ही उन्हें अजेय सिद्ध करने हेतु पर्याप्त था। भीष्म के सम्मुख आकर दुर्योधन मनमानी टीका करने की हिम्मत करता तो भीष्म उसे तुरन्त जवाब दे सकते थे। पर दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने प्रयोग वर्जित दिव्य शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया था। द्रोण तथा कर्ण ने इस ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था। इससे पहले संजय द्वारा किये गये युद्ध वर्णन में अर्जुन ने इन शस्त्रों का प्रतिकार किया ऐसा हमने समझा था। पर संजय की दिव्य दृष्टि भी जहाँ नहीं पहुँच सकी, उस कृष्ण के दिव्य प्रताप से ही ब्रह्मास्त्र से अर्जुन, उसका रथ और घोड़े, रथ के पहिये, रथ की धुरी-सभी कुछ बच गया था।

कृष्ण जब तक रथ पर थे अर्जुन के रथ को कुछ न हुआ। जहाँ कृष्ण रथ से उतरे कि तत्काल रथ सुलग उठा। इसी से कृष्ण ने अर्जुन से पहले रथ से नीचे उतरने को कहा, रोज पहले या प्रथम जो चाहे उतरता था तो भी रथ को क्यों कुछ नहीं हुआ? और आज ऐसा क्यों हुआ? इसका स्पष्टीकरण कृष्ण करते हैं: 'अब मैंने तेरा इष्ट कार्य पूरा किया है अस्तु इस रथ को अपने से विमुक्त करता हूँ—छोड़ देता हूँ।' कृष्ण ने अब तक रथ को विमुक्त नहीं किया था, अतः कृष्ण स्थूल रूप से रथ पर से उतरते थे पर उनका भावरूप रथारूढ़ ही रहता था। अब कृष्ण ने रथ को त्याग दिया है। कृष्ण जिसे तज दें उसकी रक्षा किस प्रकार हो सकती है? ऐसे रथ की तो भस्म होने पर ही मुक्ति हो सकती है।

इस घटना की हमारे देहरूपी रथ पर कृष्ण के वास के साथ तुलना कर सकते हैं, पहले एक-एक करके सब कुछ जाता है, फिर अन्त में चैतन्य जाता है। चैतन्य देह को त्याग दे तो फिर उस रथ को जलकर भस्म होने पर ही छुटकारा मिलेगा। कृष्ण विहीन पार्थ का रथ कभी भी बचा नहीं रह सकता। पार्थ के अर्थ हैं पृथा का-

पृथ्वी का पुत्र। इस धरती की किसी भी संतान का रथ कृष्ण विहीन नहीं हो सकता। कृष्ण रथ छोड़ दें तो रथ सुलग उठेगा।

जीवन में अनेक बार 'कृष्ण कहीं नहीं हैं' ऐसी वेदना हम अनुभव करते हैं। तब देह का रथ भले न सुलगता हो पर अन्तर की संवेदना तो भभककर जलती ही है। केवल कृष्ण पूर्णतः त्याग दें—तात्पर्य यह कि उनका चैतन्य स्वरूप हमें छोड़ दे तब देह शववत् हो जाती है।

अस्तु कृष्ण त्याग दें इसकी दो स्थितियाँ हो सकती हैं : एक मन की और दूसरी तन की। अर्जुन तथा अन्य पाण्डवों के सामने कृष्ण ने यह चमत्कार क्यों दिखाया ? अभी एक पल पहले तो बलराम ने दुर्योधन को धर्मात्मा कहा था और भीम को कपटी गिनाया था। दुर्योधन ने कृष्ण द्वारा किये गये छलों की सूची प्रस्तुत की थी। इन सबके समक्ष कृष्ण अपनी नहीं, बल्कि उन्होंने धर्म की संस्थापना के लिए जो छल किया उस धर्म की महिमा स्थापित करना चाहते हैं। कृष्ण ने यदि यह सब धर्म के लिए न किया होता तो यह छल ही होता। परन्तु जैसे जहर-जहर को मारता है वैसे छल द्वारा बड़े छल का अनावरण किया गया।

पर कोई मनुष्य छल का प्रतिकार छल से करे और अपने कार्य के लिए कृष्ण का हवाला दे तो ? यह बात कृष्ण की नजर से ओट नहीं है, इसी से उन्होंने इस घटना द्वारा अपना दिव्यत्व प्रगट किया। कृष्ण ने छल किया था पर धर्म के वास्ते और धर्म के लिए उन्होंने जो कुछ किया उसका प्रताप और प्रभाव इतना बड़ा था कि वे रथ पर थे तब तक सभी कुछ सुरक्षित था। वे धर्म-संस्थापना करने के लिए और दुष्कृत्यों का विनाश करने के लिए प्रगट हुए थे। जैसे ही यह कार्य पूरा हुआ, 'कृत कर्मणी' होने की प्रतीति कृष्ण ने अनुभव की वैसे ही उन्होंने रथ को छोड़ दिया। धर्म का एक अर्थ धारण करनेवाला बल भी होता है और कृष्ण इस रथ को धारण करनेवाले धर्म थे। इस रथदहन प्रसंग में हमें इस धर्म का ही साक्षात्कार होता है।

३५. गान्धारी का रोष

कृष्ण ने अपने यश का नहीं पर धर्म का ध्यान रखा है और इसी

से धर्म के रक्षक पाण्डवोंका भी ध्यान रक्खा है। अर्जुन के रथ पर कृष्ण न होते तो वह रथ अक्षत रहा ही न होता। इसी प्रकार पाण्डवों पर छायी बदली दुर्योधन की हत्या से दूर नहीं हुई है और कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा अभी जीबित हैं, यह बात कृष्ण अच्छी तरह जानते हैं। अश्वत्थामा के मन में उठते संकल्प विकल्प भी कृष्ण की कल्पना में आ गये होंगे इसी से कृष्ण सूचित करते हैं--

अस्माभिर्मंगलार्थाय वस्तव्यं शिविराद् बहिः
(शल्य, ६२; ३७)

अपने मंगल के लिए आज की रात हमें शिविर से बाहर रहना चाहिये।

शिविर में कुछ अमंगल होने वाला है इसका संकेत कृष्ण को तो मिल गया है, पर पाण्डव उसे नहीं जान सकते। जो नियति है वह पलटी नहीं जा सकती। ऐसी अवस्था में पाण्डव शिविर से बाहर रहें और महान अमंगल से बच जायं ऐसा योग श्री कृष्ण रचते हैं। पाण्डव कृष्ण की बात मानने के लिए इस हद तक आदी हो गये हैं कि वे 'किस लिए' ऐसा प्रश्न भी नहीं पूछते।

अब युधिष्ठिर को एक और विचार आता है। यह घोर संहार का पर्व समाप्त हुआ। इसमें धृतराष्ट्र और गान्धारी की सौ की सौ संतति मारी गई। धृतराष्ट्र तो इस संहार में निमित्त हैं पर गान्धारी चरम-शुद्ध तपस्विनी है। यदि वह कुपित हो जाय तो तीनों लोकों को भस्म कर सकती है। गांधारी की मानस-अग्नि प्रदीप्त हो उससे पहले ही उसे शांत कर देना चाहिये। अभी गान्धारी तक पूरी बात नहीं पहुँची है। अभी गान्धारी प्राथमिक आघात में से बाहर नहीं आई है, इस बीच कृष्ण जाकर उसकी मानस-अग्नि को शान्त कर सकें तो ही पाण्डव चैन से रह सकते हैं। भीष्म का पराक्रम, द्रोणकर्ण के दिव्य शस्त्र या दुर्योधन का बैर जो चमत्कार न कर सका वह चमत्कार गान्धारी का क्रोध कर सकने में सक्षम है। सत्यनिष्ठ जीवन जीने वाले का एक निःश्वास अग्नि पैदा कर सकता है इसका आभास इस परि-स्थिति में मिल जाता है। गांधारी की मानस अग्नि की बाबत युधिष्ठिर यथार्थतः चिंतित हैं। गांधारी ने भाइयों की लड़ाई में हमेशा पाण्डवों का पक्ष लिया था। दुर्योधन को वह हमेशा दुर्मति त्यागकर सुमति के

रास्ते पर चलने को प्रेरित करती रहती थी। इसी से युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र का नहीं, गांधारीका भय अधिक है।

कृष्ण हस्तिनापुर जाते हैं। वे संतप्त माता-पिता से मिलते हैं। पिता से मिलने की बात तो आसान है। धृतराष्ट्र तो इस संहार के मूल में हैं। उन्होंने यदि कृष्ण का सन्धि प्रस्ताव स्वीकार कर लिया होता तो सर्वनाश नहीं हुआ होता। इसी से तो कृष्ण धृतराष्ट्र से कह सकते हैं--

तवापराधान्नृपते सर्वं क्षत्रं क्षयं गतम्।

(शल्य, ६३; ४५)

हे राजन, आपके अपराध के कारण ही तमाम क्षत्रियों का क्षय हुआ है।

धृतराष्ट्र से तो यह सब आपके अपराध के कारण ही हुआ, ऐसा कृष्ण कह सकते हैं, पर गांधारीके साथ बात करते समय कृष्ण एक-एक शब्द सोचविचार कर बोलते हैं। वे प्रारंभ करते हैं :

सौबलेयि निबोध त्वं यत् त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु।
त्वत्समा नास्ति लोकेऽस्मिन्नद्य सीमन्तिनीशुभे॥

(शल्य, ६३; ५९-६०)

हे सुबलपुत्री, तुझसे मैं जो कुछ कहता हूँ उसे तूं ध्यान से सुन और समझ। हे शुभे, इस संसार में तुझ जैसी सीमन्तिनी-तपोवल सम्पन्न दूसरी कोई स्त्री नहीं है।

फिर गांधारी को तत्काल उसने स्वयं जो भविष्यवाणी की थी, उसकी याद दिलाते हैं। गांधारी ने कहा था : 'यतो धर्मस्ततो जयः' (जहाँ धर्म है वहीं जय है)। गांधारी ने स्वयं जो भविष्यवाणी की थी, वही खरी उतरी है। गांधारी को कृष्ण इस बात का भी ध्यान दिलाते हैं कि आप तपस्या के बल से समस्त पृथ्वी का नाश कर सकने में समर्थ हैं। तो भी :

पाण्डवानां विनाशाय मा ते बुद्धिः कदाचन।

(शल्य, ६३; ६४)

पाण्डवों के विनाश के लिए आपकी बुद्धि प्रवृत्त न होवे।

कृष्ण गांधारी से वरदान माँग लेते हैं। यह माँगते समय कृष्ण जानते हैं कि जब गांधारी को समझ में आयेगा कि उसने क्या दे दिया

है तब उसका समूचा रोष उन पर (कृष्ण पर) बरस पड़ेगा। पर कृष्ण पाण्डवों का श्रेय चाहते हैं, अपना नहीं।

गांधारी धधक रही थी पर वह कृष्ण से कहती है : आपकी बात सुनकर मेरी संचलित मति व्यवस्थित हुई है।

कृष्ण अपना काम पूरा होते ही तुरत वापस लौटने की जल्दी करते हैं। जल्दबाजी का कारण वे छिपाते नहीं। वे कहते हैं : अश्वत्थामा ने रात में सोये पाण्डवों का वध करने का निर्णय किया है, अस्तु मैं सहसा जा रहा हूँ (सहसोत्थितः)।

यहाँ कृष्ण अपना ऐश्वर्य प्रगट करते हैं। अश्वत्थामा के मन में जिस क्षण यह विचार आता है उसी क्षण उलूक अपने शत्रु कौवे के परिवार को रात में खत्म करता है तब कृष्ण वहाँ नहीं हैं। पर अपने ऐश्वर्य से वे इस परिस्थिति को जान सके हैं। और गांधारी सहित धृतराष्ट्र कहते हैं : 'पाण्डवान् परिपालय' (पाण्डवों की रक्षा करें)। आप शीघ्र जायें।

कृष्ण वापस आये। पाण्डवों से मिले, जो घटित हुआ वह उन्हें बताया और उनके साथ सावधान होकर रहे (सहितस्तै समाहितः)। अश्वत्थामा को पाण्डव कहाँ हैं इसकी गंध भी न लगे इस बाबत यह सावधानी थी।

कृष्ण ने पाण्डवों का कितना ख्याल रखा इसका आभास यहाँ सर्वाधिक होता है। अर्जुन के रथ-दहन के प्रसंग से शुरु करके गांधारी के दाह-शमन तक का काम कृष्ण करते हैं। इसके साथ ही द्रोण का पुत्र अपने पिता की और दुर्योधन की मृत्यु का बदला लेने के लिए कोई भी खेल कर सकता है ऐसी गन्ध भी कृष्ण को मिल जाती है। अस्तु गांधारी से 'अपनी मानस-अग्नि वे पाण्डवों की ओर नहीं मोड़ेंगी' इसका वचन माँग लेने के बाद कृष्ण तुरत ही पाण्डवों के पास आते हैं। शिविर से बाहर रहने के लिए उन्हें समझाते हैं और वे उन्हीं के साथ रहते हैं।

३६. अश्वत्थामा-कृपाचार्य और कृतवर्मा

व्यास प्रत्येक पात्र को उसके पूरे गौरव के साथ उभारते हैं।

दुर्योधन घायल और व्यथित पड़ा है तब शोक में डूबे अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा से कहता है—

मन्यमानः प्रभावं च कृष्ण स्यामिततेजसः,
तेन न च्यावितश्चाहं क्षत्रधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

(शल्य, ६५; २१)

मैं अमित तेजवाले कृष्ण के प्रभाव को जानता हूँ। उनकी प्रेरणा से उन्होंने मुझे ठीक से आचरित क्षात्रधर्म से च्युत नहीं होने दिया है।

दुर्योधन क्षात्रधर्म, युद्धधर्म में कहीं भी चूका नहीं है। कृष्ण ने दुर्योधन के तमाम अधर्म के बीच उसके अन्दर के क्षात्रधर्म को जीवित रखा। नहीं तो भीम की भाँति उसने भी कपटयुद्ध किया होता तो भीम उबर न पाता। उसका क्षात्रधर्म अखंडित रहा और मृत्यु इस क्षात्रधर्म की पराकाष्ठा के रूप में आयी इसकी प्रसन्नता तो दुर्योधन को है ही : पर तदर्थ श्रेय कृष्ण को देने की समझ भी अंतिम घड़ी में दुर्योधन में प्रगट होती है।

तथापि दुर्योधन का बैर ठण्डा नहीं हुआ है। ज्यों ही अश्वत्थामा पाण्डव पुत्रों और पांचालों की हत्या का संकल्प करता है, वह तुरत कृपाचार्य को उसका सेनापति के रूप में अभिषेक करने की आज्ञा देता है। तीन ही लोग बचे हैं। इनमें भी 'सेनापति' ! पर यह अब 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' एकत्र हुए लोगों के बीच का युद्ध नहीं है, यह तो बैर का युद्ध है, बैर में सेनापति होने वाले को सेना की जरूरत नहीं होती !

इस बैर युद्ध में केवल कृप, कृतवर्मा और द्रौणि-अश्वत्थामा ही नहीं हैं, धृतराष्ट्र भी साथ ही हैं। ऐसे भयानक संहार के बाद भी 'किमकुर्वत संजय' की पृच्छा जाती नहीं है। अश्वत्थामा के संकल्प की बात संजय के मुख से सुनने के बाद धृतराष्ट्र के मन में आशा का संचार होता है। अठारहवीं रात शायद अश्वत्थामा चमत्कार करे ऐसा वह मानते हैं।

अब संजय एक सूचक प्रसंग कहता है।

आगे युद्ध में घोर संग्राम के बीच भी तीर की बाड़ बना कर अर्जुन तथा कृष्ण ने अश्वों को जल पिलाया था और अश्वों को लगे तीरों को निकाल कर मरहमपट्टी की थी। पशु पक्षी के वर्तन से मानवी प्रेरणा भी ली जा सकती है और पाशवी प्रेरणा भी ली जा सकती है।

अश्वत्थामा आदि एक वटवृक्ष के नीचे बैठे। 'दुखशोक समन्विताः' जैसे कृप और कृतवर्मा 'सुख शय्या के योग्य होते हुए भी धरती पर सो गये' यह देखकर अश्वत्थामा की व्यथा का पार न रहा।

बैर निद्रा का शत्रु है। अश्वत्थामा बैर से भरा था और उसमें दुर्योधन ने सेनापति पद का गर्व भर दिया—वह खुली आँखों रात बिता रहा था। वट-वृक्ष पर कौवे अलग-अलग खण्डों में सोये थे। 'सुख स्वपन्ति' अर्थात कि सुख से सोये थे। इतने में 'उलूकं घोरदर्शनम्' घोर-दर्शनवाला उलूक वहाँ आया। चुपचाप आकर यह उल्लू सुख निद्रा में सोये कौओं में से एक क्षण में जो भी हाथ में आये उन सबको, किसी की गर्दन मरोड़ी, किसी के अवयव मरोड़े या किसी के पैर तोड़कर मारने लगा। इन कौवों के शरीर और शरीर के अवयवों से वट-वृक्ष के नीचे की जमीन ढंक गई। यह दृश्य बैरभाव से सुलगते अश्वत्थामा ने देखा और विचार किया :

उपदेशः कृतोऽनेन पक्षिणा मम संयुगे।
शत्रूणां क्षपणे युक्तः प्राप्तःकालश्च मे मतः॥

(सौप्तिक, १; ४५-४६)

इस पक्षी ने युद्ध में मुझे क्या करना चाहिये इसका उपदेश किया है। अस्तु अब शत्रुओं का संहार करने का समय आ गया है।

कृष्ण और अर्जुन ने जब अश्वों की व्यथा देखी तब उन्हें घोर संग्राम से बीच उनकी चिकित्सा करने का मन हुआ, पर अश्वत्थामा का इस क्षण बैर स्थायी भाव था, वह सुख निद्रा में सोये कौवों पर की विपत्ति या उनका दुख न देख सका। पर 'घोरदर्शन' उलूक का बैर ही उसके मन में उतर गया। उसके विजय के बाद की सुखनिद्रा में सोये पाण्डवों पर झपटते उलूक के रूप में अपनी कल्पना की और यह विचार मन में जाग्रत होते ही उसने कृपाचार्य और कृतवर्मा को जगाया। कृप और कृतवर्मा का प्रथम प्रतिभाव तो लज्जा का था। अश्वत्थामा का ऐसा संकल्प सुनकर दोनों लज्जा में डूब गये। अश्वत्थामा के बैर को भी कवि मानवीय रंग में उभारते हैं। अश्वत्थामा पाण्डवों द्वारा किये गये अधर्मों की सूची गिनाता है। अश्वत्थामा के अन्तर पर गहरा घाव दो घटनाओं से लगा है। अपने पिता की कपट से की गई धृष्टद्युम्न द्वारा सम्पन्न पिता की मृत्यु तथा दुर्योधन को

कपट से मारने के बाद उसके मस्तक पर भीम द्वारा मारी गई लात।
अतः अपना निश्चय व्यक्त करने के बाद अश्वत्थामा कृप और कृतवर्मा से पूछता है—

भवतोस्तु यदि प्रज्ञा न मोहादपनीयते,
व्यापन्नेऽस्मिन् महत्यर्थे यन्नः श्रेयस्तदुच्यताम्।
(सौप्तिक, १; ६९)

अश्वत्थामा के मन में अपना उत्तर तैयार है अतः वह अपने दोनों साथियों से पूछता है यदि आपकी प्रज्ञा मोह से नष्ट न हुई हो तो इस महान संकट की घड़ी में बिगड़ा काम सुधारने हेतु हमें क्या करना उचित होगा यह बतायें, यहाँ यदि कृप या कृतवर्मा कोई भी प्रतिकूल उत्तर दें तो उनकी बुद्धि नष्ट हो गई है ऐसा ही अर्थ अश्वत्थामा के मन में आयेगा, ऐसा है।

तिस पर भी कृपाचार्य जो उत्तर देते हैं वह सौप्तिक पर्व-सोये हुओं का (संहार का) पर्व-के दूसरे अध्याय में आता है। यह उत्तर प्रज्ञा और धर्म दोनों से युक्त है। वह दैव और पुरुषार्थ के सनातन युग्म की बात कहते हैं: दैव पुरुषार्थ बिना संभावित नहीं हो सकता और दैव-विहीन पुरुषार्थ व्यर्थ है। यह बात समझाते हुए कृप मानव जीवन का एक परम सत्य उद्‌घाटित करते हैं:

उत्थानं चाप्यदैवस्य ह्यनुत्थानं च दैवतम्,
व्यर्थं भवात सर्वत्र पूर्वस्तत्र विनिश्चयः।
(सौप्तिक, २; ६)

दैवरहित पुरुष का पुरुषार्थ व्यर्थ है। और पुरुषार्थ शून्य दैव भी व्यर्थ है। यह दो बातें निश्चित हैं–दैव और पुरुषार्थ। इसमें पहली बात सिद्धान्तभूत और श्रेष्ठ है। दैव का साथ न हो तो पुरुषार्थ व्यर्थ ही सिद्ध होता है।

दैव पाण्डवों के पक्ष में हैं, इसी से तो कौरवों का सारा पुरुषार्थ व्यर्थ गया यह बात कृपाचार्य यहाँ समझाते हैं। इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि दैव की कृपा है यह मानकर पुरुषार्थ न करें यह भी उचित नहीं। पुरुषार्थ करें पर दैव की कृपा न हो तो यह पुरुषार्थ निरर्थक है। इन संयोगों में हमने पापी दुर्योधन का अनुसरण किया और हमें यह दुख भोगना पड़ा। अस्तु अब हम पुरुषार्थ तो करें पर

वह कैसे करना चाहिये इसके लिए धृतराष्ट्र, गांधारी और विदुर इन तीनों की सलाह लेलें ।

कृपाचार्य के इस समझावन के उत्तर में अश्वत्थामा तीसरे अध्याय में जो उत्तर देता है वह भी आधुनिक मनोवैज्ञानिकों को चकित कर दे ऐसा है।

अश्वत्थामा एक परमसत्य कहता है । प्रत्येक व्यक्ति अपने को ही सयाना मानता है :

पुरुषे पुरुषे बुद्धिर्या या भवति शोभना,
तुष्यन्ति च पृथक् सर्वे प्रज्ञया ते स्वया स्वया ।

(सौप्तिक, ३; ३)

पुरुष पुरुष में अलग बुद्धि होती है, हरेक को अपनी बुद्धि सुन्दर लगती है। अपनी अपनी बुद्धि से ये सब लोग अलग-अलग सन्तुष्ट रहते हैं ।

पुनः यह बुद्धि प्रत्येक मनुष्य कीं तो अलग होती ही है, पर जीवन के अलग अलग अवसरों पर एक ही व्यक्ति की बुद्धि भी अलग होती है।

अन्यया यौवने मर्त्यो बुद्धया भवति मोहितः
मध्येऽन्यया जरायां तु सोऽन्यां रोचयते मतिम् ।

(सौप्तिक, ३; ११)

यौवन में मनुष्य किसी अन्य मति से मोहित होते हैं, मध्य वय में अलग ही बुद्धि होती है, वृद्धावस्था में पुनः अलग ही बुद्धि रोचक लगती है ।

प्रत्येक मनुष्य अपनी ही बुद्धि के आसपास खेलता है । अश्वत्थामा इसी से धृतराष्ट्र, गांधारी या विदुर की मति के अनुसार आचरण करने के बदले अपनी मति के निर्देश पर रात में सोये हों तभी पांचालों का नाश करना चाहता है।

कृपाचार्य उसकी इस बुद्धि से चौंकते हैं । वे अश्वत्थामा को, उसके क्रोध को जानते हैं। इस क्रोध से भरे अश्वत्थामा को वज्रधारी इन्द्र भी रोक नहीं सकते । परन्तु कृपाचार्य अश्वत्थामा को शांत करने की चेष्टा करते हैं। वे अश्वत्थामा की प्रशंसा करते हैं, उसके दिव्य अस्त्रों की प्रशस्ति करते हैं और कहते हैं, आज की रात आराम कर । कल सबेरे हम लोग सब के साथ युद्ध करेंगे और पांचालों का संहार करेंगे ।

कृप बारंबार निद्रा का नाम लेते हैं इस पर द्रौणि-अश्वत्थामा उबलकर कहता है :

आतुरस्य कुतोनिद्रा ।

(सौप्तिक, ४; २२)

आतुर को निद्रा कैसी ? शोकातुर आदमी को नींद कैसी ?

अश्वत्थामा को पिता का वध याद आता है । वह कहता है : मेरा मन वैर चुकाने को एकाग्र है । और—

एकाग्रमनसो मेऽद्य कुतो निद्रा कुतः सुखम्

(सौप्तिक, ४; ३०)

एकाग्र आदमी को कैसी निद्रा, कैसा सुख ? वह तो जब तक काम पूरा न हो तब तक अश्वत्थामा सो ही नहीं सकता । कृप दिन में लड़ने की सलाह देता है पर अश्वत्थामा जानता है कि दिन में वह पांचालों या पाण्डवों को नहीं मार सकेगा, कारण यह कि—

वासुदेवार्जुनाभ्यां च तानहं परिरक्षितान ।
अविषह्यतमान् मन्ये महेन्द्रेणापि सत्तम ।।

(सौप्तिक, ४; ३१)

वासुदेव और अर्जुन जब पाण्डव और पांचालों की रक्षा करते हों तब महेन्द्र—देवराज इन्द्र भी उन्हें नहीं जीत सकते । कृप की दिन में लड़ने की सलाह इसी से अश्वत्थामा के गले नहीं उतरती । वह तो रात में ही संहार करने का निश्चय करता है ।

कृपाचार्य कहते हैं : सोये हुए का, शस्त्र रखकर बैठा हो उसका, रथ को घोड़ों से अलग किया हो उसका, 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहे उसका, शरणागत का, जिसके बाल खुले हों या जिसका वाहन नष्ट हो गया हो उसका वध नहीं करना चाहिये । यह अधर्म है ।

अश्वत्थामा तुरत ही उछलकर कहता है—

तैस्तु पूर्वमयं सेतुः शतधा विदलीकृतः

(सौप्तिक, ५; १८)

इस धर्म के तो पाण्डवों ने पहले ही सौ टुकड़े कर डाले हैं ।

द्रोण को धृष्टद्युम्न ने मारा तब वे न्यस्तशस्त्र—शस्त्रविहीन थे ।

कर्ण को अर्जुन ने मारा तब कर्ण का वाहन नष्ट हो गया था ।

भीष्म ने हथियार नीचे रख दिये तब शिखण्डी को आगे रखकर अर्जुन ने भीष्म का वध किया ।

भूरिश्रवा अनशन व्रत लेकर रणभूमि में बैठ गया तब सबके रोकने के बावजूद सात्यकि ने उसका सिर काट लिया।

भीम ने सबकी नजरों के सामने दुर्योधन को कपट से मारा।

अश्वत्थामा की बात सच्ची है। महाभारत में धर्म-अधर्म का एक पूरा मीमांसाग्रंथ लिखा जा सकता है। अपने को क्षात्रधर्म से च्युत न होने देने के लिए कृष्ण की प्रशस्ति करनेवाला दुर्योधन इस ग्रन्थ में दुरात्मन् और अधर्मी के रूप में पहिचाना जाता है। अश्वत्थामा इस समय की परिस्थितियों में अपने मन में आवे उसी अर्थ को उत्तम मानता है और कहता है :

त्वरे चाङ्मनेनाद्य यदिदं मे चिकीर्षितम्,
तस्य मे त्वरमाणस्य कुतो निद्रा कुतः सुखम्।

(सौप्तिक, ५; २८)

इस सयय तो मैं जो करना चाहता हूँ उसे करने के लिए उतावला हो रहा हूँ। इस हड़बड़ी में मुझे निद्रा कैसी और सुख कैसा ?

और वह रथ तैयार करके बैठा और कृप तथा कृतवर्मा से कहा, आप बाहर चौकीदारी करें और वह स्वयं सोये पाण्डव-पांचालों के शिविर के 'द्वार-देश' में, दरवाजे पर जाकर खड़ा हो गया।

३७. अश्वत्थामा का पराक्रम

अश्वत्थामा पांडव-पांचालों के शिविरों के 'द्वारदेश' पर पहुँचा, तब उसे लगा था कि उसका कार्य उस उलूक जैसा ही सरल होगा। पर कार्य इतना आसान नहीं था : शिविर के द्वार पर पाण्डव पांचालों की रक्षा के लिए अश्वत्थामा ने कोई एक अद्भुत पुरुष देखा। इस पुरुष का वर्णन ही भयानक है : पर्वत भी भय के मारे विदीर्ण हो जाय ऐसे इस अद्भुत पुरुष के वर्णन में शिव की खनक सतत् सुनाई पड़ती रहती है।

जान की बाजी लगा देने वाला आदमी भय जैसे किसी पदार्थ को नहीं मानता। इसी से—

तदत्यद्भुतमालोक्य भूतं लोकभयंकरम्।
द्रौणिरव्यथितो दिव्यैरस्त्रवर्षैरवाकिरत्॥

(सौप्तिक, ६; १०)

सम्पूर्ण जगत् को भयभीत करने वाले उस अद्भुत भूत को देखने के बाद द्रौणि-द्रोणाचार्य का पुत्र अव्ययित था, वह उस पर अपने दिव्य अस्त्रों की वर्षा करने लगा।

पर इससे भी अद्भुत घटना तो अब होती है ! अश्वत्थामा अपने दिव्य अस्त्रों में खूब पारंगत था, इनके कारण स्वयं अजेय है ऐसा मानता था। ये सब अस्त्र इस 'भूत' पर व्यर्थ हो गये। किसी भी शस्त्र का इस अद्भुत व्यक्तित्व पर लेश मात्र भी असर नहीं होता।

अपने तमाम शस्त्र बेकार हो जाते हैं, अश्वत्थामा को कृप तथा कृतवर्मा की सीख न मानकर स्वयं यहाँ आया इस कारण पछतावा होता है। अपनी प्रतिज्ञा अधूरी रहेगी ऐसा भय लगता है। यह महान अद्भुत 'भूत' अपने मार्ग में बाधा बनकर बैठा है इससे सचेत अश्वत्थामा भगवान शिव की शरण में जाने का विचार करता है।

अश्वत्थामा की शिव स्तुति हमारे यहाँ के स्तोत्र साहित्य में प्रकीर्तित है। अश्वत्थामा जानता है कि उसका कार्य संभव नहीं है, अस्तु वह दूसरा ही संकल्प करता है :

मनसा सुविशुद्धेन दुष्करेणाल्पचेतसा।
सोऽहमात्मोपहारेण यक्ष्ये त्रिपुरघातिनम् ॥

(सौप्तिक, ७; ८)

वह विशुद्ध मन से त्रिपुरारि—महादेव का यजन करना चाहता है जो अल्पचेतसा (मन्द चेतना वाले) के लिए दुष्कर है। वह अपनी आत्मा का उपहार देकर, अपनी देह को बलि के रूप में चढ़ा कर भगवान शिव की प्रार्थना करता है।

भगवान के पास इष्ट कार्य के लिए प्रार्थना करते समय आदमी यदि हथेली पर सिर न रखे तो उसे इष्ट की प्राप्ति नहीं ही होती। अश्वत्थामा की स्तुति से पहले शिव के महा भयंकर गण प्रगट हुए, जिन गणों का पराक्रम देखकर शिव स्वयं विस्मित हो जाते हैं ऐसे गणों को देखकर अश्वत्थामा भयभीत नही होता परन्तु 'सौम्य मंत्र द्वारा यह प्रतापी द्रोण पुत्र अपने शरीर को उपहार रूप में रख देता है।'

अश्वत्थामा की प्रतिज्ञा, अद्भुत भूत द्वारा प्रस्तुत बाधा, शिव की स्तुति और शिव द्वारा अश्वत्थामा के मार्ग से बाधा को हटा देने की, की गयी कृपा इन सबका मर्म क्या है ? महाभारत के कवि ने इस समूचे प्रसंग को दो अध्याय भरने के लिए नहीं लिखा है, बल्कि मनुष्य

के संकल्प प्रभु की कृपा होते ही पूरे होते हैं इसकी अधिक प्रतीति दिलाने के लिए लिखा है। अश्वत्थामा के पास दिव्य शस्त्र थे, अवध्य होने का वरदान था। और पाण्डव पांचालों की रक्षा करने वाले कृष्ण और अर्जुन का अभाव था रात्रि का समय था। पर प्रभु की इच्छा बिना पत्ता भी नहीं खड़क सकता। अश्वत्थामा ने जो संहार किया वह प्रभु की योजना का ही एक अंतरंग हिस्सा था, अश्वत्थामा तो निमित्त मात्र था। इसी से अश्वत्थामा की स्तुति से प्रसन्न हुए साक्षात महादेव हँस कर कहते हैं--

सत्यशौचार्जवत्यागैस्तपसा नियमेन च,
क्षांनन्त्याभक्त्या च धृत्या च बुद्धया च वचसा तथा।
यथावदहमाराद्धः कृष्णोनाक्लिष्टकर्मणा,
तस्मादिष्टतमः कृष्णादन्यो मम न विद्यते॥

(सौप्तिक, ७; ६२-६३)

अनायास महान कर्म करनेवाले कृष्ण ने सत्य, शौच, आर्जव, त्याग, तप, नियम, क्षमा, भक्ति, धैर्य, बुद्धि और वाणी द्वारा मेरी आराधना की है। यहाँ आराधना के एकादश सोपान महादेवजी बता देते हैं: ऐसी आराधना करनेवाला ही मुझे परमप्रिय होता है इसी से कृष्ण मुझे परमप्रिय है। कृष्ण से इष्टतम ऐसा अन्य कोई है ही नहीं।

इस कृष्ण के मन के सन्तोष के लिए भगवान शिव अद्भुत भूत का रूप धारण करके पांचलों की रक्षा कर रहे थे :

कृतस्तस्यैव सम्मानः पंचालान रक्षता मया,
अभिभूतास्तु कालेन नैषामद्यास्ति जीवितम्।

(सौप्तिक, ७; ६५)

पांचालों की रक्षा करके मैंने उनका (कृष्ण का) ही सम्मान किया है: परन्तु अब पांचाल काल से अभिभूत हो गये हैं। अब उनका जीवन शेष नहीं रहा है।

इसके बाद अश्वत्थामा ने जो भी घोर कार्य किया वह सुविदित है। परन्तु अश्वत्थामा अपने घोर संकल्प और दिव्य शस्त्रों के बावजूद यह कर सकने में समर्थ नहीं था। कृष्ण की इच्छा है कि पांचालों का संहार हो इसी से अश्वत्थामा को यह मौका मिलता है। कृष्ण पांचालों से दूर चले गये हैं। अश्वत्थामा पांचालों को अपने नंगे हाथों से जंगली की भाँति मारता है। इसी से रिरियाता धृष्टद्युम्न उससे

विनती करता है कि मुझे किसी शस्त्र से मार जिससे मैं स्वर्ग में जा सकूँ। क्षत्रिय युद्ध में शस्त्र से मरे तो उसे स्वर्ग मिलता है। परन्तु जो स्वर्ग दुर्योधन के भाग्य में है वह धृष्टद्युम्न के भाग्य में नहीं है। अश्वत्थामा उससे कहता है—

आचार्यघातिनां लोका न सन्ति कुलपांसन,
तस्माच्छस्त्रेण निधनं नत्वमर्हसि दुर्मते।

(सौप्तिक, ८; २२-२३)

आचार्यघाती लोग पुण्यलोक के अधिकारी नहीं होते। हे दुर्मते, तूने अपने गुरु का वध किया है अस्तु तूं शस्त्र द्वारा वध किये जाने के योग्य नहीं है।

अश्वत्थामा का यह समूचा हत्याकांड रोएं कंपा दे ऐसा है। अश्वत्थामा के हाथ और हाथ में की तलवार मानव रक्त से इतनी रंग गई थी कि 'एकीभूत इव प्रभो' हाथ और तलवार दोनों एक ही हों-अभिन्न हों ऐसा लगता था।

धृतराष्ट्र यह सुन रहे हैं। अपना तो सर्वनाश हो चुका है, तो भी पांचालों के नाश की इस निर्मम कथा से धृतराष्ट्र को हर्ष होता है, उन्होंने तुरत ही प्रश्न किया :

प्रागेव सुमहत् कर्म द्रौणिरेतन्महारथः,
नाकरौदीदृशं कस्मात् मत्पुत्र विजये धृतः।

(सौप्तिक, ८; १५२)

अश्वत्थामा तो मेरे पुत्र को विजय दिलाने के वास्ते दृढ़संकल्प लेकर बैठा था, तब उसने ऐसा महान कार्य पहले क्यों न कर दिखाया? अश्वत्थामा ऐसा जघन्य संहार पहले कभी भी क्यों न कर सका?

संजय का उत्तर यह है—

तेषां नूनं भयान्नासौ कृतवान कुरुनंदन,
असांनिध्याद्धि पार्थानां केशवस्य च धीमतः,
सात्यकेश्चापि कर्मेदं द्रोणपुत्रेण साधितम्।

(सौप्तिक ८; १५४-१५५)

अश्वत्थामा को पार्थ, कृष्ण और सात्यकि का हमेशा भय लगता था, जब इन तीनों का असांनिध्य था तभी वह अपना यह कार्य साध सका।

कृष्ण का सांनिध्य और कृष्ण का असांनिध्य इन दोनों में कितना बड़ा अन्तर पड़ जाता है इसकी प्रतीति यहाँ प्राप्त होती है।

ऐसे घोर संहार में अश्वत्थामा कृतकृत्यता का अनुभव करता है। और यह शुभ समाचार देने दुर्योधन के पास जाता है! पर असहाय घायल दुर्योधन हिंसक जीवों और श्वानों से घिरा पड़ा है और अपने को खा जाने को उत्सुक इन जीवों को बड़े कष्ट से रोक रहा था। जिसके पास 'अर्थहेतु' ब्राह्मण बैठते थे उसके पास आज मांस के लिए मांसाहारी पशु बैठे थे।

बैर किसी भी परिस्थिति में आदमी की वृत्ति को उसकाता है। दुर्योधन को जब खबर मिलती है कि अश्वत्थामा ने पांचालों और पाण्डवपुत्रों को मार डाला है तब उसकी प्रसन्नता का पार नहीं रहता। वह कहता है :

न मेऽकरोत् तद गांगेयो न कर्णो न च ते पिता,
यत् त्वया कृपभौजाभ्यां सहते नाद्य मे कृतम्।
(सौप्तिक, ९; ५४)

गांगेय, कर्ण या तेरे पिता भी जो न कर सके वह पराक्रम तूं ने कृप और कृतवर्मा के साथ रहकर कर दिखाया।

३८. ब्रह्मास्त्र

प्रभु की लीला अपरंपार है। वे सुख देते हैं तब दुख की परिसीमा बांधते हैं। युधिष्ठिर अठारहवें दिन के सबेरे विजयी था। उन्नीसवें दिन के सबेरे दूत आकर उनसे कहता है : 'कुल्हाड़ी से वन काटा जाता है उसी प्रकार आपके पुत्रों और पांचालों को अश्वत्थामा ने काट डाला है।' जो स्थिति धृतराष्ट्र की हुई वही स्थिति युधिष्ठिर की होती है। धृतराष्ट्र की एक भी संतान जीवित नहीं है युधिष्ठिर की भी सभी संतान नष्ट हो गई है। यह समाचार सुनकर उन्मन हो गये युधिष्ठिर कहते हैं :

दुर्विदा गतिरर्थानामपि ये दिव्यचक्षुषाः
जीयमाना जयन्त्यन्ये जयमाना वयं जिताः :
(सौप्तिक, १०; १०)

जिन्हें दिव्य चक्षु मिले हैं उनके लिए भी अर्थ की गति दुष्कर है। और लोग तो हारकर जीतते हैं हम तो जीतकर हार गये।

युधिष्ठिर के लिए विजय का प्याला होठ तक आता है पर अपने ही पुत्रों और स्वजनों के रक्त से लिप्त होकर आता है अस्तु होठ तक लाने का भी जी न करे। असावधान रहने के कारण मारे गये इन पुत्रों और स्वजनों के लिए युधिष्ठिर कहते हैं :

न हि प्रमादात परमोऽस्ति कश्चिद्
बधो नाराणामिह जीवलोके।

(सौप्तिक, १०; १९)

इस जीवलोक में प्रमाद से बढ़कर कोई मृत्यु नहीं है। दुष्कर युद्ध में ऐसी विजय प्राप्त करने के बाद लेशमात्र सावधानी रक्खे बिना प्रमाद में आ जाने के कारण ही पाण्डवपुत्र और पांचाल अश्वत्थामा के हाथों इस गति को प्राप्त हुए।

द्रौपदी बड़ी ही कमनसीब स्त्री है। कृष्ण में उसे अगाध प्रीति थी। पर द्रौपदी स्वयंवर में कृष्ण ने स्वयं शरसंधान नहीं किया, अर्जुन को करने दिया। यह एक व्यूहात्मक मार्ग था। आर्यावर्त के राजपुरुषों के ध्रुवीकरण के लिए आवश्यक था कि पांचाली पाण्डवों से विवाह करे। अपूर्व सुंदरी पांचाली पाँच पाण्डवों के बीच क्लेष का कारण बने ऐसा प्रतीत होने पर उसे पाँचों भाइयों से ब्याह दिया गया। अर्जुन को इससे हुए क्लेष का निवारण कृष्ण ने अपनी 'चारु सर्वांगी' बहन सुभद्रा के साथ ब्याह कराकर किया। युद्ध में सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु मारा गया और द्रौपदी के पाँचों पुत्र जीवित बच गये। अस्तु द्रौपदी भाग्यवान लगती थी। पर अब तो द्रौपदी के पाँचों पुत्र मारे गये। पाण्डववंश केवल सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा के गर्भ द्वारा चालू रह सकता था।

द्रौपदी यों तो 'कृष्णप्रिये सखी' थी पर कृष्ण उसे कसौटी पर कसने में कोई कमी नहीं रखते। वह राजप्रसाद में शायद ही कभी रह पायी। वन के कष्ट सहने के बाद राजप्रासाद में रहने का समय आया तब पिता, भाइयों और पुत्रों की मृत्यु के विषाद का भार उसके पैरों पर मन-मन भर का बोझ डाल रहा था। इससे पूर्व जब भी द्रौपदी संकट में पड़ती थी तो कृष्ण को याद करती थी। इस समय

वह केवल युधिष्ठिर और भीम से ही अपने बैर का बदला लेने को कहती है। अपने पुत्रों की हत्या का विषाद गहरा है। पर अब 'सौभद्र न स्मरिष्यसि' (अभिमन्यु भी आपको याद नहीं आता) ऐसा कहकर अब अभिमन्यु के साथ अपने पुत्र भी मारे गये हैं इस बात का दुख-पूर्वक स्मरण करती है।

द्रौपदी की आर्त प्रार्थना सुनकर भीम अश्वत्थामा के पास जाता है। कृष्ण जानते हैं कि अकेला भीम अश्वत्थामा से निपट नहीं सकेगा। अश्वत्थामा और अर्जुन दो ही ऐसे महारथी हैं जो ब्रह्मास्त्र का उपयोग जानते हैं। अकेला भीम इस ब्रह्मास्त्र की मार से जलकर भस्म हो जायेगा।

कृष्ण यहाँ एक बात याद करते हैं। पाण्डव वन में थे तब अश्वत्थामा द्वारका गया था और कृष्ण का मेहमान बनकर रहा था। उस समय इसने कृष्ण से कहा था 'मेरे पास दिव्य ब्रह्मास्त्र है, वह आप ले लें और मुझे अपना चक्र दे दें।'

कृष्ण उसे जवाब में कहते हैं : मुझे तेरा ब्रह्मास्त्र नहीं चाहिये। पर ये रहे मेरे अस्त्र। धनुष, शक्ति, चक्र और गदा। तुझे जो चाहिये वह उठा ले। जो आयुध तूँ उठा ले वह तेरा। अश्वत्थामा ने कहा 'मुझे चक्र चाहिये', कृष्ण ने कहा तूँ उठा सके तो ले ले,।

मानवी अहंकार में फायदा नहीं होता। कृष्ण जब कहते हैं 'तूँ उठा सके तो शस्त्र तेरा' तब वह उसे उठा सकेगा या नहीं इसका लेशमात्र विचार किये बिना अश्वत्थामा बायें हाथ से वह चक्र उठाने लगा। बायें हाथ से चक्र नहीं उठा तो दाहिने हाथ से उठाने की चेष्टा की। दाहिने हाथ से भी नहीं उठा तब दोनों हाथ से उठाने की कोशिश की। जब वह चक्र न उठा सका, तब वह थककर बैठ गया।

अब कृष्ण सूचक प्रश्न करते हैं :

'अश्वत्थामा, ऐसी माँग मुझसे अर्जुन ने नहीं की। मेरे बड़े भाई बलराम ने भी मुझसे यह चक्र नहीं माँगा। तूने इसे क्यों माँगा ?' अश्वत्थामा उत्तर देता है—

प्रयुज्य भवते पूजां योत्स्ये कृष्ण त्वया सह।

(सौप्तिक, १२; ३६)

'कृष्ण, आपकी पूजा करके, (आपका चक्र प्राप्त करके) मुझे आपसे युद्ध करना था।'

कृष्ण इस घटना का वर्णन अश्वत्थामा कितना क्रूर है, कितना निर्लज्ज है यह बात स्पष्ट करने के लिए कहते हैं परन्तु इसमें से एक और बात निकल आती है। कृष्ण अपने चक्र के कारण अजेय हैं। यह चक्र कृष्ण को जीतने के उद्देश्य से भी अश्वत्थामा माँगे तो उसे उठा ले ऐसा कहते हैं।

कृष्ण का यह औदार्य और अश्वत्थामा की कृपणता ये दोनों आमने सामने हैं। कृष्ण अपने पर विजय दिला सके ऐसा शस्त्र भी अपने शत्रु के हाथ में देने को तैयार हैं।

अश्वत्थामा की कृपणता और असहिष्णुता का कृष्ण को निजी अनुभव है। इसी से भीम उसके पीछे गया है यह जानकर कृष्ण चिन्तित हैं। द्रोण और अर्जुन दिव्य शस्त्रों के ज्ञाता थे पर युद्ध में उनका प्रयोग नहीं करते थे, ऐसा प्रयोग करने में हिचकिचाहट का अनुभव करते थे, द्रोण को जो हिचक थी वह उनके पुत्र को भी हो ऐसा नहीं है।

कृष्ण की बात सत्य सिद्ध होती है। कृष्ण और अर्जुन दोनों भीम की रक्षा के लिये जाते हैं। भीम, अर्जुन और कृष्ण को देख कर महर्षियों के बीच बैठा अश्वत्थामा अपने आपको रोक नहीं पाता। वह ब्रह्मास्त्र छोड़ता है। कृष्ण द्वैपायन व्यास और अन्य महर्षियों के साथ भागीरथी के तट पर बैठे अश्वत्थामा को ब्रह्म ज्ञान न आया। इसी से तो ब्रह्मास्त्र छोड़ने की दुर्मति उसे सूझी। ब्राह्मण अश्वत्थामा क्रोध में आकर ब्रह्मास्त्र छोड़ता है। पर क्षत्रिय अर्जुन ऐसे विनाशक शस्त्र का प्रति-उपयोग करना या नहीं करना इसके लिए कृष्ण के संकेत की राह देखता है। एक ही जैसा विनाशक शस्त्र पर अश्वत्थामा और अर्जुन दोनों उसका उपयोग कितने अलग ढंग से करते हैं।

अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्र चलाता है तब इससे 'पाण्डवों का विनाश हो' ऐसा संकल्प करता है। अर्जुन ब्रह्मास्त्र चलाता है तब 'आचार्य पुत्र का कल्याण हो' ऐसा कहकर, 'पत्नी का और अपने बन्धुओं के इष्ट' की कामना करके संकल्प करता है कि 'इस ब्रह्मास्त्र से शत्रु का ब्रह्मास्त्र शान्त हो जाय।'

इन दोनों ब्रह्मास्त्रों के प्रयोग से ब्रह्मांड काँप उठता है। महर्षि वेद व्यास जैसे महामुनि आकर बीच में खड़े हो जाते हैं और कहते हैं

'मानव जाति के विरुद्ध ऐसे शस्त्र का उपयोग किया ही नहीं जाना चाहिए। आपने इसका प्रयोग क्यों किया है ?'

अर्जुन तो अपने ब्रह्मास्त्र का उपसंहार कर लेता है। पर अश्वत्थामा को यह उपसंहार करना नहीं आता। वह पाण्डवों को नहीं तो पाण्डवों के वंश को निर्मूल करना चाहता है। अस्तु वह पाण्डवों के गर्भ पर अर्थात् उत्तरा के गर्भ में विद्यमान बालक पर अपना ब्रह्मास्त्र केन्द्रित करता है। अर्जुन ने कल्याणकारी उद्देश्य से ब्रह्मास्त्र का उपयोग किया था। अस्तु वह ब्रह्मास्त्र का उपसंहार कर सका अश्वत्थामा ने आसुरी मनोकामना की थी अस्तु उसका उपसंहार अशक्य था।

कृष्ण अपना ऐश्वर्य कुछेक विरल अवसरों पर ही प्रगट करते हैं। ऐसा ही एक विरल क्षण उस समय आता है जब द्रोणकुमार परमअस्त्र को पाण्डवों के गर्भ पर छोड़ता है, तब कृष्ण कहते हैं : 'उपप्लव्य नगर के एक व्रतवान ब्राह्मण ने उत्तरा को देखकर कहा था जब कौरव वंश परिक्षीण हो जायेगा तब तुझे पुत्र प्राप्त होगा। इस पुत्र का नाम परीक्षित होगा। इस साधु ब्राह्मण का वचन सत्य होगा। उत्तरा का पुत्र परीक्षित पाण्डव वंश को आगे चलायेगा।' अश्वत्थामा यह सुनकर क्रोध में भर कर कहता है, 'मेरा अस्त्र उत्तरा के गर्भ पर ही गिरेगा। उसका गर्भ बच सकेगा ही नहीं।'

अश्वत्थामा बैर के आवेश में भ्रूण हत्या के पास तक पहुँच जाता है तब कृष्ण उसे शाप देते हैं, तीन हजार वर्ष तक निर्जनता में भटकते रहोगे। इतना ही नहीं, वे आगे कहते हैं—

अहं तं जीवयिष्यामि जग्धं शस्त्राग्नि तेजसा।
पश्य मे तपसो वीर्यं सत्यस्य च नराधम॥

(सौप्तिक, १६;१६)

तेरे शस्त्र की अग्नि के तेज से जो दग्ध है, उसे मैं जीवित करूँगा, हे नराधम! (जब मैं मृत शिशु को जिला रहा होऊँगा) तब तूं मेरे तप और सत्य का प्रभाव देखेगा।

कृष्ण ने अपने तप और सत्य की बाबत इतनी बुलंदी से बहुत कम स्थलों पर कहा है। अश्वत्थामा पाण्डव वंश का सर्वनाश करने को

उत्सुक था, तब कृष्ण अपने तप और सत्य के बल पर पाण्डव वंश को चलते रखने का वचन देते हैं।

अश्वत्थामा के पास से प्राप्त की हुई मणि को अपने सिर पर स्थापित करने के बाद युधिष्ठिर ने कृष्ण से पूछा : 'युद्ध में भीष्म और द्रोण जैसे योद्धाओं के सामने से पीछे न हटने वाला धृष्टद्युम्न अश्वत्थामा के हाथों कैसे मारा गया ?'

कृष्ण इसके उत्तर में महादेव के ऐश्वर्य की चर्चा करते हैं। पर उसे तो एक प्रतीक रूप में लिया जा सकता है। वे अन्त में तो इतना ही कहते हैं : आपके पुत्रों और धृष्टद्युम्न सहित पांचालों का वध भगवान महाकाल ने अश्वत्थामा को निमित्त बनाकर किया है।

महादेव की महिमा की यह स्थापना करते हुए कृष्ण बीच में एक काव्यमय कल्पना कर लेते हैं। देवता अपने यज्ञ में महादेव का हिस्सा निकालना भूल गये तब रुद्र कुपित हो गये। रुद्र के कोप से अवीर्य हो गये सभी देवताओं ने उनकी प्रार्थना की तब रुद्रने प्रसन्न होकर अपना धनुष प्रत्यंचारहित कर दिया। (यजुर्वेद में शिव की स्तुति में प्रत्यंचाविहीन धनुष धारण करने वाले रुद्र की प्रार्थना की गई है।)

ततः प्रसन्नो भगवान् स्थाप्य कोपं जलाशये,
स जलं पावको भूत्वा शोषयत्यनिशं प्रभो।

(सौप्तिक, १८;२१)

तब प्रसन्न हुए भगवान ने अपने कोप को, जलाशय और समुद्र में स्थापित किया। यही क्रोध पावक बन कर नित्य जल को सोखा करता है।

बडवानल की बाबत कृष्ण की कल्पना में सत्य जो कुछ भी हो, पर कृष्ण की सहज कवित्वमयता तो है ही।

३९. लौह प्रतिमा

संहार के बाद की संवेदना और शून्यता महाभारत के 'स्त्रीपर्व' में लबरेज भरी पड़ी है। कृष्ण ने संधिवार्ता में, युद्ध की अवधि में और पहले भी बारंबार भ्रातृयुद्ध टलना चाहिए यह बात की थी। युद्ध होगा तो घोर संहार में ही उसका अन्त होगा, यह बात कृष्ण, विदुर,

संजय, भीष्म, गांधारी सभी ने बारंबार कही थी। धृतराष्ट्र यह युद्ध रोक सकते थे। संधिवार्ता के समय कृष्ण का विराट स्वरूप सभी ने देखा। यह जानने के बाद धृतराष्ट्र अपने पुत्रों को हथियारों को म्यान में रखने की आज्ञा दे सकते थे। परन्तु धृतराष्ट्र भी दुर्योधन की तरह मन की गहराई में आशा करते थे कि मेरे पुत्र विजयी होंगे, कर्ण जैसा साथी उन्हें विजय दिलायेगा साथ ही भीष्म-द्रोण जैसे महारथी मेरे पक्ष से लड़ेंगे तो मेरा पुत्र जरूर जीतेगा।

दुर्योधन की तरह उन्हें भी पाण्डवों से ईर्ष्या थी। पाण्डवों को एक बार खाण्डवप्रस्थ का जंगल दिया उसमें से राजसूय यज्ञ की यज्ञ-भूमि बन सके ऐसा इन्द्रप्रस्थ का राज्य उन्होंने खड़ा कर दिया। यह बात धृतराष्ट्र भी जानते थे। इसी से पाँच गाँव देने से पाण्डवों का प्रताप और प्रभाव इतना बढ़ जायेगा कि दुर्योधन का समग्र राज्य झाँखा लगने लगेगा। इसी से दुर्योधन की भाँति धृतराष्ट्र को भी पाण्डवों के प्रताप और प्रभाव से ईर्ष्या थी। पाण्डवों को राज्य देने के लिए दुर्योधन जितनी हिचकिचाहट धृतराष्ट्र को भी थी।

इस धृतराष्ट्र के समक्ष जब सर्वनाश की खबर आयी तब उन पर क्या बीती? संजय ने आकर जब धृतराष्ट्र के सौ में सौ पुत्रों के मरण की बात कही तब धृतराष्ट्र की स्थिति वैशम्पायन के शब्दों में 'छिन्न शाखामिव द्रुमम्'—सभी शाखायें कट जाने के बाद, एक वृक्ष जैसी हो गई।

संजय ने थोड़े उपालम्भ और थोड़े आश्वासन दिये। पर इसका जब कोई अर्थ नहीं निकला तब विदुर ने अपने बड़े भाई को सान्त्वना देना आरंभ किया। विदुर की सान्त्वना में स्पष्ट वक्तृत्व है पर मृदुता और ज्ञानी की नम्रता है। इसी से वे कहते हैं :

> अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानश्च जीवति,
> कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते।
>
> (स्त्री, २; ५)

युद्ध में न उतरा हो ऐसे व्यक्ति का भी मरण होता है : युद्ध में लड़ा हो फिर भी जीता रहता है। काल आता है तब कोई उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। काल अपने ही ढंग से आता है।

विदुर कितनी ही सुंदर उपमाएँ देते हैं, वे कहते हैं, जैसे मिट्टी

का बर्तन बनाते हैं तब कभी तो वह चाक पर चढ़ाते ही टूट जाता है, कभी चाक से उतरते समय या उतारने के बाद टूट जाता है, कभी मिट्टी गीली होती है तभी वह बर्तन टूट जाता है, कभी सूखने के बाद, कभी रसोई से पहले, कभी रसोई बनाते समय और कभी रसोई के बाद वह फूटता है। यही हाल शरीर का है, कभी गर्भ में, कभी जन्म के बाद तत्काल, कभी थोड़ा बड़ा होकर, कभी युवावस्था में, मध्य अवस्था में, या वृद्धावस्था में पहुँचने के बाद शरीर नष्ट होता है।

धृतराष्ट्र अपार विषाद में होते हैं तो उन्हें विदुर की वाणी सुननी अच्छी लगती है। पहले जब संजय निष्फल संधिवार्ता करके लौटा था तब रात में नींद उड़ गई थी। उस अवस्था में धृतराष्ट्र ने सारी रात विदुर के पास बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था। इसी प्रकार इस समय भी वे विदुर से पूछते हैं : 'कथं संसार गहनं' (यह गहन संसार कैसा है ?) तब विदुर संसार की क्षणभंगुरता और मृत्यु की शाश्वतता पर जोर देते हैं—

यदा सर्वे समंन्यस्ताः स्वपन्ति धरणीतले,
कस्मादन्योन्यमिच्छन्ति प्रलब्धुमिह दुर्बुधाः।
(स्त्री, ४; १८)

सभी मरने के बाद श्मशान में धरती की गोद में ही सोते हैं तो फिर दुर्बुद्धि मनुष्य क्यों एक दूसरे को छलने की इच्छा रखते होंगे ?

विदुर ने यहाँ एक चिरंतन सत्य का उद्घोष किया है।

जीवन असार है ऐसी बात करने के बावजूद हम उसका सार ढूँढने निकले हैं। हम हवा को मुट्ठी में पकड़ने का प्रयत्न करते हैं।

विदुर आगे चलकर जीवन का विकराल लेकिन यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं।

किसी महान जंगल से कोई एक ब्राह्मण यात्रा कर रहा था। वह हिंसक पशुओं से भरे एक दुर्गम प्रदेश में आ पहुँचा। यमराज भी काँप उठें, ऐसा था वह विकराल देश। वह कहीं भी अपने को आश्रय वह मिले इस हेतु ठौर ठौर भटकता है। एक स्थान पर वह एक भयानक स्त्री को अपनी दोनों बाँहें फैलाए खड़ी देखता है। इस वन में एक कुवाँ था। कुवें पर घास और सुदृढ़ लतायें थीं। ब्राह्मण कुवें में गिर जाता है परन्तु लता वल्लरी से व्याप्त हो जाने के कारण एक दृढ़

लता को पकड़कर लटकता रहता है। कुवें के अन्दर एक महाबलशाली नाग बैठा है। कुवें के सामने श्वेत श्याम रंग का एक विशाल हाथी खड़ा है। इस हाथी के छः मुँह, बारह पैर हैं। ब्राह्मण जिस शाखा को पकड़कर लटक रहा था वहाँ शहद का छत्ता था और भयंकर मधुमक्खियाँ उस पर चिपककर बैंठी थीं। इस शहद के छत्ते में शहद की बूंदें टपक रही थीं और लटकनेवाला पुरुष मुँह बाये इस मधुधारा का पान कर रहा था। इतने विकट संकट के बीच भी शहद से उसका जी भरता नहीं था और बारंबार कब शहद की बूंद टपके और कब वह उसे मुख में ले इसकी तृष्णा लगी थी। कारण यह था कि उसे जीवित रहना था फिर मानो इतना कम हो, वह जिस शाखा से लटक रहा था उसे काले और सफेद चूहे निरंतर कुतर रहे थे।

विदुर की यह कथा सुनने के बाद भी यह उनकी अपनी कथा है इसका ध्यान धृतराष्ट को नहीं आता। वे पूछते हैं: 'अरे बिचारा ब्राह्मण भारी विपत्ति में आ फँसा। उसका छुटकारा कैसे हुआ?'

विदुर अब खुलासा देते हैं: यह दुर्गम वन माने संसार, वह विशालकाय नारी माने वृद्धावस्था। कुवाँ ही शरीर है। कुवें के तल में बैठा महानाग वह स्वयं काल है जिस शाखा को पकड़े मनुष्य लटकता है वह जीवन-आशा है। हाथी संवत्सर है। छ ऋतुएँ उसका मुख है, बारह महीने उसके बारह पैर हैं। वृक्ष को काटते सफेद और काले चूहे दिन रात हैं। मधुमक्खियाँ कामनाएँ हैं। मधु काम-रस है जिससे आदमी को कभी तृप्ति नहीं होती।

परन्तु धृतराष्ट्र माया का जीव है। वह कुल मिलाकर मानव का प्रतीक है। संसार कितना नश्वर है और सुख कितना अस्थायी है यह जानने के बाद भी वह संसार में डूबा रहता है।

विदुर के बोध के बाद भी धृतराष्ट्र की माया नहीं छूटती। महर्षि व्यास आकर उसे आश्वासन देते हैं। व्यास धृतराष्ट्र के पिता भी हैं, साथ ही आर्यावर्त के एक महान ऋषि भी हैं। वे तो कहते हैं: इस पृथ्वी का भार उतारने के लिए इस पृथ्वी पर लोकक्षय जरूरी था और इस लोकक्षय को करने हेतु ही दुर्योधन को पृथ्वी पर भेजा गया था। पृथ्वी जब देव सभा में गई तब विष्णु ने कहा:

दुर्योधन इति ख्यातः स ते कार्यं करिष्यति,
तं च प्राप्य महीपालं कृतकृत्या भविष्यसि।
(स्त्री, ८; २६-२७)

(धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों में सबसे बड़ा) दुर्योधन के नाम से ख्यात पुत्र तेरा काम करेगा। उसे राजा के रूप में पाकर तूँ कृतकृत्य हो जायेगी, कारण कि वह जो युद्ध शुरू करेगा उसके फलस्वरूप महान लोकक्षय होगा।

यह लोकक्षय धृतराष्ट्र के लिए दुख का निमित्त है, पृथ्वी के लिए भार उतारनेवाला विष्णु का वरदान है। विश्वयुद्धों की बाबत मानव का अभिगम और भगवान का प्रयोजन, इन दोनों को इसी प्रकार देखना चाहिये।

आदमी तो उस कुवें में लटकते ब्राह्मण जैसा है। काल उसे कब और किस प्रकार ग्रसेगा इसकी उसे कल्पना नहीं होती। मानव का सुख केवल क्षणिक ही नहीं है: उस सुख की सरहद तो दुःख से ही बँधी हुई है।

व्यास के आश्वासन के बाद भी धृतराष्ट्र अभी शोक से मुक्त नहीं होते। अब विदुर फिर सूत्र अपने हाथ में लेता है: वह कहता है:

न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम्।
(स्त्री, ९; १४)

काल को न कोई प्रिय है, न काल को किसी से द्वेष है।

विदुर अब धृतराष्ट्र को फर्ज के प्रति जाग्रत करता है, युद्ध में जो मरे हैं उन्हें तो वीरगति प्राप्त हुई है, अब उनकी अन्त्येष्टि संस्कार करना, यही हमारा, जीवित रहने वालों का कर्त्तव्य है।

धृतराष्ट्र, गांधारी, कुंती सहित, स्त्रियों को लेकर युद्धभूमि की ओर जाते हैं। पाण्डव भी यह जानते हैं, अस्तु वे भी इसी प्रयोजन से रणभूमि की ओर जाते हैं।

पाण्डव यों तो विजयी हैं, पर यह जातिवध के बाद की विजय है। उन्हें विलाप करती स्त्रियाँ घेर लेती हैं और पूछती हैं—

क्व नु धर्मज्ञता राज्ञः क्व नु साद्यानृशंसता,
यच्चावधीत् पितृन् भ्रातृन् गुरुपुत्रान् सखीनपि।
(स्त्री, १२; ७)

'जब आपने पिता, काका, भाई, गुरुपुत्रों और मित्रों का वध किया, तब आपकी धर्मज्ञता, दयालुता कहाँ चली गई थी ?'

युधिष्ठिर क्या जवाब दें ? वे इन स्त्रियों के बीच से मार्ग बनाकर धृतराष्ट्र के पास जाते हैं और धृतराष्ट्र को प्रणाम करते हैं।

कविवर व्यास यहाँ एक विषम और विरल परिस्थिति रचते हैं। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र मारे गये हैं : इन सौ पुत्रों को मारनेवाला भीम और जहाँ वे मारे गये उस युद्ध के प्रणेता पाण्डव तथा कृष्ण उनके सामने आकर खड़े हैं। इस परिस्थिति में धृतराष्ट्र के मन की स्थिति कृष्ण समझ सकते हैं।

धृतराष्ट्र सबसे पहले युधिष्ठिर का आलिंगन करते हैं। फिर भीम को आलिंगन में लेने के लिए बुलाते हैं। कृष्ण इस समूची परिस्थिति को जानते हैं। वे धृतराष्ट्र के मन की स्थिति ठीक से समझते हैं। अपने सौ पुत्रों के मारनेवाले, दुःशासन का रक्त पीनेवाले या दुर्योधन की जंघा गदा से तोड़नेवाले भीम के लिए धृतराष्ट्र के अन्तर में बैर की कैसी आग होगी, यह कृष्ण अच्छी तरह जानते हैं।

धर्मराजं परिष्वज्य सान्त्वयित्वा च भारत,
दुष्टात्मा भीममन्वैच्छद दिधक्षुरिव पावकः।

(स्त्री१२; १३)

धर्मराज से मिलने के बाद, उन्हें सांत्वना देने के बाद, दुष्ट है आत्मा जिसका और अग्नि की भाँति जलाने को उत्सुक है, उस धृतराष्ट्र ने भीम से मिलने की इच्छा व्यक्त की।

भीम के प्रति धृतराष्ट्र का अशुभ संकल्प कृष्ण जान गये। उन्होंने इसी से धृतराष्ट्र के आश्लेष में समाने जा रहे भीम को पीछे खींच लिया और भीम की दुर्योधन द्वारा तैयार कराई लोह प्रतिमा आगे कर दी।

कृष्ण ने यह कार्य निमिषमात्र में किया। या तो कृष्ण को पक्की खबर मिली रही होगी या प्रत्युत्पन्न मति से उन्होंने ऐसी कल्पना की होगी कि धृतराष्ट्र भीम को नहीं छोड़ेगा। वह भीम को युद्ध में नहीं ललकारेगा पर बाजुओं की चपेट में भींचकर चूर कर डालेगा। इसी से उन्होंने भीम की दुर्योधन द्वारा तैयार कराई हुई लोहप्रतिमा हस्त-गत रक्खी थी और जैसे ही धृतराष्ट्र ने इस लोह प्रतिमा को अपने

अन्दर विद्यमान दस हजार हाथियों के बल से आलिंगन में लिया कि तत्काल ही वह लौह प्रतिमा टूटकर चूर-चूर हो गई।

धृतराष्ट्र ने कितना जोर लगाया होगा इसका ख्याल तो इस लौह प्रतिमा को भींचते समय उनके होठ से लहू निकल पड़ा, इस परिस्थिति को देखकर आता है। यह भीम ही मारा गया है, ऐसा मानकर 'हा भीम, हा भीम', ऐसा कहते धृतराष्ट्र से कृष्ण ने कहा : 'आप शोक न करें आपके हाथों भीम का वध नहीं हुआ है। वह तो केवल लौह प्रतिमा थी।' और फिर आगे कहते हैं—

> न त्वे तत् ते क्षमं राजन्हन्यास्तवं यद् वृकोदरम्,
> न हि पुत्रा महाराज जीवेयुस्ते कथंचन् ।
>
> (स्त्री, १२; २९)

आप भीम का वध करें यह किसी प्रकार उचित नहीं था। भीम का वध करने से आपके पुत्र जीवित नहीं हो जाते।

काल ने जिनका वध किया है उसे कौन जिला सकता है? और कृष्ण जिसे उबारते हैं उसे कौन मार सकता है? धृतराष्ट्र में दस हजार हाथियों का बल था। पर इस बल को कृष्ण का आशीर्वाद प्राप्त नहीं था। कृष्ण की आशीष बिना बल व्यर्थ है। भीम सरल भाव से धृतराष्ट्र के आलिंगन में बँधने जा रहा था, पर उसकी सरलता पर कृष्ण की कृपा थी। कृष्ण ने उसे धृतराष्ट्र के पास से नहीं, उसके काल के पास से पीछे खींचा था।

४०. गांधारी का शाप

वेदना, विलाप और बैर, इन तीनों का प्रगाढ़ सम्बन्ध है। धृतराष्ट्र की वेदना के साथ विलाप तो था ही पर साथ ही भीमसेन का कचूमर निकाल डालने के लिए उत्सुक बैर भी था। वेदना के साथ विलाप और बैर दोनों सहभावना आती ही है, धृतराष्ट्र में यह एक ढंग से प्रगटी तो गांधारी में वह दूसरे रूप में प्रगट हुई। गांधारी धर्मज्ञाता थी। वह जानती थी कि उसके पुत्र कुमार्ग पर हैं और उनका नाश निश्चित है। तो भी जो बात निश्चित है वह सामने आ जाती है तब मन की स्थिति दयनीय हो जाती है। इस महायुद्ध में कौरवों का नाश होगा यह तो गांधारी जानती थी, पर यह नाश

वास्तविकता बनकर सामने आया तो गांधारी विचलित हो गई। वह पाण्डवों को शाप देने के लिए उत्सुक बन गई। गांधारी के ससुर, धृतराष्ट्र के पिता और हम जिसका अध्ययन कर रहे हैं उस महाकाव्य महाभारत के प्रणेता व्यास यह बात समझ जाते हैं। महाभारत में पहले हम तीन कृष्णों की चर्चा सुन चुके हैं। एक तो कृष्ण वसुदेव। अर्जुन का भी महाभारत में कवि बारंबार कृष्ण के रूप में उल्लेख करते हैं। संजय संधिवार्ता से वापस लौटता है तब 'एक आसन पर बैठे दो कृष्ण' (कृष्ण और अर्जुन) को देखकर पाण्डवों की विजय निश्चित है ऐसी प्रतीति लेकर आता है। तीसरे कृष्ण हैं, कृष्ण द्वैपायन व्यास।

व्यास अपनी पुत्रवधू के तपोबल को जानते हैं। जो होना था वह हो चुका, अब गांधारी के शाप से पाण्डव भी नष्ट हो जायं जो पृथ्वी का परिपालन कौन करेगा ? इसी से तो गांधारी की वेदना वाणी द्वारा व्यक्त हो और विलाप से बैर तक गति करे उससे पहले ही व्यास उसे स्थिर कर देते हैं। व्यास स्वयं महाभारतकार हैं। महाभारत के प्रत्येक नाजुक मौके पर वे उपस्थित हो जाते हैं। गांधारी को व्यास ने आश्वासन न दिया होता तो गांधारी की वेदना बैर का रूप लेकर पाण्डवों को शाप देने के लिए उत्सुक थी ही।

व्यास सबसे पहले गांधारी को एक ऐसी बात याद दिलाते हैं जो कैसे भी गहनशोक के बीच गांधारी की वेदना को स्थिर कर सकती है। वे कहते हैं : 'गांधार राजकुमारी, शांत हो जा। क्रोध न कर। तुझे याद है कि युद्ध के अठारहो दिन दुर्योधन तुझे प्रणाम करने आता तब कहता था--

शिवमाशास्व मे मातर्युध्यमानस्य शत्रुभिः

(स्त्री, १४; ८)

माँ, मैं शत्रुओं के साथ युद्ध करने जाता हूँ, मेरा शिव हो, कल्याण हो, ऐसे आशीर्वाद दे।

गांधारी हर बार तूँ क्या उत्तर देती थी, याद है ? तूँ कहती थी :

'यतो धर्मस्ततो जयः

(स्त्री, १४; ९)

जिधर धर्म है, उसी की विजय होगी।

गांधारी तूँ तो सत्यवक्ता है। तेरे मुँह से असत्यवाणी मैंने कभी

नहीं सुनी । इसी से अब पाण्डवों की विजय हुई तब लगता है कि धर्म से बढ़कर कुछ भी नहीं है ।'

गांधारी व्यास के वचन सुनकर शांत हो जाती है । पाण्डवों को शाप देने का विचार शांत हो जाता है । पर वेदना थमती नहीं । उसकी वेदना का केन्द्र भी धृतराष्ट्र की वेदना के केन्द्र की भाँति दुर्योधन ही है । धृतराष्ट्र दुर्योधन की तत्ताथम्मा करते रहते थे जबकि गांधारी दुर्योधन की पापवृत्ति की निंदा करती रहती थी । पर दुर्योधन के प्रति वात्सल्य भाव में दोनों समान हैं । धृतराष्ट्र के वैर का केन्द्र पाँच पाण्डवों में से दुःशासन का रक्त पीने वाला और दुर्योधन की जाँघ पर गदा मारने वाला भीम था । गांधारी के वैर का केन्द्र भी पाण्डवों में से एकमात्र भीमसेन ही है । पर केवल भीम नहीं, कृष्ण भी है, गांधारी कहती है :

किंतु कर्माकरोद् भीमो वासुदेवस्य पश्यतः ।
दुर्योधनं समाहूय गदायुद्धेमहामनाः ।।

(स्त्री, १४;१९)

दुर्योधन को भीमने गदा युद्ध के लिए ललकारा और फिर दुर्योधन के प्रति कृष्ण के देखते हुए जो बर्ताव किया उसकी वेदना गांधारी को सालती है । कृष्ण का होना और क्लेशकर होना—यह दोनों बातें एक साथ हों तब वेदना पराकाष्ठा पर पहुँचती है । पहले हमने द्रौपदी की आर्तवेदना देखी थी । कृष्ण दूतकार्य के लिये जा रहे थे तब द्रौपदी ने कुरु सभा में अपनी जो गति हुई थी उसका वर्णन करते हुए कहा था कि यह सब 'पश्यतां पाण्डुपुत्राणां' पाण्डु पुत्रों के आँखों के आगे और 'त्वयि जीवति केशव'–कृष्ण आपके जीते जी हुआ । यहाँ गांधारी भी 'वासुदेवस्य पश्यतः'–कृष्ण की नजर के सामने, इन शब्दों पर जोर देती है । महाभारत में कृष्ण का बोझ कितना ज्यादा था इसका ख्याल महाभारत का प्रत्येक पात्र कृष्ण को किस ढंग से देखता है, इस बात से आता है ।

जब अपराधी स्वयं उपस्थित होकर अपराध हुआ है, यह कबूल करता है और कैसी असहाय स्थिति में उसने अपराध किया इसका वर्णन करता है तब अपराधी का अपराध बहुत कम हो जाता है ।

भीम जब गांधारी के वचन सुनता है तब वह 'भीतवत' (भय सहित) आगे आता है और कहता है :

अधर्मो यदि वा धर्मस्त्रासात् तत्र मया कृतः
आत्मानं त्रातु कामेन तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ।

(स्त्री, १५;२)

मां यह धर्म था या अधर्म इसका मुझे ख्याल नहीं है, पर यह काम मैंने किया है और त्रासपूर्वक किया है, अपने प्राण बचाने के लिये किया है। अस्तु मुझे क्षमा प्रदान करे।

आगे भीम कहता है : तेरे इस महाबली पुत्र को धर्मानुकूल युद्ध में कोई मार सके ऐसा संभव नहीं था। इसी से मुझे उसके साथ 'विषम' आचरण करना पड़ा।

फिर भीम अपनी प्रतिज्ञाएँ याद करता है। पांचाली की द्यूत सभा में हुई विषम स्थिति की याद दिलाता है और सर्वोपरि तो कहता है मैंने दुःशासन का रक्त नहीं पिया है। दुःशासन का रक्त मेरे होठ या दांत का अतिक्रमण नहीं कर सकता।

अन्य स्यापि न पातव्यं रुधिरं किं पुनः स्वकम् ।

(स्त्री, १५;१५)

दूसरे का रक्त भी नहीं पीना चाहिए तब अपना--और भाई कोई पराये थोड़े ही हैं ?--लहू तो कैसे पिया जा सकता है ?

भीम युक्ति पूर्वक अपना अपराध कबूल लेता है इससे गांधारी की वेदना थमती नहीं, क्रोध का शमन हो जाता है। वह केवल इतना ही प्रश्न पूछती है : 'मेरे सौ पुत्रों में से एक पुत्र को तो छोड़ दिया होता ?'

और फिर अचानक गांधारी का क्रोध युधिष्ठिर की ओर मुड़ता है। 'कव स राजा' (कहाँ है वह राजा ?) वह पूछती है और 'राजेन्द्र' युधिष्ठिर 'वेपमान' (काँपते-काँपते) और 'कृतांजलि' (हाथ जोड़ कर) गांधारी के सामने जाकर कहते हैं : आपके पुत्रों की हत्या करनेवाला युधिष्ठिर मैं ही हूँ। शाप के योग्य हूँ। मुझे शाप दें।

युधिष्ठिर की वाणी सुनते ही गांधारी का शोक पराकाष्ठा को पहुँचता है। साथ ही तिरस्कार भी अपनी पराकाष्ठा को पहुँचता है। तप में तेज हो और साथ ही तिरस्कार का आवेश हो तब उस

व्यक्ति का तमाम प्रभाव सामने के व्यक्ति का विनाश करनेवाला बन जाता है।

गांधारी आँख पर पट्टी बाँधती है। उस पट्टी में से गांधारी की दृष्टि युधिष्ठिर के पैर के अग्रभाग पर, नख पर पड़ती है :

अंगुल्यग्राणि ददृशे देवी पट्टान्तरेण सा,
ततः स कुनखी भूतो दर्शनीय नखो नृपः।
(स्त्री, १५;३०)

पटान्तर से देवी की दृष्टि पड़ते ही युधिष्ठिर के दर्शनीय नख विकृत हो गये।

गांधारी के तप और क्रोध का यह परिणाम सूचक है। युधिष्ठिर का रथ जो दश अंगुल ऊपर उठा रहता था, वह तो द्रोण के समक्ष संदिग्ध, असत्य बोलने के कारण धरती पर आ गया। अब युधिष्ठिर के नख भी काले पड़ गये, कारण यह कि जिसके सौ पुत्रों की हत्या में स्वयं निमित्त बना था उस माँ के सम्मुख उसे खड़ा होना था। धृतराष्ट्र का क्रोध भीम की लौह प्रतिमा को चूर कर डालने वाला था। गांधारी के तप से युधिष्ठिर की द्युति झाँखी पड़ गई थी।

यह देखकर अर्जुन के लिये तो कृष्ण के सिवा रक्षा का कोई भी स्थान नहीं रहा, वह कृष्णके पीछे छुप गया (एतदृष्ट्वा चार्जुनो गच्छद् वासुदेवस्य पृष्ठतः)। कृष्ण के पीछे अर्जुन को छिप जाना पड़ा, यह परिस्थिति ही गांधारी के क्रोध को उतारने के लिये पर्याप्त हो गई। गांधारी माँ है। वह न्याय और धर्म की ज्ञाता हैं। इसी से वह क्रोध-वाली फिर तुरन्त ही 'विगत क्रोध' बनी। गांधारी ने माँ की तरह इन भाइयों को सान्त्वना प्रदान की।

इसके आगे के दस अध्यायों में गांधारी का विलाप है। गांधारी धृतराष्ट्र के साथ बात करते हुए नहीं रोती। पांडवों के साथ बात करते हुए नहीं रोती। वह कृष्ण से बात करके अपने मन का उफान निकालती है।

आदमी अपनी व्यथा की चरम सीमा पर पहुँचकर ईश्वर के समक्ष ही रोता है : ईश्वर को शाप भी देता है। गांधारी कृष्ण के पास बैठ कर ही रोती है और फिर कृष्ण के पास ही अपने रुदन को पराकाष्ठा

पर पहुँचाती है। गांधारी परिस्थिति के सत्य को जानती है। उसके पुत्रों ने दुर्बुद्धि से कृष्ण के वचनों का अनादर किया, इसी कारण युद्ध हुआ और सर्वनाश हुआ। गांधारी इस बात को समझती है। वह कहती है—

तदैव निहिताः कृष्ण ममपुत्रास्तरस्विनः
यदैवाकृतकामस्त्वमुपप्लव्यं गतः पुनः।

(स्त्री. २५; ३४)

हे कृष्ण, मेरे पुत्र तो आप अधूरे मनोरथ लेकर 'उपप्लव्य' (पीड़ा से) वापस लौटे, उसी दिन मारे जा चुके थे।

कृष्ण ने सन्धिवार्ता की सभा में अपने विराट रूप का दर्शन कराया, ये सब काल के कौर होने वाले हैं इसका निर्देश भी दे ही दिया था। भीष्म और विदुर ने उसी दिन गांधारी से कह दिया था कि अब पुत्रों के प्रति अपनी माया त्याग दे।

इस क्षण तक गांधारी स्वस्थ है, ज्ञानयुक्त है। पर इतना कहते-कहते वह मूर्छित हो जाती है और मूर्च्छा में से जागती है, तब उसका सारा शरीर क्रोध से काँप उठता है और कृष्ण को जान बूझकर कुरु-कुल का नाश करने वाला बताकर वह कह उठती है—

त्वमप्युपस्थिते वर्षे षट्त्रिंशे मधुसूदन
हतज्ञातिर्हतामात्यो हतपुत्रो वनेचरः
अनाथवदविज्ञातो लोकेष्वनभिलक्षितः,
कुत्सितेनाभ्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि।

(स्त्री. २५; ४४–४५)

गांधारी का शाप स्पष्ट है, सरल है और प्रभावशाली है। वह कहती है आज से छत्तीसवें वर्ष आप 'हतज्ञाति' (तमाम स्वजनों की मृत्यु के शोक से ग्रस्त) हतामात्यो (आपके आमात्य मारे गये होंगे) और हतपुत्रो (पुत्र भी मारे गये होंगे) बन गये होंगे और वन में अजनबी की तरह भटकते होंगे, तब किसी कुत्सित उपाय से आपका मरण होगा।

ऐसा घोर शाप सुनकर अच्छे भले व्यक्ति की हालत पतली हो जाती पर कृष्ण स्वस्थचित इस शाप को अंगीकार करते हैं। वे पूर्ण रूप से स्वस्थ बने रहते हैं : हँसते-हँसते कहते हैं :

जानेऽहमेतदप्येवं चीर्णं चरसि क्षत्रिये
दैवादेव विनश्यन्ति वृष्णयो नात्र संशयः ।

(स्त्री. २५; ४८)

ऐसे शाप का उत्तर हँसकर देना, यही एक महान विरल घटना है। इस उत्तर का पहला शब्द है—'जानता हूँ'--कहा है। कर्ण से जब कुंती और कृष्ण ने उसके कुल की कथा कही तब कर्ण का उत्तर भी 'जानता हूँ' इन्हीं शब्दों से आरंभ हुआ था। कृष्ण और कर्ण इन दो पात्रों में बहुत साम्य है। भीष्म ने कर्ण को पाण्डवों के पक्ष में जाने की सलाह दी, तब कर्ण ने यह साम्य प्रगट किया था, यह हम पहले देख चुके हैं। कर्ण ने उस समय कहा था कि जो स्थान पाण्डवों के पक्ष में कृष्ण का है, वही स्थान कौरवपक्ष में मेरा है। कृष्ण भी इस घोर शाप का उत्तर स्मित के साथ 'जानता हूँ' इन शब्दों द्वारा देते हैं। 'हे क्षत्रिये, मैं जानता हूँ—कि ऐसा ही होनेवाला है। तूँ शाप देती है, यह वास्तव में तो जो कुछ हो गया है उसी की बात है। कृष्ण ने वृष्णिवंश का नाश कर ही डाला है। अस्तु इस शाप द्वारा गांधारी तो जो कुछ कृष्ण कर चुके हैं उसी का अनुकथन करती है।'

इसके बाद धृतराष्ट्र-युधिष्ठिर के बीच एक रोचक संवाद आता है। युधिष्ठिर धृतराष्ट्र को बताता है कि युद्ध में एक अरब छाछठ करोड़ बीस हजार योद्धा मारे गये, चौबीस हजार एक सौ पैंसठ लापता हो गये, जो उत्साह से मरे वे ब्रह्मलोक में गये, जो अप्रसन्न मन से मरे वे गन्धर्व हुए, प्राण की रक्षा के लिए कायावरण करते हुए जो मरे वे गुह्यक लोक में गये और जिनके अस्त्र-शस्त्र कट गये फिर भी वे शत्रु का सामना करते रहे, वे ब्रह्मलोक में गये।

इसके बाद अर्घ्य अर्पित किया जाता है: इस तर्पण के समय कुंती पहली बार अपनी लज्जा प्रगट करती है। वह कहती है:

कुरुध्वमुदकं तस्य भ्रातुरकिलष्ट कर्मण:
सहिवः पूर्वजो भ्राता भास्करान्मय्यजायत।
कुंडली कवची शूरो दिवाकरसमप्रभः।

(स्त्री. २७; १२-१३)

पुत्रों, आप अपने बड़ें भाई का जल से तर्पण करें, क्लिष्ट कर्मों का करनेवाला यह आपका भाई सूर्य के अंश से मेरे गर्भ से प्रगट हुआ

था। जन्म से उसके देह पर कवच-कुण्डल थे और वह सूर्य जैसा तेजस्वी था।

युधिष्ठिर सब भाइयों की ओर से कर्ण के लिए शोक व्यक्त करता है। वह कहता है कि मुझे पता होता कि कर्ण मेरा बड़ा भाई है तो हम उसे प्राप्त करते और यह युद्ध होने ही न देते।

कर्ण को अंजलि देने के बाद युधिष्ठिर शाप देते हैं। कुंती ने यह महान रहस्य एकदम अन्त तक छुपा रखा, इस कारण बड़े भाई की हत्या का पाप उन्हें करना पड़ा। इस कारण वे स्त्री जाति को शाप देते हैं। यह क्षेपक भी हो सकता है, पर क्षेपक नहीं है यह इतनी रूढ़ बात है। वह कहता है—

अतो मनसि यदगुह्यं स्त्रीणां तन्न भविष्यति।
(स्त्री. २७;२९)

आगे से स्त्री के मन में कोई बात गुप्त नहीं रहेगी।

४१. भीष्म का स्तवराज

शांतिपर्व का प्रारंभ युद्ध के बाद की शांति जैसी होती है, ऐसे ही वातावरण में होता है। युधिष्ठिर विजेता हैं परन्तु विजय का उन्माद उसके मन में नहीं है। विजय के विषाद ने उसे घेर लिया है। बन्धुओं और स्वजनों की हत्या से प्राप्त यह विजय उसे कड़वी लगती है। इसमें भी कर्ण के वधका दुःख युधिष्ठिर को सब से ज्यादा है।

कर्णार्जुन सहायोऽहं जयेयमपि वासवम्।
(शांति, १; ३९)

कर्ण और अर्जुन मेरे साथ होते तो मैं देवराज इन्द्र को भी जीत सका होता। कर्ण जैसा बड़ा भाई होते हुए भी स्वयं उसकी मृत्यु का निमित्त बना, इसका युधिष्ठिर को दुख है, पर 'कर्णार्जुन-सहाय' की बात करता है, तब अहम् (मैं) का उच्चार तो उससे हो ही जाता है। वास्तव में कर्ण मेरी और अर्जुन की सहायता से इन्द्र को भी जीत सका होता। ऐसा छोटे भाई के रूप में उसे कहना चाहिये था। इसके

बदले 'मैं जीत सका होता' ऐसे शब्द युधिष्ठिर के मुख में रखकर महाकवि व्यास ने युधिष्ठिर के उद्‌गार को मानव-सहज बनाया है।

तथापि कर्ण के प्रति रोष और प्रीति दोनों भाव क्यों आते रहते थे इसका समाधान भी युधिष्ठिर को मिल जाता है। कर्ण के वचनों से रोष भरे युधिष्ठिर उसके चरण देखते तब उनका क्रोध शांत हो जाता था, कारण यह कि—

कुन्त्या हि सदृशौ पादौ कर्णस्येति मतिर्मम।

(शांति, १; ४२)

कर्ण के पैर कुंती जैसे ही थे ऐसा मुझे लगता है। कर्ण के पैर देखकर युधिष्ठिर को माता की याद आ जाती थी और इसी से कर्ण पर आया रोष ठंडा हो जाता था।

कर्ण का वृत्तान्त नारद कहते हैं: कर्ण को मिले दो शाप के साथ ही कर्ण द्वारा किये गये पराक्रमों की कथा नारद कहते हैं, तब युधिष्ठर का विषाद घटने के बदले बढ़ जाता है। वह कह उठता है:

स परिग्रहमुत्सृज्य कृत्स्नं राज्यं सुखानि च,
गमिष्यामि विनिर्मुक्तो विशोको निर्ममः क्वचित्।

(शांति, ७; ४२-४३)

मैं परिग्रह का त्याग करके, राज-सुख को भी छोड़कर विनिर्मुक्त (बन्धन-मुक्त), शोकमुक्त और ममतामुक्त होकर वन में चला जाऊँगा।

यहाँ अर्जुन और युधिष्ठिर के बीच जो विवाद होता है उसमें भ्रातृस्नेह तो है ही पर केवल इतना ही नहीं है। पांचाली के स्वयंवर के बाद दोनों भाइयों के बीच पड़ गई दरार की भी थोड़ी झलक आती है। अर्जुन यज्ञ और अर्थ पर बल देता है। युधिष्ठिर तप की बात करता है। अर्जुन के पक्ष में द्रौपदी, भीम आदि भी बोलते हैं। फिर एक बार महामुनि व्यास स्वयं आते हैं और वे युधिष्ठिर को राजधर्म का बोध कराते हैं। अर्जुन से लेकर महामुनि व्यास तक के शब्दों से युधिष्ठिर के मन का समाधान नहीं होता, पर अब कृष्ण बोलते हैं—

नेदानीमतिनिर्बन्ध शोके त्वं कर्तुमर्हसि।
यदाह भगवान व्यासः तत कुरुष्व नृपोत्तम॥

(शांति, ३७, २१)

राजाओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर, अब आप हठाग्रही मति से शोक को पकड़कर बैठे न रहें। भगवान व्यास आपको जो आज्ञा देते हैं उसीके अनुसार काम करें।

व्यास की आज्ञा का महत्व कृष्ण बताते हैं, तब युधिष्ठिर को मानना ही पड़ता है।

इसके बाद युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ अपने-अपने महल में प्रवेश करते हैं। कृष्ण स्वाभाविक ढंग से ही अर्जुन के महल में जाते हैं। इसका वर्णन महामुनि व्यास आकर्षक ढंग से करते हैं :

सह सात्यकिना शौरिरर्जुनस्य निवेशनम्
विवेश पुरुषव्याघ्रो व्याघ्रोगिरिगुहामिव।

(शांति, ४४;१५)

जैसे बाघ पर्वत में स्थित अपनी गुफा में प्रवेश करता है उस प्रकार पुरुषव्याघ्र जैसे कृष्ण सात्यकि के साथ अर्जुन के भवन में प्रविष्ट हुए।

कृष्ण पाण्डवों के केन्द्र में हैं। दूसरे दिन युधिष्ठिर जाकर पलंग पर ध्यानमग्न बैठे कृष्ण की स्तुति करते हैं और कुशल समाचार पूछते हैं। कृष्ण कोई उत्तर नहीं देते। वे अभी अपने ध्यान में ही डूबे हैं। अस्तु, युधिष्ठिर को कुछ अजीब-सा लगता है। वह पूछ बैठता है : "आप अब इस समय किसके ध्यान में हैं ? तीनों लोक की कुशल तो है न ?"

नेंगन्ति तव रोमाणि स्थिरा बुद्धिस्तथा मनः,
काष्ठकुड्य शिलाभूतो निरीहाश्चासि माधव।

(शांति, ४६,५)

आपके रोयें खड़े हो गये हैं, आप लेशमात्र भी हिल नहीं रहे हैं, आपकी बुद्धि और मन दोनों स्थिर हैं। आप काठ, पत्थर, दीवार आदि की भाँति जड़ बने दिखाई पड़ रहे हैं।

कृष्ण ऐसे निश्चेतन बने क्या सोच रहे हैं, यह प्रश्न युधिष्ठिर के मन में उठता है।

कृष्ण की सर्वग्राहिता यहाँ दिखाई पड़ती है। कोई पराजय की हताशा में, तो कोई विजय के उत्साह में है, पर जो हारे हैं वे, और जो जीते हैं वे भीष्म को भूल गये हैं। केवल जो न हारे हैं न जीते हैं, ऐसे कृष्ण का मन भीष्म को याद कर रहा है। कृष्ण कहते हैं—

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः,
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रः ततो मे तद्गतं मनः ।

(शांति, ४६;१२)

शरशय्या पर पड़े भीष्म तो इस समय बुझते हुताशन जैसे हैं, यह पुरुषव्याघ्र इस समय मेरा ध्यान कर रहे हैं। इसलिए मेरा मन भी उन्हीं पर स्थिर हुआ है।

कृष्ण का शरीर पलंग पर बैठा है पर उसका मन पहुँचा है भीष्म के पास।

भीष्म के पराक्रम का वर्णन करते हुए कृष्ण 'तमस्मि मनसागतः' (उनमें मेरा चित्त लगा है) ऐसा कहते हैं, और फिर युधिष्ठिर से कहते हैं :

चातुर्विद्यं चातुर्होत्रं चातुराश्रम्यमेव च,
राजधर्मांश्च निखिलान् पृच्छैनं पृथिवीपते ।

(शांति, ४६;२२)

चार विद्याओं, चार होताओं, चार आश्रमों के साथ ही समस्त राज्यधर्म, इनमें से जिनकी बाबत भी मन में सन्देह हो उसके बारे में भीष्म के पास जाकर प्रश्न करो।

भीष्म तो कई प्रकार से कुरुवंश के बुजुर्ग थे। दुर्योधन ने भीष्म के बल पर दारोमदार रखकर लड़ने का निश्चय किया, पर भीष्म के पास से जो ज्ञान प्राप्त करना चाहिये था वह प्राप्त नहीं किया। भीष्म ने राज्य कभी नहीं किया, पर राज्यधर्म क्या है यह जितना भीष्म जानते हैं इतना कोई और नहीं जानता। यह बात कृष्ण अच्छी तरह जानते हैं। इसीसे वे युधिष्ठिर से कहते हैं कि यह सूर्य अब अस्त होनेवाला है। यह अस्त हो उससे पहले भीष्म से जो ज्ञान प्राप्त करना हो वह प्राप्त कर लें।

भीष्म भले-चंगे थे, तो भी दुर्योधन उनके पास से कोई ज्ञान प्राप्त न कर सका। युधिष्ठिर भी उससे वंचित रह जाता पर सौभाग्य से युधिष्ठिर के पास कृष्ण हैं : वे युधिष्ठिर को याद दिलाते हैं कि भीष्म भले ही शरशय्या पर हों, बुझते हुताशन जैसे हों, फिर भी उनके पास से जो ज्ञान मिलेगा वह किसी के भी पास से, कभी भी नहीं मिलेगा।

कृष्ण की यह विवेकशक्ति अद्भुत है।

युधिष्ठिर यह सुनता है और सजग बन जाता है। वह कहता है :
"कृष्ण, हम तो आपको आगे करके (स्वयमग्र:) भीष्म के पास जायेंगे।"
भीष्म को अभी कुछ ही दिन पूर्व अधर्म युद्ध में परास्त किया है, यह
बात युधिष्ठिर भूले नहीं हैं। स्वयं आगे रहकर भीष्म का सामना कर
सकें ऐसा नहीं है, इसी से तो कृष्ण को आगे करके जाने को कहते हैं।
कृष्ण को आगे करके युधिष्ठिर जाने की बात करते हैं कि तत्काल
ही कृष्ण जाने को तैयार हो जाते हैं। भीष्म कृष्ण का ध्यान कर रहे
थे और कृष्ण का ध्यान, अपना ध्यान कर रहे भीष्म पर है। कृष्ण
तुरंत अपना रथ जोतने की सात्यकि को आज्ञा देते हैं।

भीष्म को राजपुरुष भूल गये थे। पर भीष्म अपनी शरशय्या पर
अकेले नहीं थे। उनके साथ जो थे उसकी सूची में वेदव्यास, देवर्षि
नारद, देवस्थान, अश्मक, सुमन्तु, जैमिनी, महात्मा पैल, शांडिल्य, देवल,
मैत्रेय, असित, वसिष्ठ ... .

अभी सूची आगे बढ़ती है। इन सब ऋषियों के बीच भीष्म ग्रहों
से घिरे चन्द्र जैसे दिख रहे थे। और ऋषिगण भीष्म को देख रहे थे
और भीष्म, 'स्वरेण हृष्टपुष्टेन' (हृष्टपुष्ट स्वर से) मधुसूदन की
स्तुति कर रहे थे। भीष्म शरशय्या पर थे, पर उनका स्वर हृष्टपुष्ट
था। आदमी की परख उसकी आवाज पर से होती है। कई बार
ऐसा होता है कि आदमी बीमार होता है पर उसकी आवाज बीमार नहीं
होती। दस दिनों के युद्ध और बावीस दिनों की शरशय्या से भीष्म
थके नहीं हैं, उनकी आवाज हृष्टपुष्ट है। और इतने सारे ऋषियों
की उपस्थिति के बावजूद वे ज्ञान के वितण्डावाद में नहीं पड़ते, वे
कृष्ण का स्तवन करते हैं। भीष्मरचित कृष्ण का यह स्तवन सर्वांग सुन्दर
है। भीष्म द्वारा किये गये कृष्णके वर्णन में से हम एक उत्तमस्तुति लें-

> यं वाकेष्वनुवाकेषुनिषत्सूपनिषत्सु च,
> गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यंसत्येषु सामसु।
>
> (शांति, ४७;२६)

वाक् में और अनुवाक् में, निषद् में और उपनिषद् में, सामवेद में
साथ ही सत्य में उन्हें ही सत्य और सत्यकर्मा कहा गया है।

यों तो ये अनुष्टुप् के दो चरण हैं पर इनमें कितनी सारी बातें कह
दी गई हैं, कर्म मात्र को प्रकाशित करनेवाले मंत्रों को 'वाक्' कहते हैं,
मंत्रों का अर्थ खोलकर बतानेवाले ब्राह्मण ग्रंथों के वाक्यों को 'अनुवाक्'

कहते हैं, निषद् का अर्थ है बोलना, आदमी से सम्बन्धित ज्ञान निषद् में आता है और उपनिषद का अर्थ है प्रभु के पास बैठना। वेदों में भगवान ने गीता में अपने आपको अभीष्ट ऐसे सामवेद के समान बताया है। उस सत्य जैसे सामवेद का उल्लेख भी यहाँ हैं। वाक् और अनुवाक् में, निषद् और उपनिषद् में और साथ ही सत्य जैसे सामवेद में कृष्ण ही हैं। सत्य और कृष्ण ही सत्यकर्मा हैं। कृष्ण को सत्य बताकर भीष्म रुक नहीं जाते : वे सत्य तो हैं ही, पर सत्यकर्मा भी हैं। सत्यकर्मों को करनेवाले हैं।

भीष्म के इस स्तवराज–स्तोत्रराज–की बहुत बड़ी महिमा है। इसमें से बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस समूचे स्तवराज की गीता से तुलना की जा सकती है। गीता में योगी के जिन गुणों का कृष्ण ने वर्णन किया है, उन्हीं गुणों का भीष्म ने कृष्ण के लिए वर्णन किया है। कृष्ण को प्रणाम करे तो उसका मूल्य दस अश्वमेध के अवभृथ स्नान जितना है—पर दस अश्वमेध करनेवाला तो पुनः जन्म लेता है, कृष्ण को प्रणाम करनेवाला संसार-सागर से तिर जाता है।

व्यास नाटयात्मक सर्जक हैं; अभी वे युधिष्ठिर का विषाद दूर कर रहे थे। युधिष्ठिर का विषाद दूर हुआ और उसने नगर में प्रवेश किया कि वे फौरन जाकर भीष्म के पास बैठ जाते हैं। कृष्ण भीष्म का ध्यान करते हैं, तब व्यास वहाँ उपस्थित हैं। यह बात वे जोर देकर कहना चाहते हैं कारण यह कि भीष्म के पास उपस्थित रहने वालों में 'व्यासेन वेद विदुषा' (वेदों के जानकार व्यास) का नाम सबसे पहले रखा गया है और ज्यों ही भीष्म कृष्ण की स्तुति पूरी करते हैं तत्काल ही कृष्ण वहाँ पधारते हैं।

कृष्ण को याद करनेवाले के लिए कृष्ण इसी तरह पधारते हैं, यह बात इसके द्वारा व्यास को कहनी होगी ? जो भी हो, भीष्म कृष्ण को याद करना शुरू करते हैं कि तत्काल ही कृष्ण का ध्यान राजमहल में से उठकर शरशय्या पर जाता है और कृष्ण की स्तुति पूरी होती है कि तत्काल कृष्ण का वहाँ प्रवेश होता है।

४२. भीष्म की पीड़ा

भीष्म ने कृष्ण की उत्तम स्तुति की। कृष्ण ने तो गीता में ही

वचन दिया था कि जो भक्त मुझे जिस ढंग से भजता है, मैं भी उसी ढंग से भक्त को भजता हूँ। भीष्म ने कृष्ण का स्तवन किया कि तत्काल ही कृष्ण भीष्म के गुणों का स्तवन करते हैं, पर कृष्ण यह स्तवन करने से पूर्व ऋजु प्रश्न पूछते हैं :

शराभिघात दुःखात् ते कच्चिद गात्रं न दूयते,
मानसादपि दुःखाद्धिशारीरं बलवत्तरम् ।

(शांति, ५०;१४)

शर के आघात के दुःख से आपके गात्रों में पीड़ा तो नहीं है ? मानसिक दुःख से भी शारीरिक दुःख बलवत्तर होता है।

यह प्रश्न कृष्ण ही पूछ सकते हैं। भीष्म के मानसिक दुःख को तो वे स्वीकार कर लेते हैं। इतना बड़ा कुलक्षय भीष्म ने कुरुक्षेत्र में शरशय्या पर लेटे-लेटे देखा है। चालीस दिन शरशय्या पर पड़े रहने के बाद भी कोई स्वजन उनकी खबर पूछने नहीं आया है, यह दुःख भी भीष्म के मन में हो सकता है। जिस पक्ष में कृष्ण थे, उस पक्ष के विरुद्ध लड़ने का कर्त्तव्य उन्हें मिला था। जिन मूल्यों की रक्षा करने को वे मथते थे उन्हें नष्ट करने वाले दुर्योधन के सेनापति के रूप स्वयं को लड़ना पड़ा था 'अर्थस्य पुरुषो दासः' की उक्ति तो हम देख ही चुके हैं। दस दिनों के युद्ध में भीष्म ने न जाने कितने प्रतापी स्वजनों का संहार किया था। इस कारण भी भीष्म को मानसिक परिताप तो होगा ही, इसी से मानसिक परिताप स्वीकार लेने के कृष्ण के औदार्य से ही थोड़ा दुःख हलका बनता है। किसी व्यक्ति से 'मैं जानता हूँ कि तूं दुःखी हैं' कहें तब उसका दुःख हलका होता ही है। कृष्ण इसके आगे बढ़ते हैं। दस दिन तक भीष्म पर हुई शर-वर्षा और खास कर पार्थ के तीक्ष्ण बाणों को प्रतिकार किये बिना अंगों पर झेला तब की शारीरिक पीड़ा तो होगी ही। अस्तु, भीष्म के पराक्रम को वे याद करते हैं और उस पराक्रम के परिणाम स्वरूप कोई देह पीड़ा तो नहीं है न, ऐसा प्रश्न करते हैं। भीष्म जैसे प्रतापी पुरुष मानसिक पीड़ा तो जवान थे तब से भोगते आये थे। पिता को मत्स्यगंधा के प्रेम में पड़े देखा, तभी से भीष्म के मानसिक परिताप का आरंभ हो गया था। भीष्म का मानसिक परिताप बेजोड़ था तो उसे सहन करने के लिए काठी भी उन्हें मिली थी, पर कैसा

भी पुरुषसिंह क्यों न हो देह की पीड़ा असह्य होती है। इस देह की पीड़ा की खबर कृष्ण पूछते हैं।

कृष्ण ने भीष्म के पास आकर सबसे पहला संबोधन 'वदतां वर' (बोलने वालों में श्रेष्ठ) किया था। उद्देश्य यह है कि कृष्ण चाहते हैं कि पाण्डव अब राजा बने हैं तो भीष्म के पास से ज्ञान प्राप्त करें। भीष्म की शारीरिक पीड़ा के प्रति वे सचेत हैं। अस्तु, सबसे पहले इलाज तो वे भीष्म की मानसिक पीड़ा का करते हैं।

> कामं नैतत् तवाख्येयं प्राणिनां प्रभवाप्ययौ,
> उपदेष्टुं भवान्शक्तो देवानामपि भारत।
>
> (शांति, ५०;१७)

'जीव पैदा होता है और मरण प्राप्त करता है'--ऐसी बात आपके सामने करने का कोई अर्थ है क्या? आपको उपदेश देने की औकात तो देवताओं के पास भी नहीं है।

मानसिक परिताप के ज्ञान का अभाव कारण रूप नहीं होता। हो तो भी वह काम न आये यह स्थिति कारण रूप होती है। किसी निकट के स्वजन के अवसान से स्तब्ध हो जाते हैं तब मृत्यु यह तो सबके लिए अवश्यंभावी है इस ज्ञान का अभाव तो नहीं ही होता। विस्मरण भी नहीं होता, मात्र इतना कि उतने क्षणों के लिए वह ज्ञान बेकाम बन जाता है। भीष्म के साथ भी ऐसा हुआ है। कृष्ण इन्हीं दो पंक्तियों द्वारा उनका परिताप दूर कर देते हैं।

मानसिक परिताप को दूर करने के लिए ज्ञान को सक्रिय करना चाहिये पर इसके साथ ही ज्ञान सक्रिय हो सके ऐसे प्रतापी व्यक्तित्व को चैतन्य करना भी जरूरी है। अतः भीष्म द्वारा की गई कृष्ण की स्तुति के बाद अब कृष्ण द्वारा की जाती भीष्म की स्तुति आती है। किसी प्रतापी व्यक्ति द्वारा आदमी की स्तुति हो तो वह पुलकित हुए बिना नहीं रहता। इतने सारे ऋषियों के बीच, भरतखण्ड के चक्रवर्ती शासक पाण्डवों की उपस्थिति में कृष्ण कहते हैं—

> मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः,
> भवतो वा गुणैर्युक्तः पृथिव्यां पुरुष क्वचित्।
>
> (शांति, ५०;२८)

हे मनुष्येन्द्र, इस पृथ्वी पर आपके जैसा गुणों से युक्त पुरुष मैंने न कहीं देखा, न कहीं सुना।

कृष्ण जैसे कृष्ण भीष्म को मनुष्येन्द्र कहें और इन शब्दों में बात करें तो इतने से ही भीष्म का मानसिक परिताप तो वह हर ही लेते हैं। पर इसके साथ ही वे भीष्म के ज्ञान को भी सक्रिय करना चाहते हैं, इसी से वे अन्त में अपने आगमन का प्रयोजन बताते हैं :

स पाण्डवेयस्य मनः समुत्थितं
नरेन्द्र शोकं व्यपकर्ष मेधया,
भवद्विधा ह्युत्तमबुद्धिविस्तरा
विमुह्यमानस्य नर शान्तये।

(शांति, ५०;२८)

हे नरेन्द्र, पाण्डवों के मन में जो शोक के बादल छा गये हैं उन्हें आप बुद्धि से दूर करें। आपके जैसे बुद्धि विस्तार वाले पुरुष मोह-ग्रस्त पुरुष के शांतिप्रदायक बनते हैं।

इसके द्वारा भीष्म का मानसिक परिताप और युधिष्ठिर का मानसिक परिताप ये दोनों भिन्न-भिन्न स्तर के हैं यह भी कृष्ण बता देते हैं। भीष्म की बुद्धि का विस्तार हुआ है। युधिष्ठिर मोहग्रस्त है। मोह बुद्धि से ही दूर हो सकता है।

कृष्ण भीष्म से जब ऐसा कहते हैं तो भीष्म की मानसिक व्यथा तो घटती है, पर शारीरिक पीड़ा जैसी की तैसी है, पर इन सब पीड़ाओं के बीच भीष्म अपने मन का सन्तुलन खो नहीं बैठे हैं। भीष्म कृष्ण के दिव्य स्वरूप को देख सकते हैं। उन्हें प्रणाम करते हैं। कृष्ण जिन विरल प्रसंगों में अपनी महिमा का दर्शन कराते हैं, उनमें से यह एक है। कृष्ण भीष्म से कहते हैं : "आपकी पराभक्ति मुझ में है, इसी से तो मैंने अपने दिव्य स्वरूप का दर्शन आपको कराया। अब आप शोक के कारण 'हतश्रुतायै' (शास्त्रज्ञान खो बैठे) जैसे अपने युधिष्ठिर को धर्म, अर्थ तथा समाधियुक्त ज्ञान का बोध करायें।"

पर कृष्ण भीष्म के वचनों से फूल नहीं जाते। कृष्ण स्वयं इस ज्ञान का मूल हैं और चाहे तो स्वयं ज्ञान दे सकते हैं इस तथ्य से भी भीष्म अपरिचित नहीं हैं। इसी से वे कहते हैं :

कथयेद् देवलोकं यो देवराजसमीपतः,
धर्मकामार्थमोक्षाणां सोऽर्थंब्रूयात् तवाग्रतः।

(शांति, ५२;५)

जो देवराज के सामने देवलोक का वर्णन कर सके वही आपकी उपस्थिति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की बात बोल सकता है।

कृष्ण सकल ज्ञान के स्रष्टा हैं। उनकी उपस्थिति में उपदेश करना यह कितना दुष्कर है यह बात भीष्म सबसे पहले समझाते हैं तथापि कृष्ण ने आज्ञा की है यह बात भी वे भूलते नहीं हैं। कृष्ण जो कहते हैं वह करना चाहिये। कृष्ण ने मानसिक पीड़ा तो हर ली परन्तु शारीरिक पीड़ा का क्या? भीष्म कहते हैं :

न च मै प्रतिभा काचिदस्ति किंचित् प्रभाषितुम्
पीडयमानस्य गोविन्द विषानलसमैः शरैः।

(शांति, ५२;७)

हे गोविन्द, ये बाण विष और अग्नि की भांति मुझे निरंतर पीड़ा दे रहे हैं अस्तु, मेरे अन्दर कुछ भी कहने की प्रतिभा ही नहीं रही है।

भीष्म की शारीरिक पीड़ा का पार नहीं है। कृष्ण इस पीड़ा को जानते हैं। शरीर को ग्लानि, मूर्छा, दाह, क्षुधा, प्यास आदि भाव आ रहे हैं।

शरीर की पीड़ा दूर न हो, तब तक ज्ञान स्वस्थ रूप से सक्रिय नहीं हो सकता। कृष्ण यहाँ त्वरित उपचार करते हैं। कृष्ण भीष्म को वरदान देते हैं--

न ते ग्लानिनते मूर्छा न दाहो न च ते रुजा,
प्रभविष्यन्ति गांगेय क्षुत् पिपासे न चाप्युत।

(शांति, ५२,१६)

गांगेय, आपको ग्लानि नहीं रहेगी, न मूर्छा न दाह रहेगा, पीड़ा, क्षुधा, क्षुधा या पिपासा का कष्ट भी आपको नहीं रहेगा। और फिर सुन्दर उपमा देते हैं।

आप ज्ञान दृष्टि से संसार बंधन में पड़ने वाले संपूर्ण जीव समुदाय को उसी प्रकार देख सकेंगे जैसे मछली निर्मल जल में सब कुछ देख सकती है।

भीष्म की पीड़ा दूर होती है, वातावरण की ग्लानि हट जाती है। इस बात का वर्णन ऐसा कुछ भी कहे बिना महाकवि व्यास इस प्रकार करते हैं --

ततः सर्वार्तवं दिव्यं पुष्पवर्षं नभस्तलात्
पपात यत्र वार्ष्णेयः स गांगेयः सपाण्डवः ।

(शांति, ५२,२३)

कवि की शब्द-योजना ध्यान देने लायक है। जहाँ कृष्ण सगांगेय (अर्थात् भीष्म के साथ हैं) वहाँ नभस्तल में से सभी ऋतुओं में खिलने वाले पुष्पों की वर्षा होने लगी।

कवि का क्रम भी देखने लायक है। गांगेय के साथ इस शब्द को प्रथम महत्व देते हैं। पाण्डव को दूसरा क्रम मिलता है। गांगेय तथा पाण्डव के साथ रहने वाले कृष्ण जहाँ थे वहाँ सर्व ऋतुओं में खिलने वाले पुष्पों की वर्षा होने लगी।

सूर्यास्त हुआ है यह बात भी पश्चिम दिशा के एकान्त प्रदेश में वन को सहस्रांशु दिवाकर दाह दे रहे हैं, ऐसे शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं।

साँझ हो गई है। भीष्म के मानसिक और शारीरिक परिताप शांत हो गये हैं। अब तो आगामी कल सूर्य उगे इसकी राह देखनी रह गयी है। ऋषिगण, पाण्डव और कृष्ण भीष्म की परिक्रमा करते हैं, ऋषिगण अपने स्थान को जाते हैं, कृष्ण और पाण्डव मंगलमय रथ पर बैठ कर जैसे श्रमान्वित मृगपति गुफा में प्रवेश करता है वैसे हस्तिनापुर के अपने महालयों में प्रवेश करते हैं।

४३. भीष्म का उपदेश

अब 'महाभारत' नामक ग्रन्थ अन्त की ओर अग्रसर होता है, तब कृष्ण नामक पात्र को महाकवि व्यास धीरे-धीरे समेटना आरंभ करते हैं। इतने बड़े ग्रंथ में इतनी सारी घटनाओं के बीच कहीं भी कृष्ण की दिनचर्या कहने का लाभ महाकवि ने उठाया नहीं था। इस समय वे कृष्ण की दिनचर्या का वर्णन करते हैं। भीष्म के पास से वापस लौटने के बाद पाण्डवगण तो अपने-अपने महल में जाकर सो गये, कृष्ण शयन का आश्रय लेकर सो गये परन्तु—

याममात्रार्धशेषायां यामिन्यां प्रत्यबुद्धयत ।

(शांति, ५३,१)

रात का आधा प्रहर बाकी था तब वे जागे। जागृति के लिए कवि ने 'प्रत्यबुद्धयत' जैसे शब्द का प्रयोग किया है। जागना और प्रबुद्ध होना इन दोनों के बीच बहुत अन्तर होता है।

कृष्ण भगवान हैं। वे ब्राह्ममुहूर्त में जागकर क्या करते हैं? कृष्ण जागकर ध्यान करने बैठते हैं: ध्यान में वे अपने सनातन ब्रह्म स्वरूप का चिंतन करते हैं। कृष्ण ध्यान में सनातन ब्रह्म पर मति स्थिर करते हैं, तब ब्राह्ममुहूर्त में जागे स्तुति पुराण आदि के जानकार 'रक्तकंठा' और 'सुशिक्षिता' ऐसे महामना प्रजापति जैसे वासुदेव की स्तुति कर रहे हैं। प्रातःकाल में वासुदेव के भवन में प्रवर्तित मंगल वातावरण का चित्रण कवि ने मधुर ढंग से किया है।

पहले ध्यान, फिर स्नान, स्नान के बाद गूढ़ मंत्र का जप, फिर अग्निहोत्र, इसके बाद ब्राह्मणों को दान, ब्राह्मणों द्वारा वेदमंत्रों का पाठ और स्वस्तिवाचन, इसके बाद मंगल वस्तुओं का स्पर्श, फिर विमल आदर्श में (स्वच्छ दर्पण में) स्वयं का दर्शन करना।

यह सारी प्रातश्चर्या के बाद कृष्ण अब अपने दुनियाई काम की ओर मुड़ते हैं। वे सात्यकि को बुलाकर कहते हैं: 'जरा जाकर देखो, युधिष्ठिर तैयार हो गये हैं कि नहीं ?'

श्रीकृष्ण की प्रेरणा से भीष्म के पास ज्ञान लेने जाना है। अस्तु, युधिष्ठिर भी तैयार है। वे अर्जुन को रथ तैयार करवाने की आज्ञा देते हैं, तब विशेष सूचना देते हैं:

न सैनिकैश्च यातव्यं यास्मायो वयमेव हि।
न च पीडयितव्यो मे भीष्मो धर्मभृतां वरः ॥

(शांति, ५३'१५)

राजा की सवारी है, सामान्यतः आगे-पीछे सैनिकों का दबदबा होगा। परन्तु आज तो पाण्डव भीष्म के पास ज्ञान लेने जा रहे हैं। अस्तु धर्मात्माओं में वर (श्रेष्ठ) भीष्म को लेशमात्र भी पीड़ा न हो, इस हेतु सैनिकों को साथ न लेना। हम लोग अकेले ही जायेंगे।

अब तक महाकवि अर्जुन के रथ की और कृष्ण के सारथिपन की प्रशंसा करते थे। अब कृष्ण के रथ की बात आती है तब बलाहक मेघ, पुष्प, शैक्य और सुग्रीव नाम के चार अश्वों की सहायता से दारुक द्वारा संचालित इस वाहन के लिए किया गया वर्णन अनन्य है। वासुदेव के ये अश्व और उनका रथ :—

ते ग्रसन्त इवाकाशं वेगवन्तो महाबलाः।

(शांति, ५३,२३)

वेगवान और महाबलवान ये अश्व आकाश को ग्रस लेते थे। कृष्ण सहित पाण्डव जब भीष्म के पास पहुँचते हैं, तब भीष्म कैसे दिखाई पड़ते हैं ? 'आदित्य पतितं यथा'—मानो सूर्य नीचे आ पड़ा हो ऐसे महातेजस्वी भीष्म को देखकर महाबाहु युधिष्ठिर भय से काँपने लगते हैं।

व्यास परिस्थितियों को नाटचात्मक बनाकर रखते हैं। भीष्म का उपदेश सुनने के लिए पाण्डव ही नहीं कुरुक्षेत्र के युद्ध में से जो भी राजा बचे हैं, वे सब आये हैं। नारद तब आकर इन सबको संबोधित करके कहते हैं, अब भीष्म का समय आ गया है। वे इस शरीर को छोड़ देनेवाले हैं। अस्तु मन में कोई सन्देह हो तो उसके बारे में भीष्म से प्रश्न करें-यह क्षण है, फिर भीष्म जैसा ज्ञाता नहीं मिलेगा !

नारद समग्र परिस्थिति को सामने लाकर रखते हैं। संहार का शोक और ऐसी सभी स्थूल बातों में उलझे इन राजपुरुषों को वे भीष्म से सीधे बात करने की सूचना देते हैं। भीष्म जैसे प्रतापी और तेजस्वी पुरुष के सामने प्रश्न कौन करे ? सभी एक दूसरे का मुँह देखते खड़े रहते हैं। अन्त में युधिष्ठिर कहते हैं--

नान्यस्तु देवकीपुत्रात् शक्तः प्रष्टुं पितामहम्।

(शांति, ५४,१२)

पितामह से प्रश्न कर सके ऐसा यहाँ देवकीपुत्र कृष्ण के सिवा दूसरा कोई भी नहीं है।

भीष्म को कृष्ण बारंबार निष्पाप, जीवन भर कोई अंगुली न उठा सके ऐसा जीने वाला मनुष्य कहकर सम्बोधित करते हैं। ऐसे भीष्म विगत इकतालीस दिन से शरशय्या पर पड़े हैं। इस तप का बल भी उनके चेहरे पर दमक रहा है। सूर्य उत्तरायण के हों तब तक मृत्यु को भी थोड़ी देर रुक कर राह देखने को कह सकने वाले भीष्म की आँख में आँख पिरोकर बात करने की कृष्ण के सिवा दूसरे किसी में हिम्मत नहीं थी।

कृष्ण भीष्म के साथ संवाद शुरू करतेहैं :

कच्चित् सुखेन रजनीव्युष्टा ते राजसत्तम,
विस्पष्टलक्षणा बुद्धिः कच्चिच्चोपस्थिता तव ।

(शांति, ५४;२५)

हे राजसत्तम, आपकी रात तो सुख से बीती न ? विस्पष्टलक्षणा सभी लक्षणों को स्पष्ट करें ऐसी बुद्धि आप में विलस उठी है न ?

भीष्म को यह स्वस्थता, शांति, दुखःरहित ज्ञान यह सब कुछ कृष्ण की कृपा से मिला है। भीष्म यह बात भूलते नहीं। 'तव प्रसादात् वार्ष्णेय' (वृष्णिनंदन आपकी कृपा से) दाह, मोह, श्रम, विकलता, ग्लानि और रुजा (रोग) तत्काल दूर हो गये थे। और इस समय तो हाथ में रखे फल को हम देख सकते हैं इस प्रकार मैं भूत, भविष्य और वर्तमान--इन तीनों कालों की बातों को सुस्पष्ट रूप से देख सकता हूँ।

पर भीष्म में विवेक है। स्वयं यह ज्ञान कृष्ण की कृपा से प्राप्त कर सके हैं यह वे जानते हैं। इसी से वे कृष्ण से कहते हैं :

स्वयं किमर्थं तु भवान् श्रेयो न प्राह पाण्डवम्
किं ते विवक्षितं चात्र तदाशु वद माधव ।

(शांति, ५४;२४)

माधव, मुझे यह जानना है कि आप स्वयं यह श्रेय कारक उपदेश युधिष्ठिर को किस लिए नहीं देते ? मुझे यह रहस्य बतायें।

कृष्ण का उत्तर यहाँ अद्‌भुत है। अब कृष्ण अपने ऐश्वर्य के बावत विनम्र होना नहीं चाहते। वे कहते हैं : यश और श्रेय का मूल मैं ही हूँ। संसार में जो सत् और असत् पदार्थ हैं, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं। मैं कुछ कहूँ तो मैं तो परमेश्वर हूँ। मैं दिव्य उपदेश दे सकता हूँ। उससे सब लोग स्तब्ध और चकित होंगे, पर उसका आश्चर्य किसी को नहीं होगा। जिस उपदेश का आश्चर्यकारी प्रभाव न पड़े वह उपदेश जीवन में नहीं उतारा जा सकता। कृष्ण तो समूची गीता कह चुके हैं। अब वे अधिक कुछ भी कहें उसे ईश्वरी वाणी के रूप में सब स्वीकार करेंगे। पर इस से किसी को आश्चर्य तो नहीं ही होगा।

कृष्ण के लिए यह एक कारण ही उपदेश न देने के लिए पर्याप्त है। परन्तु इसके सिवा भी उनके पास कारण हैं। वे कहते हैं : भीष्म

मुझे इस संसार में आपके महान यश की प्रतिष्ठा करनी है। इसी से तो मैंने आपको विशाल बुद्धि प्रदान की है।

यच्च त्वं वक्ष्यसे भीष्म पाण्डवायानुपृच्छते,
वेद प्रवादा इव ते स्थास्यते वसुधातले।

(शांति, ५४;२०)

युधिष्ठिर के प्रश्नों के उत्तर में आप जो कुछ भी कहेंगे वह वेद के प्रवाह की भाँति इस वसुधा के पट पर स्थायी रहेगा।

कृष्ण से यह सम्मति मिलने के बाद ही भीष्म उपदेश देने को तत्पर होते हैं। वे कहते हैं 'दृढ़े वांगमनसी मम' (वाणी अब मेरे मन में दृढ़ हुई है।) अस्तु अब जिसके जन्म के समय सभी महर्षि प्रफुल्लित हो उठे थे वह पाण्डव-अर्थात् युधिष्ठिर मुझ से जो पूछना चाहें पूछे। 'स मां पृच्छतु पाण्डवः' ऐसा कहकर युधिष्ठिर के यश और महिमा का वर्णन करने वाले आठ श्लोक भीष्म बोलते हैं--

कृष्ण इसके उतर में कहते हैं--

लज्जया परयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः
अभिशाप भयाद् भीतो भवन्तं नोपसर्पति।

(शांति, ५५;११)

धर्मराज इस समय बहुत लज्जित है। वे शाप के भय से आपके निकट आने से डरते हैं।

भीष्म युधिष्ठिर का भय दूर करते हैं। युद्ध में स्वजन या गुरुजन का वध करना कोई पाप नहीं है, यह बात उसके मन में धँसाते हैं। अब युधिष्ठिर में प्रश्न करने की हिम्मत आती है। वे प्रश्न किस प्रकार शुरू करते हैं और भीष्म उत्तर किस प्रकार शुरू करते हैं, यह अवलोकनीय है।

युधिष्ठिर प्रश्न पूछने से पहले--

प्रणिपत्य हृषीकेशमभिवाद्य पितामहम्।
अनुमान्य गुरून् सर्वान् पर्यपृच्छद् युधिष्ठिर.॥

(शांति, ५६; १)

कृष्ण को प्रणाम करके, पितामह का अभिवादन करके तथा सभी गुरुजनों की अनुमति लेकर युधिष्ठिर ने प्रश्न किया।

भीष्म इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार आरंभ करते हैं:

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वैधसे,
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान वक्ष्यामि शाश्वतान् ।
(शांति, ५६;१०)

वे सबसे पहले धर्म को नमस्कार करते हैं। फिर वे जो विधाता हैं ऐसे कृष्ण को नमस्कार करते हैं फिर ब्राह्मणों को प्रणाम करते हैं और शाश्वत धर्म का वर्णन आरंभ करते हैं।

कृष्ण की महिमा मोहवश युधिष्ठिर को भी पूर्णतः ज्ञात है। ज्ञान-सम्पन्न भीष्म भी कृष्ण के ऐश्वर्य को जानते हैं। शांतिपर्व का समग्र ज्ञान कृष्ण की कृपा बिना भीष्म को प्राप्त न हो सका होता।

शांतिपर्व में कृष्ण भगवान के रूप में, परमेश्वर के रूप में ही आते हैं। यह सबसे ऊँची पूंजी है इस बात का ध्यान महाकवि व्यास हमें हर क्षण कराते चलते हैं।

४४. शांति पर्व

शांति पर्व ऐसे तो भीष्म और युधिष्ठिर के बीच का वार्तालाप है, पर यह वार्तालाप श्रीकृष्ण की प्रेरणा से हुआ है। भीष्म को यह वार्तालाप करने की स्वस्थता और प्रज्ञा कृष्ण ने ही दी है। कृष्ण इस वार्तालाप के स्रष्टा हैं, द्रष्टा हैं और श्रोता भी हैं।

महाभारत में इस समय तक सक्रिय रहे कृष्ण पहेली सुलझ जाने के बाद अब कुछ भी छुपाने का नहीं रहा है ऐसी स्वस्थता से शांति-पर्व में वर्णित उपदेश सुनते हैं। महाभारत का युद्ध चलता था तब तक कृष्ण के ऐश्वर्य के बारे में कुछ लोक शंका करते थे। पर अब कृष्ण का ऐश्वर्य सिद्ध हो चुका प्रमेय है। इस विषय में कोई रहस्य नहीं है।

शांतिपर्व में राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्म के विषय में भीष्म युधिष्ठिर को जो उपदेश देते हैं वे राजनीति के सिद्धान्तों की चर्चा में ठीक-ठीक चर्चित हो चुके हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि महाकवि राज्यशास्त्र की पाठ्य-पुस्तक लिख रहे हैं। पर कथन-शैली पाठ्य-पुस्तक जैसी नीरस नहीं है। बाघ के मंत्री बनने वाले सियार पर लगे आक्षेप की और घोर तपस्या करके सौ योजन तक मुँह फैलाकर

धारा करने का वरदान माँगने के बाद, अपने जैसे मरण के शरण होने वाले ऊँट की कथा जैसे उपाख्यानों-आख्यानों-बोध-प्रसंगों आदि के द्वारा भीष्म सारी बात रसप्रद बनाकर कहते हैं।

सम्पूर्ण वार्ता में कृष्ण श्रोता रूप में उपस्थित हैं, यह बात महाकवि व्यास भूलते नहीं और कृष्ण उपस्थित है तो भी २०७वें अध्याय में युधिष्ठिर भीष्म से पूछते हैं—

> पितामह महाप्राज्ञ पुंडरीकाक्षमच्युतम्
> कर्त्तारमकृतं विष्णुं भूतानां प्रभवाप्ययम्।
> नारायणं हृषिकेशं गोविन्दमपराजितम्
> तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छामि केशवम्॥
>
> (शांति, २०७;१-२)

हे पितामह, हे महाप्राज्ञ, हे भरतश्रेष्ठ, ऐसे तीन संबोधन यहाँ आते हैं। पहले संबोधन में आत्मीय संबंधों का उल्लेख है, दूसरे संबोधनों में भीष्म के गुण-विशेष का वर्णन है और तीसरा संबोधन राष्ट्रीय कुलसूचक है।

भीष्म को इस प्रकार संबोधित करके युधिष्ठिर पूछते हैं: कमल जैसी आँख वाले, अपनी महिमा से च्युत न होने वाले, कर्ता होने पर भी अकृत ऐसे विष्णु सभी भूतों की उत्पत्ति तथा लय के स्थान हैं, यह नारायण, हृषीकेश, गोविन्द तथा केशव सर्वदा अपराजित हैं, उन्हें मैं तत्त्व द्वारा जानना चाहता हूँ।

युधिष्ठिर कृष्ण को नहीं जानते ऐसा तो नहीं है। कृष्ण के ऐश्वर्य के बारे में भी उन्हें शंका नहीं है परन्तु ईश्वर को पहिचानना एक बात है और तत्त्व द्वारा उन्हें जानना दूसरी ही बात है। युधिष्ठिर कृष्ण को तत्त्व द्वारा समझने के लिए भीष्म की सहायता माँगते हैं।

भीष्म कृष्ण को तत्त्व द्वारा जानते हैं: यह ज्ञान उन्हें परशुराम, नारद, व्यास, वाल्मीकि, मारकण्डेय इत्यादि द्वारा प्राप्त हुआ है। अतः वे निःसंकोच कहते हैं—

> केशवो भरतश्रेष्ठ भगवानीश्वरः प्रभुः
> पुरुषः सर्वमित्येव श्रूयते बहुधा विभुः।
>
> (शांति, २०७;५)

हे भरतश्रेष्ठ, भगवान ईश्वर हैं, प्रभु हैं, श्रुति में 'पुरुष एवेदं सर्वम्' पुरुष ही सब कुछ है, ऐसे वचनों द्वारा विविध रूप से कृष्ण की महिमा प्रस्थापित हुई है।

कृष्ण के परिचय का आरंभ ही भीष्म तार स्वर में करते हैं। अब कृष्ण महाभारत के मनुष्यपात्रों में नहीं है। अब वे देवों में भी श्रेष्ठ ऐसे श्रीहरि के रूप में प्रस्थापित होते हैं। यह सब कृष्ण श्रोता के रूप में सुनते हैं, पर कहीं भी लिप्त हुए बिना।

कृष्ण उत्क्रांति का कारण है, ऐसी कथा भी भीष्म कहते हैं। सभी पुराणों में विविध देवताओं को केन्द्र में रखकर होनेवाली सृष्टि की उत्क्रांति की कथा यहाँ भीष्म कृष्ण को केन्द्र में रखकर कहते हैं। यजुर्वेद के अन्त में आने वाली रुद्राष्टाध्यायी की याद दिलाकर यहाँ कृष्ण के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं में से क्षत्रिय, जंघा में से वैश्य और पैरों में से शूद्र किस प्रकार प्रगटे यह बताते हैं, भूतों और मातृगणों के अध्यक्ष के रूप में श्रीहरि ने इसके बाद विरुपाक्ष को—रुद्र को प्रगट किया।

पुराणों की उत्क्रांति कथा की कितनी ही मोहक कल्पनाएँ यहाँ पुनरावर्तित होती हैं। सत्युग में मैथुनधर्म की प्रवृत्ति नहीं थी, संतानें संकल्प-मात्र से जन्म लेती थीं, त्रेता युग में स्पर्श से संतान प्रगट होती थी, द्वापर युग में मैथुन के विचार से संतानोत्पत्ति होती थी। कलियुग में मैथुन द्वारा प्रजोत्पत्ति होती है। यहाँ संकल्प, स्पर्श, विचार और मैथुन के चार विकल्प कामशास्त्र के अध्येताओं को अर्थ लगाने की पूरी छूट देते हैं।

कृष्ण ने इस लोक को किस प्रकार प्रगट किया इसकी चर्चा करके भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं :

> तपः स्वरूपो महादेवः कृष्णोः देवकिनंदनः,
> तस्य प्रसादाद दुःखस्य नाशं प्राप्स्यसि मानद।
> एकः कर्ता स कृष्णश्च ज्ञानिनां परमाः गतिः।
>
> (शांति, २०७;४६)

देवकीनंदन कृष्ण ही तपस्वरूप महादेव हैं। उनके प्रसाद से तुम्हारे सभी दुःखों का नाश होगा। कृष्ण ही एकमात्र कर्ता हैं और वे ही ज्ञानियों की परमगति है।

कृष्ण ज्ञानियों की परमगति हैं और इसी से ज्ञानियों में श्रेष्ठ

नारद ने उन्हें प्राप्त करने के लिए तपस्या की। सौ वर्ष की तपस्या के बाद भगवान प्रसन्न हुए और वरदान माँगने को कहा : नारद को तो स्वरूप-बोध चाहता था। कृष्ण ने इस के लिए उन्हें निर्द्वन्द्व, निरहंकारी, शुचि, शुद्धलोचन ऐसे महात्माओं के पास जाने को कहा (महात्माओं के ये विशेषण गीता की याद दिला ही देते हैं)।

भीष्म यह बात कहकर युधिष्ठिर से एक बार फिर कहते हैं :

तस्माद् व्रज हृषिकेशं कृष्ण देवकिनंदनम्।

(शांति, २०७;४६)

इसी से तू देवकीनंदन कृष्ण जो सभी इन्द्रियों के स्वामी है, उनकी शरण में जा।

इतना ही नहीं, भीष्म युधिष्ठिर को चेताते हैं :

एवमेष महाबाहुः केशवः सत्यविक्रमः,
अचिन्त्य पुण्डरीकाक्षो नैष केवल मानुषः।

(शांति, २०७;४९)

सत्यविक्रम, पुंडरीकाक्ष (कमल जैसे नेत्रों वाले) महाबाहु केशव अचिन्त्य परमेश्वर हैं : वे केवल मनुष्य नहीं हैं।

कृष्ण मनुष्य नहीं हैं—लौकिक नहीं है, पर अलौकिक हैं, देव हैं। यह बात इतनी स्पष्टता से महाभारत में यहाँ पहली बार प्रगट होती है और याद रहे, इस समय कृष्ण श्रोता के रूप में स्वयं विराज रहे हैं।

शांतिपर्व में श्रीकृष्ण की महिमा की बातों में कितना कुछ वैष्णव-मत के प्रसार के बाद क्षेपक के रूप में शामिल कर लिया गया इस पर ज्ञानियों में चर्चा होती रहती है, पर विष्णु ने वाराह रूप में दानवों का नाश किया, तब फिर एक बार नारद ने विष्णु की स्तुति करके पूछा—

किं च जप्यं जपेन्नित्यं कल्पमुत्थाय मानवः
कथं युञ्जन् सदः ध्यायेद् ब्रूहि तत्त्वं सनातनम्।

(शांति, २०७;३६)

प्रातः उठकर आदमी को किस जप का जाप करना चाहिये ? योगी किस तरह ध्यान करते हैं ? आप इस सनातन तत्त्व काव र्णन करके बतायें।

भगवान इसके उत्तर में कहते हैं—

> ओंकारमग्रतः कृत्वा मां नमस्कृत्य नारद,
> एकाग्रः प्रयतो भूत्वा इमं मन्त्रमुदीरयेत
> ओं नमो भगवते वासुदेवायेति ।

(शांति, २०९;३५)

हे नारद, आरंभ में ॐकार का उच्चारण करके मुझे प्रणाम करना चाहिये फिर एकाग्र और पवित्र चित्त होकर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस मंत्र का जप करना चाहिये ।

अब नारद की प्रसन्न मनोरम स्तुति आती है । कृष्ण की मनोहर स्तुतियों में स्थान प्राप्त करे ऐसी इस स्तुति के अन्त में नारद बस एक ही याचना करते हैं :

> त्वामेवाहं स्मरिष्यामि मरणे पर्युपस्थिते ।

(शांति, २०९;३६)

जब मरण निकट हो, तब मुझे केवल आपका ही स्मरण रहे ।

भगवान उत्तर में कहते हैं :

> अहं भगवतस्तस्य मम चासौ सनातनः,
> तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।

(शांति, २०९;३६)

मैं उस सौभाग्यशाली भक्त का हूँ और वह भक्त मेरा सनातन सखा है। न मैं उससे कभी दूर जाता हूँ न वह मुझसे कहीं दूर जाता है।

भीष्म यह संवाद कहकर अपनी ओर से इतना जोड़ते हैं :

> नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थ साधकः ।

(शांति, २०९, ३६)

'ॐ नमो नारायणाय' यह एकमात्र मंत्र सभी अर्थों का साधक है।

प्रस्तुत श्लोक दाक्षिणात्य अधिक पाठ में के हैं, इनमें का एक विसंवाद ध्यान आकर्षित करता है। नारद जब भगवान से जप का स्वरूप पूछते हैं तब भगवान 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र प्रदान करते हैं। भीष्म 'ॐ नमो नारायणाय' मंत्र को सर्वार्थ साधक कहते हैं।

शांति पर्व का मोक्षधर्म का अनुपर्व कृष्ण की भगवत्स्वरूप के रूप में प्रतिष्ठा का पर्व है। युधिष्ठिर मोक्ष के साधनरूप योग का उपदेश तत्त्व द्वारा सुनना चाहते हैं तब भीष्म एक गुरु-शिष्य संवाद का उल्लेख करते हैं। शिष्य को सन्देह है : मैं कहाँ से आया ? गुरु कहाँ से आये ? सब कुछ ईश्वर का सृजन है तो उसमें क्षय और वृद्धि किसलिए ? गुरु इन प्रश्नों के समाधान में इतना ही कहते हैं :

वासुदेवः परमिदं विश्वस्य ब्रह्मणोमुखम्,
सत्य ज्ञानमयो यज्ञस्तितिक्षा दम आर्जवम् ।

(शांति, २१०; ९)

संपूर्ण वेद का मुख जो प्रणव है वह तथा सत्य, ज्ञान, यज्ञ, तितिक्षा, इन्द्रिय संयम, सरलता तथा परमतत्त्व : यह सब कुछ वासुदेव है।

भगवान ने गीता में 'देवर्षियों'में मैं नारद हूँ ऐसा कहा था। इसका अर्थघटन शांतिपर्व के २३०वें अध्याय में है। युधिष्ठिर का प्रश्न है कि इस पृथ्वी पर ऐसा कौन मनुष्य है जो सब लोगों में प्रिय, सभी प्राणियों को आनंद देनेवाला तथा समस्त सद्गुणों से भरपूर है ? भीष्म इसके उत्तर में कृष्ण-उग्रसेन संवाद का उल्लेख करते हैं। उग्रसेन के समक्ष कृष्ण-नारद का ऐसे पुरुष के रूप में वर्णन करते हैं, और कहते हैं : यही ऐसा श्रेष्ठ मनुष्य है। आगे नारद द्वारा कृष्ण की जी भरकर की गई स्तुति है। यहाँ कृष्ण द्वारा की गई नारद की अनन्य स्तुति आती है।

४५. मृत्यु का काव्य

मृत्यु को महामुनि व्यास ने अपने महत्वपूर्ण पात्रों में स्थान दिया है। मृत्यु केवल घटना नहीं है, वरन् व्यक्ति है और वह कोई घृणास्पद व्यक्ति नहीं बल्कि रमणीय और सम्मोहक व्यक्ति है, ऐसा कवि ने प्रतिपादित किया है। मृत्यु के सृजन के विषय में शांतिपर्व में कथा आती है।

इस सृष्टि में जब कोई मरता ही नहीं था तब जगन्नियन्ता को मृत्यु का सृजन करने की बात सूझी, मृत्यु का किसी भयावह रूप में नहीं, बल्कि एक कमनीय, रमणीय युवती के रूप में सृजन हुआ। ऐसी

नाजुक और सुन्दर रमणी संहार का घोर कर्म करने को तैयार नहीं थी। इसके लिए वह गिड़गिड़ाती है, तप करती है। हजारों वर्ष के तप के बाद जगन्नियंता उस पर प्रसन्न होते हैं। मृत्यु को संहारकर्म करने की लेशमात्र इच्छा नहीं है। प्रभु इसमें से मार्ग निकालें। स्वयं को संहार करना पड़ेगा इस विचारमात्र से मृत्यु जैसी रमणीय कन्या रुदन करती है, इस रुदन के अश्रु रोगों के रूप में सर्वत्र फैल जायेंगे। अब मृत्यु को संहार का काम नहीं करना पड़ेगा बल्कि ये रोग ही मृत्यु का काम संभाल लेंगे।

शांतिपर्व में यह कथा विस्तार से कही गयी है। मृत्यु की एक कमनीय युवती के रूप में महाकवि ही कल्पना कर सकते हैं। यह उपाख्यान पढ़ने के बाद मृत्यु का भय या संशय टल जाय यह संभव है।

मृत्यु कोई डरावना यमदूत नहीं है, पर संहार करना पसन्द न करनेवाली और संहार के नापसन्द कार्य को टालने के लिए कठोर तपस्या करने को तैयार होनेवाली कमनीय नारी है, यह बात ही आदमी के मृत्यु-विषयक विचार को बदल डालती है।

महाभारत के ऐसे उपाख्यानों की विशेष महिमा है। बुद्ध और गौतमी की कथा में मृत्यु का एक स्वरूप उसकी व्यावर्तकता आती है और यह कथा प्रसिद्ध है।

मृत्यु के ही रूप को प्रगट करनेवाला एक और उपाख्यान अनुशासन पर्व के आरंभ में कवि प्रस्तुत करते हैं।

युधिष्ठिर के विषाद योग के साथ अनुशासन पर्व का आरंभ होता है। विषाद महाभारत का स्थायी भाव है, कभी-कभी ऐसा प्रतीत हो ऐसी उत्कटता के साथ कवि विषाद को प्रस्तुत करते हैं। तब 'योग' महाभारत का स्थायी विषय है, इसकी प्रतीति हो जाय इतनी उत्कटता सहित कवि विषाद के प्रतिकार भी सृजन करते चलते हैं।

शांतिपर्व में भीष्म ने शोक से मुक्त होने के विविध उपायों की बात कही पर युधिष्ठिर तो यह सब सुनने के बाद भी कहता है :

न च मे हृदये शान्तिरस्ति श्रुत्वेदमीदृशम्।

(अनुशासन, १, १)

आपका यह उपदेश सुनने के बाद भी मेरे मन को शान्ति नहीं है।

युधिष्ठिर भीष्म को--रक्त झरते भीष्म को देखता है, तब अनुभव करता है कि मेरी अपेक्षा तो दुर्योधन अधिक भाग्यशाली है कि आपको ऐसी अवस्था में देखने का उसके लिए अवसर नहीं आया। वह कहता है—

सोऽहं तव ह्यन्तकरः सुहृद्वधकरस्तथा,
न शान्तिमधिगच्छामि पश्यंस्त्वां दुःखितंक्षितौ।

(अनुशासन, १, ९)

मैं ही आपके जीवन का अन्त लानेवाला हूँ, मैंने ही अन्य सुहृदों की मृत्यु आयोजित की है। आपको इस दुःखमय अवस्था में पड़ा देखता हूँ और मैं अशांत हो जाता है।

दुर्योधन कैसा ही दुरात्मा क्यों न रहा हो, तो भी वह युद्ध में मरण पाकर वीरगति को प्राप्त हुआ है। वह सुखी है क्योंकि आपको इस स्थिति में देखने के लिए वह जीवित नहीं है। जबकि मैं मानो आपको इस स्थिति में देखने के लिए ही जीता बच रहा हूँ अस्तु अभागा हूँ।

युधिष्ठिर के इस विषाद योग का भीष्म कृष्ण द्वारा अपने को प्राप्त स्वस्थता और प्रज्ञा द्वारा समाराधन करते हैं : यहाँ उस गौतमी का उपाख्यान आता है। गौतमी के पुत्र को सर्प ने डस लिया है। गौतमी का यह एकमात्र पुत्र है। अर्जुन के नाम का एक शिकारी यह जानकर साँप को जाल में बाँधकर गौतमी के पास लाकर कहता है : "इस सर्प ने तेरे पुत्र का वध किया है। अब बता, मैं इसे आग में डाल दूँ या कि इसके टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ ?"

एकमात्र पुत्र के मरण के शोक से ग्रस्त गौतमी तत्काल कहती है अर्जुनक, इस साँप को मारना नहीं है। तू इसे मुक्त कर दे। और फिर स्पष्ट करती है :

प्लवन्ते धर्मलघवो लोकेऽम्भसि तथा प्लवाः,
मज्जन्ति पापगुरवः शस्त्रं स्कन्नमिवोदके।

(अनुशासन, १, २२)

संसार में धर्म का पालन करके जो अपने को छोटा बनाये रखते हैं, हल्का बनाये रखते हैं वे पानी पर तैरती नाव की भाँति भवसागर पार कर जाते हैं। पर जो पाप के बोझ से अपने को गुरु बनाते हैं,

भारी बनाते हैं वे जल में फेंके गये शस्त्र की भाँति नरक-समुद्र में डूब जाते हैं।

गौतमी जब ये शब्द कह रही है, उस समय उसके बालक का शव अभी उसके सामने ही पड़ा है। शिकारी अर्जुनक के हाथ में बालक की मृत्यु का निमित्त बननेवाला सर्प छटपटा रहा है। इस मौके पर इतनी स्वस्थता से गौतमी समूची परिस्थिति पर विचार कर सकती है, वह उस किसा गौतमी की तरह अपने बालक को फिर से जिला देने की प्रार्थना के साथ भटकती नहीं है। वह तो कहती है : "इस सर्प को मार डालने से मेरा पुत्र जी नहीं जायेगा और यह सर्प जीता रहे तो तेरा क्या नुकसान होनेवाला है ?"

शिकारी को गौतमी की यह दलील मंजूर नहीं है, वह तो कहता है।

स्वस्थस्यैते तूपदेशाभवन्ति
तस्माद् क्षुद्रं सर्पमेन हनिष्ये।

(अनुशासन, १, २४)

यह उपदेश तो स्वस्थ पुरुषों के लिए है। मैं तो इस नीच सर्प को मार ही डालनेवाला हूँ।

गौतमी और लुब्धक (शिकारी) के बीच क्षमा और दंड की बाबत विवाद चलता है, तब बंधन से पीड़ित हुआ और धीमे से साँस लेता पन्नग-सर्प मन्द स्वर में मानुषीगिरा में बोलता है :—

कौन्वर्जुनक दोषोऽत्र विद्यते मम बालिश,
अस्वतन्त्रं हि मां मृत्युर्विवशं यदचूचुदत्।

(अनुशासन, १, ३५)

हे बालिश अर्जुनक, इसमें मेरा क्या दोष है ? मैं तो अस्वतंत्र-पराधीन हूँ। मृत्यु ने मुझे कार्य करने के लिए विवश किया।

सर्प कहता है कि डसने की प्रेरणा उसे मृत्यु ने दी, ऐसा कहकर वह अपने पर लगा दोष टालने के लिए शिकारी के साथ चर्चा करता है, तब मृत्यु आकर कहती है :

प्रचोदितोऽहं कालेन पन्नग त्वामचूचुदम्
विनाशहेतुर्नास्य त्वमहं न प्राणिनः शिशोः

(अनुशासन, १, ५०)

सर्प काल से प्रेरित होकर मैंने तुझे इस बालक को डसने की

प्रेरणा दी थी। अस्तु इस शिशु के प्राणों के विनाश का हेतु न तू है, न मैं।

मृत्यु ने तो 'स्वयं काल के वश में है' ऐसा कहकर हाथ धो डाले। पहले गौतमी-लुब्धक संवाद, फिर लुब्धक-सर्प संवाद और अब मृत्यु-सर्प संवाद आता है। मृत्यु और सर्प दोनों ही वे स्वयं दोषी नहीं है ऐसा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। पर शिकारी का मन नहीं मानता। उसे दृढ़ विश्वास है कि सर्प ने शिशु को डसा है, इस हेतु प्रेरणा करने वाली मृत्यु के लिए तो वह धिक्कार के शब्द ही कहता है, पर उसका निमित्त बनने वाले सर्प का वध करने का उसका निश्चय अटल है। अब इस चर्चा में गौतमी, शिकारी, सर्प और मृत्यु के बाद स्वयं काल देवता का प्रवेश होता है। यह तो एकदम स्पष्ट है। वे कहते हैं :

> नह्यहं नाप्ययं मृत्युर्नायं लुब्धक पन्नगः
> किल्विषी जन्तुमरणे न वयं हि प्रयोजकाः।

(अनुशासन, १, ८०)

इस जीवन-मरण के लिए है लुब्धक, न तो मैं अपराधी हूँ, न मृत्यु, न सर्प। हम किसी भी मृत्यु के प्रेरक या प्रयोजक नहीं हैं।

और अब काल कर्मबल पर दायित्व रखता है। वह आगे कहता है—

> यदनेन कृतं कर्म तैनायं निधनं गतः
> विनाशहेतुः कर्मास्य सर्वे कर्मवशावयम्।

(अनुशासन, १, ७२)

यह बालक अपने कर्मफल के कारण ही मरण को प्राप्त हुआ है। इसके कर्म ही इसके विनाश के हेतु हैं। हम सब कर्मवश हैं।

गौतमी तो स्वस्थ थी ही। अपने एकमात्र पुत्र की मृत्यु के लिए वह सर्प को दंडित करना नहीं चाहती थी। पर अब इस मरण की बाबत लुब्धक (शिकारी) सर्प, मृत्यु तथा काल को जो कहना था उसे सुनने के बाद वह कहती है :

> मया च तत् कृतं कर्म येनायं मे मृतः सुतः
> यातु कालस्तथा मृत्युर्मुञ्चार्जुनक पन्नगम्।

(अनुशासन, १, ७९)

मैंने जो कुछ भी कर्म किया उसके परिणामस्वरूप मेरे पुत्र की मृत्यु हुई। अस्तु अब हे काल और मृत्यु आप पधारें और हे अर्जुनक, तू इस सर्प को छोड़ दे।

भीष्म इस उपाख्यान द्वारा युधिष्ठिर के विषाद का शमन करते हैं। सब लोगों को जो प्राप्त हुआ है उसमें युधिष्ठिर या दुर्योधन ने कुछ नहीं किया। सबको अपने-अपने कर्मफल मिले हैं। युधिष्ठिर के लिए यह उपाख्यान शांतिदायक है।

मृत्यु से डरनेवाले मनुष्य के लिए भी इसकी महिमा कम नहीं है। मृत्यु स्वयं तो निमित्त से अधिक कुछ नहीं है। मृत्यु काल से प्रेरित होती है। काल का निर्णय कर्मफल के अधीन होता है।

इसके साथ ही मृत्यु यह संहार कार्य करने से त्रस्त होकर संहार का काम टालना चाहनेवाली, कमनीय युवती के रूप में हमारे सामने आवे तो इस मृत्यु से प्रेम करने की तबीयत नहीं होगी क्या ?

मृत्यु की बाबत अनेक कवितायें लिखी गई हैं, पर 'व्यासोच्छिष्ट जगत्सर्वम्' की भाँति यहाँ भी प्रथम और पवित्र कविता तो व्यास ने ही लिखी है।

४६. दैव और पुरुषार्थ

युधिष्ठिर-भीष्म संवाद संसार के सभी प्रश्नों, सभी समस्याओं को स्पर्श करता है। उन सबको स्पर्श करना यहाँ संभव नहीं है। जो ज्ञान केवल कृष्ण ही दे सकें, ऐसा था, वह कृष्ण की कृपा से भीष्म दे रहे हैं, यह बात इस संवाद के हर चरण पर याद रखने जैसी है।

दैव और पुरुषार्थ, इस प्रश्न की बाबत "दैव के अधीन कुल-जन्म, पर मेरे अधीन पराक्रम" इस प्रकार कर्ण से कहलानेवाले संस्कृत नाटककार से शुरू करके आज तक विचार-विनिमय होता रहा है : पर भगवान वेदव्यास ने इस प्रश्न के बारे में गहन विचार मंथन किया है। दैव का विधान बताकर छूट निकलनेवाले कभी-कभी पुरुषार्थ की महिमा कम करके आँकें यह संभव है। ऐसा न हो इसलिए महाकवि सजग हैं।

युधिष्ठिर भीष्म से पूछते हैं : दैव और पुरुषार्थ इन दोनों में श्रेष्ठ क्या है ?

भीष्म अपने उत्तर में लेशमात्र भी अस्पष्ट नहीं हैं। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं ?

कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते,
न दैवमकृते किंचित् कस्यचिद्दातुमर्हति।

(अनुशासन, ६; २२)

किया हुआ पुरुषार्थ दैव का अनुवर्तन-दैव का अनुसरण करता है, पर पुरुषार्थ किया ही न जाय तो दैव किसी को कुछ भी नहीं दे सकता।

दैव की महिमा युधिष्ठिर को प्रभावशाली ढंग से समझाने के लिए भीष्म पितामह पाण्डव-कौरवों के बीच का ही भेद समझाते हुए कहते हैं—

पाण्डवानां हृतं राज्यं धार्तराष्टैर्महाबलैः,
पुनः प्रत्याहृत चैव न दैवाद् भुज संश्रयात्।

(अनुशासन, ६;४०)

धृतराष्ट्र के महाबलवान पुत्रों ने पाण्डवों के राज्य का हरण किया था। पाण्डवों ने यह राज्य पुनः प्राप्त किया पर यह बाहुबल से प्राप्त किया, दैव के आश्रय से नहीं।

पाण्डवों का राज्य धृतराष्ट्र के पुत्रों ने कपट से हड़प लिया था। पाण्डवों को यह राज्य दैव ने वापस नहीं दिलाया, पर बाहुबल ने दिलाया है। पाण्डवों ने भिक्षा माँग कर निर्वाह करने की संजय की सन्धि की शर्तें स्वीकार की होतीं और युद्ध में उतरने को टाला होता तो दुर्योधन ने उनको पाँच गाँव तो क्या सूच्यग्र, सूई की नोंक जितनी भूमि भी न दी होती।

भीष्म केवल वीर ही नहीं हैं, वे कवि भी हैं। वे दैव और पुरुषार्थ की बात केवल शुष्क ढंग से नहीं कहते अथवा यों कहें कि महाकवि भीष्म के मुख में शुष्क चिंतन नहीं रखते, बल्कि उसे रसात्मक बनाकर गूँथते हैं। वे कहते हैं—

यथा तैलक्षयाद् दीपः प्रहासमुपगच्छति,
तथा कर्मक्षयाद् दैवं प्रहासमुपगच्छति।

(अनुशासन, ६;४४)

जैसे तेल का क्षय होता है—तेल शेष हो जाता है तब दीप बुझ

जाता है उसी प्रकार जब कर्म का क्षय होता है–अर्थात् कर्म समाप्त हो जाता है तब दैव भी नष्ट हो जाता है।

दैव और पुरुषार्थ की बात में से सहज रूप से महाकवि हमें शुभाशुभ कर्म की ओर खींच ले जाते हैं। अनुशासन पर्व का सातवां अध्याय कर्मफल की बावत पारंपरिक मान्यताओं के स्पष्ट विनियोग के लिए महत्त्वपूर्ण है। कर्म का हमारी पारंपरिक मान्यताओं के अनुसार, इस जन्म से ही नहीं जन्म-जन्मान्तर के साथ संबंध है। हम कर्म को बांधते हैं या छोड़ते हैं यह अलग सवाल है, वह अगम्य है और शायद जगन्नियंता के सिवा कोई यह जान नहीं सकता पर कर्मफल तो अनिवार्य विधान है। भीष्म युधिष्ठिर को यह बात एक आकर्षक रूपक द्वारा समझाते हैं :

यथा धेनु सहस्रेषु वत्सा विन्दति मातरम्,
एवं पूर्वकृतंकर्म कर्तारमनुगच्छति।

(अनुशासन, ७; ३३)

जैसे बछवा हजारों गायों के बीच में अपनी माता को ढूंढ़ निकालता है, उसी प्रकार पहले किये हुए कर्म कर्ता को पहचान लेते हैं और उसका अनुसरण करते हैं।

कर्म और कर्ता के बीच के इस सम्बन्ध को कवि ने इस प्रकार बड़े सुन्दर ढंग से निरूपित किया है। कर्म कर्ता को किसी भी जन्म में ढूंढ लेता है, इतना ही नहीं उसका अनुसरण करता है। इसी से इस जन्म में जब व्यक्ति कोई सम्बन्ध बांधता है तब वह पहले के कर्मों का क्षय करता है या नये कर्मों को बांधता है यह कोई नहीं बता सकता। कर्म का कर्ता या कर्म के साक्षी तो इस विषय में कुछ भी नहीं कह सकते।

कर्म में से कवि सीधे तृष्णा पर आते हैं। तृष्णा के विषय में भी हमारे यहां खूब विचार हुआ है, पर कवि व्यास को इस विषय पर जो कहना है, उसे स्पष्ट रूप से कहा है :

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः,
चक्षुःश्रोते च जीर्यंते तृष्णैका न तु जीर्यते।

(अनुशासन, ७; २४)

आदमी जीर्ण होता है तो उसके साथ उसके केश जीर्ण होते हैं,

उसके दाँत जीर्ण होकर गिर जाते हैं। आँख और कान भी जीर्ण हो जाते हैं, केवल तृष्णा जीर्ण नहीं होती। तृष्णा की यह माया, यह लीला, इसके बाद अनेक चिन्तकों ने व्यक्त की है। शंकर के विख्यात स्तोत्र 'भज गोविन्दम्' में भी इसी श्लोक की मीमांसा है।

इसके बाद लक्ष्मी पुरुषों और स्त्रियों में किस प्रकार निवास करती है ऐसा प्रश्न होता है तब भीष्म रुक्मिणी तथा लक्ष्मी के संवाद टाँकते हैं। महाभारतकार की दृश्य-रचना आकर्षक होती है। भीष्म-युधिष्ठिर संवाद के श्रोताओं में कृष्ण भी हैं और तब भीष्म कहते हैं : एक बार देवकीनंदन कृष्ण की संनिधि में प्रद्युम्न जननी रुक्मिणी ने साक्षात् लक्ष्मी से, महर्षि भृगु की पुत्री तथा त्रिलोकी के नाथ भगवान नारायण की प्रियतमा से, यही सवाल पूछा था और लक्ष्मी ने रुक्मिणी को जो उत्तर दिया था वह भीष्म कह सुनाते हैं।

लक्ष्मी किसमें वास करती हैं, ऐसे व्यक्तियों के वर्णन में एक बढ़िया बात है। 'अबन्ध्यकालेषु'-अर्थात् जो समय को व्यर्थ नहीं जाने देते उनमें लक्ष्मी निवास करती हैं। इसके अलावा भी लक्ष्मी स्वयं कहाँ बसती हैं और कहाँ नहीं बसतीं इस विषय में विस्तार से वर्णन करती हैं।

महर्षि व्यास ने महाभारत में हरेक विषय का स्पर्श किया है। फ्रॉयड ने भी महाभारत पढ़ा होता तो ऐसा संवाद भारत के आदियुग में कभी हुआ होगा यह जानकर वह विस्मय और आनंद व्यक्त किये बिना न रहता, ऐसे एक संवाद का हम तनिक स्पर्श करें। युधिष्ठिर प्रश्न करते हैं-

स्त्रीपुंसयोः सम्प्रयोगे स्पर्शः कस्याधिको भवेत्
एतस्मिन् संशये राजन् यथावद् वक्तुमर्हसि

(अनुशासन, १२;१)

हे राजन्, स्त्री तथा पुरुष के संयोग के विषयसुख की अनुभूति किसे अधिक होती है ? इस संशय को आप यथावत् रूप से बताने की कृपा करें।

युधिष्ठिर भीष्म का पौत्र है, पर पौत्र पितामह से इस विषय पर भी कितनी निखालसता से चर्चा कर सकता है, इसका यहाँ ख्याल आता है।

आजीवन ब्रह्मचारी भीष्म इस प्रश्न का उत्तर एक उपाख्यान द्वारा देते हैं। भंगास्वन नामक एक राजा था। इस राजा को पुत्र नहीं था अस्तु उसने अग्निष्टुत नामक यज्ञ किया। इसके बाद उसे सौ पुत्र हुए। इस यज्ञ में इन्द्र की प्रधानता नहीं थी, अस्तु इन्द्र को इस राजा के प्रति रोष हुआ। इस महामना राजपुरुष में कहीं कोई चूक नजर आये इसकी राह देखता इन्द्र हताश हो गया अन्त में वह राजा को माया से आकर्षित करके एक मायावी सरोवर के पास ले जाता है। राजा सरोवर में स्नान करते ही स्त्री-स्वरूप हो जाता है।

अपनी इस परिस्थिति के प्रति वह भारी लज्जा का अनुभव करता है। वह अपने सौ पुत्रों से कहता है : "आप प्रेम से आपस में मिलजुल-कर रहें और राज्य का उपभोग करें। मैं वन में जाता हूँ।"

अब भंगास्वन राजा स्त्री रूप में-तापसी वेष में वन में जाता है। वन में किसी तापस के आश्रम में रहता है और तापस के साथ के संयोग से वह अन्य सौ पुत्रों को जन्म देता है। वहाँ सौ पुत्रों को अपने राज्य में ले जाकर पहले सौ पुत्रों को सौंपते हुए कहता है, "मैं पुरुष रूप में थी तब आप सब पैदा हुए थे, मैं स्त्री रूप में हूँ तब ये पुत्र जन्मे हैं। आप सब साथ मिलकर भ्रातृभाव रखकर राज्य का उपभोग करें।" और वास्तव में ये दो सौ पुत्र अपूर्व मेलजोल के साथ राज्य करने लगे।

यह देखकर इन्द्र का द्वेष और अधिक भड़क उठा। उसे लगा कि उसका शाप तो भंगास्वन राजा के लिए उपहार बन गया है। अस्तु वह इन दो सौ पुत्रों के बीच फूट डालता है।

भंगास्वन के पुत्रों और तापस के पुत्रों के बीच युद्ध होता है और उसमें सभी दो सौ पुत्र मारे जाते हैं। यह समाचार सुनकर तापसी को (पूर्व जीवन के राजा भंगास्वन) बहुत दुःख होता है और वह रोती है, तब इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके उसके पास आता है और कहता है कि तूने मेरे आह्वान बिना यज्ञ पूर्ण किया उसका बदला लेने के लिए मैंने यह निर्णय लिया है। पर अब मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। मैं तेरे सौ पुत्रों को जीवित करूँगा। बता तूने स्त्री बनकर जिन्हें जन्म दिया वे पुत्र जिन्दा हों या पुरुष रूप से जो तुझसे पैदा हुए वे पुत्र जिन्दा हों ?

तापसी कहती है : "हे देवेन्द्र, मैंने स्त्री रूप में जिन्हें जन्म दिया वे पुत्र जीवित हों।"

इन्द्र को अचम्भा होता है। वह कहता है : "तुझे इन पुत्रों के प्रति पहले के पुत्रों की अपेक्षा अधिक स्नेह क्यों हैं ?" तापसी कहती है, माँ को पुत्र पर अधिक स्नेह होता है, अस्तु जिन्हें मैंने माँ बनकर जन्म दिया है वे पुत्र मुझे अधिक प्यारे हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर तापसी के सभी पुत्रों को जीवित कर देता है। अन्त में इन्द्र पूछता है : "अभी मैं तुझे एक और वरदान देता हूँ। तूं स्त्री रहना चाहता है या फिर से पुरुष होना चाहता है ?" तब तापसी कहती है :

स्त्रीत्वमेववृणे शक्र पुंस्त्वं नेच्छामि वासव

(अनुशासन, १२; ५०)

"हे इन्द्र, मैं स्त्रीत्व का वरण करती हूँ, मुझे पुरुष नहीं होना है।"

इन्द्र को और भी अधिक आश्चर्य होता है। पुरुष होने की, राजपुरुष भंगास्वन के रूप में आने की सुविधा मिलने पर भी तापसी रूप में यह स्त्री क्यों जीना चाहती है, इसका स्वयं इन्द्र को कौतूहल होता है। वह स्त्री उत्तर देती है :

स्त्रियाः पुरुषसंयोगे प्रीतिरभ्यधिका सदा,
एतस्मात् कारणाच्छक्र स्त्रीत्वमेव वृणोम्यहम्।

(अनुशासन, २; ५२)

स्त्री का पुरुष के साथ संयोग होता है तब स्त्री को ही पुरुष की अपेक्षा अधिक विषय-सुख प्राप्त होता है इस कारण मैं स्त्रीत्व का वरण करती हूँ।

एक सूक्ष्म और नाजुक विषय को इस प्रकार भीष्म पितामह ने सदृष्टांत चर्चा करके बता दिया है।

आगे चलकर भीष्म ब्रह्म का वर्णन करते है :

न वायुः पवते तत्र न तस्मिन्मंज्योतिषां गतिः
न चापः पृथिवो नैव नाकाशं न मनोगतिः।

(अनुशासन, १३; ६)

वहाँ वायुगति नहीं करता, वहाँ नक्षत्रों या ग्रहों की पहुँच नहीं है। वहाँ जल, पृथ्वी, आकाश या मन की गति भी नहीं होती।

भीष्म-युधिष्ठिर संवाद में से क्या उठायें और क्या छोड़ दें यह

प्रश्न बना ही रहता है। पुराणों के विषय का व्यापक निरूपण होता रहता है। देवताओं के दैवत्व की उदारतापूर्वक प्रतिष्ठा होती रहती है। हम सभी पुराण देखें तो प्रत्येक देवता को किसी-न-किसी स्थल पर प्राधान्य मिलता है और अन्य देवता उसके अधीन हैं ऐसा बताया जाता है।

कृष्ण की उपस्थिति में भीष्म कृष्ण की महादेव के प्रति भक्ति की महिमा गाते हैं और कहते हैं :

युगे युगेतु कृष्णेन तोषितो वै महेश्वरः
भक्त्या परमया चैव प्रीतश्चैव महात्मनः,

(अनुशासन, १४; १३)

कृष्ण ने प्रत्येक युग में महेश्वर को सन्तुष्ट किया है : महादेव महात्मा कृष्ण की परमभक्ति से हमेशा प्रसन्न रहते हैं।

कृष्ण ने उपमन्यु द्वारा दीक्षित होकर महादेव का किस प्रकार साक्षात्कार किया इसकी कथा यहाँ आती है। यहाँ कृष्ण को मिले चौबीस वरदानों की बात आती है। शिव सबसे पहले प्रसन्न होकर कृष्ण से आठ वरदान माँग लेने को कहते हैं। कृष्ण माँगते हैं : (१) धर्मे दृढत्वं (धर्म में दृढ-स्थिति), (२) युधि शत्रुघात (युद्ध में शत्रुओं का संहार करने की क्षमता), (३) यशस्तथाग्र्यं (श्रेष्ठ यश), (४) परमंबलं (परमबल), (५) योग, (६) प्रियत्वं (सबका प्रिय होना), (७) तव संनिकर्षं (आपका सामीप्य) तथा (८) सुतानां च शतं शतानि (दस हजार पुत्र)।

(अनुशासन, १५; २)

कृष्ण को शिव ये आठ वरदान देते हैं। अब उमा आठ और वरदान माँगने को कहती हैं। कृष्ण कहते हैं : (१) ब्राह्मणों पर मेरे मन में क्रोध न जागे, (२) माता-पिता मुझ पर प्रसन्न रहें, (३) मुझे सैंकड़ों पुत्र प्राप्त हों, (४) उत्तम भोग सदा उपलब्ध रहें, (५) हमारे कुल में हमेशा प्रसन्नता रहे, (६) मेरी माँ प्रसन्न रहे, (७) मुझे शांति मिले और (८) प्रत्येक कार्य में सफलता मिले।

(अनुशासन, १५; ६)

अब उमा अपनी ओर से कृष्ण को आठ वरदान देती हैं : (१) अमर प्रभाव, (२) तुम कभी भी असत्य नहीं बोलोगे, (३) तेरे सोलह हजार रानियाँ होंगी, (४) उन सबको तू प्रिय रहेगा, (५)

अक्षय धनधान्य की प्राप्ति होगी, (६) बन्धुओं की प्रीति प्राप्त होगी (७) शरीर की कमनीयता बनी रहेगी और (८) प्रतिदिन तेरे यहाँ सात हजार अतिथि भोजन करेंगे। (अनुशासन, १५; ७-८)

कृष्ण द्वारा माँगे गये सोलह और उमा द्वारा दिये गये अन्य वरदानों की किसी को मीमांसा करनी चाहिये। प्रत्येक वरदान पर भाष्य किया जा सके इसकी संभावना है। कृष्ण यहाँ स्थूल से आरंभ करके सूक्ष्म तक वरदान माँगते हैं। स्थूल में से ही सूक्ष्म की ओर गति की जा सकती है, कहीं ऐसा संकेत तो कृष्ण नहीं दे रहे हैं ?

४७. भीष्म वाणी

फिर उपमन्यु भगवान वासुदेव को शिव के गोपनीय सहस्रनामों का रहस्य बोध कराता है (अनुशासन पर्व, सत्रहवाँ अध्याय) और इस शिव सहस्रनाम के पाठ की महिमा समझाता है।

कृष्ण द्वारा प्रदत्त प्रज्ञा से भीष्म यह सब कह रहे हैं, अस्तु यहाँ स्वयं कृष्ण शिव को अपने से अग्रस्थान पर स्थापित करते हैं। कृष्ण स्वयं ही शिव की महिमा को प्रस्थापित करते हैं। धर्म में विविध देवों को पुराणों में जो अग्रता मिलती है उसमें अन्य देवों की इस प्रकार की नम्रता ही कारणभूत है। इसी से ही कृष्ण, शिव, राम और सभी किसी न किसी स्थान पर एक की अपेक्षा दूसरे को बढ़ाकर स्थापित करते हैं। शिव तत्त्व की समाराधना तो कृष्ण भी करते हैं, उपमन्यु द्वारा दीक्षित होकर, और राम भी करते हैं रामेश्वर में शिव की पार्थिकेश्वर पूजा करके।

इसके बाद अनुशासन पर्व में स्त्रियों के विषय में जो विधान आते हैं वे इस स्त्री स्वातन्त्र्य के युग में किसी मनोवैज्ञानिक द्वारा नये सिरे से जाँचने योग्य हैं। और ये उस तरह के मुक्त समाज में कितने समुचित थे और आज कितने समुचित हैं यह देखने योग्य है। उदाहरण के लिए अष्टावक्र को स्त्री के रूप में मिली उत्तर दिशा जो उत्तर देती है वह आजके सन्दर्भ में देखने लायक है। व्यासमुनि की खूबी यही है कि वे स्त्री-विषयक बात अनिंद्य रूपवाली उत्तर दिशारूपी स्त्री के मुख से ही कहलवाते हैं :

नानिलोऽग्निर्न वरुणो न चान्ये त्रिदशा द्विज,
प्रियाः स्त्रीणां यथाकामो रतिशीला हि योषितः।
सहस्रे किल नारीणां प्राप्येतैका कदाचन,
तथा शत सहस्रेषु यदि काचित् पतिव्रता।
(अनुशासन, १९; ९१-९२)

हे ब्रह्मन्! वायु, अग्नि, वरुण, तथा अन्य देवगण भी स्त्री को काम जितने प्रिय नहीं होते। कारण यह कि स्त्री स्वभाव से ही रति-शीला होती है। हजारों स्त्रियों में से कोई एक स्त्री ऐसी मिल सकती है जो रतिलोलुप न हो और लाखों स्त्रियों में से एकाध ऐसी मिल सकती है जो पतिव्रता हो।

एकाध टेढ़े प्रश्न आ जाते हैं। युधिष्ठिर भीष्म से पूछते हैं कि ब्रह्महत्या न करने पर भी ब्रह्महत्या का पाप लगे ऐसे कौन-से दोष हैं? इसके उत्तर में भीष्म उन्हें पूर्वकाल में व्यास के मुख से सुनी हुई आचार संहिता सुनाते हैं। यहाँ मानव सम्बन्धों की अपूर्व महिमा है। भीष्म उत्तर देते हैं: जिसकी आजीविका नष्ट हो गई हो ऐसे ब्राह्मण को भिक्षा देने के लिए बुलाकर फिर भिक्षा देने से 'ना' कहे वह ब्रह्महत्यारा है। जो प्यास से पीड़ित गाय के जल पीने में बाधा डाले वह ब्रह्मघाती है। जो श्रुति या शास्त्र समझे बिना दोषारोपण करे वह ब्रह्मघाती है। अपनी रूपवती कन्या का अधिक वय होने पर भी योग्य वर के साथ विवाह न करे वह ब्रह्मघाती है। ब्राह्मण को अकारण मर्मभेदी शोक दे वह ब्रह्मघाती है। अंधे, लूले या गूँगे मनुष्य का सर्वस्व हरण करे वह ब्रह्मघाती है। जो मोहवश होकर आश्रम, वन, ग्राम या नगर में आग लगाये वह ब्रह्मघाती है।

यहाँ ब्राह्मण शब्द उसके उत्तम परिणाम में प्रगट होता है। अनु-कंपा की झलक भी यहाँ देखने को मिलती है।

ब्राह्मणत्व दुर्लभ है और वह तपस्या से भी प्राप्त नहीं होता, यह मतंग के आख्यान द्वारा आगे बताया गया है। इसमें ब्राह्मण की भी तीन श्रेणियाँ बताई गई हैं। एक तो शस्त्रविद्या द्वारा अपनी आजी-विका कमाने वाला ब्राह्मण, दूसरा गायत्री का उपासक ब्राह्मण और तीसरा वेदविद् ब्राह्मण। इस प्रकार ब्राह्मणों में भी वेदविद् अर्थात् ज्ञानी को महामुनि व्यास उत्तम श्रेणी में रखते हैं। मतंग तपस्या

करके भी ब्राह्मण न हो सके, पर राजा वीतहव्य भृगुऋषि के अनुग्रह-युक्त वचनमात्र में ब्राह्मण हो गया, यह बात भी इस अनुसंधान में देखने लायक है।

अनुशासन पर्व में स्त्रियों के बारे में स्त्रियों के ही मुख से कराई गई निंदा अपार है। नारद पंचचूडा नाम की सुमध्यमा अप्सरा से स्त्री स्वभाव वर्णन करने को कहते हैं तब वह कहती है, स्त्री चाहे कैसी भी कुलीन, रूपवती या अनाथ हो तो भी मर्यादा में नहीं रह सकती। उसके लिए कोई भी पुरुष-रूपवान या विरूप अगम्य नहीं है वह तो—

विरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुज्जते।

(अनुशासन, ३८; १७)

रूपवान हो या विरूप लेकिन वह पुरुष है, बस इतना ही स्त्री के लिए पर्याप्त है। वह पुरुष रूप में ही उसका उपभोग करती है।

और फिर पंचचूडा अप्सरा कहती है : जहाँ से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं वहीं से स्त्रियों में यह स्वभावजन्य दोष भी आया है।

स्त्री की रक्षा किस प्रकार हो सकती है इस बाबत देवशर्मा के शिष्य विपुल ने अपने गुरु की पत्नी की इन्द्र से किस प्रकार रक्षा की, इसका उदाहरण दिया गया है। उस जमाने में स्त्री को किस दृष्टि से देखा जाता था इसके लिए पुराणों के ये सब खंड किसी को समाज-शास्त्रीय और साथ ही उत्क्रांतिशास्त्रके सन्दर्भ में कभी देखना चाहिये।

गाय की महिमा भी इस पर्व में आती है। गोवध का प्रश्न हमारे यहाँ विगत तीन दशकों से कानून और समाज दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बन गया है। इस सन्दर्भ में कृष्णप्रेरित भीष्म पितामह की वाणी में गाय की महिमा देखने लायक है। मछुआरों ने जब च्यवन ऋषि को मछलियों के साथ जल में से खींच निकाला तब च्यवन ऋषि के क्रोध के शमन के लिए राजा नहुष प्रश्न करते हैं तो च्यवन ऋषि अपना मूल्य इन मछुआरों को देने को कहते हैं। नहुष राजा एक हजार मुद्रा से आरम्भ करते हैं फिर लाख और करोड़ मुद्रा तक पहुँचते हैं फिर आधा राज्य देने की बात करते हैं, पर च्यवन ऋषि कहते हैं कि मेरा मूल्य इतना भी नहीं है। अब विकल हुआ

नहुष एक वनवासी गोजात मुनि की सलाह लेता है, गोजात मुनि कहते हैं :

अनर्घेया महाराज द्विजा वर्णेषु चोत्तमाः
गावश्च पुरुषव्याघ्र गोमूल्य परिकल्प्यताम् ।
(अनुशासन, ५१; २२)

ब्राह्मण सभी वर्णों में उत्तम है। उसका और गाय का कोई मूल्य नहीं लगाया जा सकता। अस्तु आप च्यवन ऋषि के मूल्य के रूप में एक गाय दें। नहुष कहता है : "महर्षि मैंने एक गाय देकर आपको खरीद लिया है।" तब च्यवन ऋषि प्रसन्न होते हैं और गाय की महिमा का वर्णन करते हैं।

यहाँ और आगे गाय की महिमा अपूर्व ढंग से वर्णित है। भूल से अपनी गायों के साथ ब्राह्मण की गाय की गिनती करके दान कर देने वाले राजा नृग का गिरगिट योनि से भगवान कृष्ण ने किस प्रकार उद्धार किया इसकी कथा तो है ही, पर साथ ही नचिकेता के प्रसंग में भी गोदान की महिमा भी महाभारतकार वर्णन करते हैं। इस महिमा का वर्णन करने में महाभारतकार कहीं भी कमी नहीं आने देते। भगवती लक्ष्मी स्वयं गायों के समूह के सामने आकर माँग करती है कि मुझे अपने किसी अंग में वास करने दें, तब गायें कहती हैं, भगवती आप चंचल हैं—अध्रुवा (कहीं भी स्थिर न रहनेवाली) हैं। आपका अनेक के साथ सम्बन्ध है : अस्तु हम आपकी इच्छा नहीं करती। गौवों के इस उत्तर से भगवती लक्ष्मी को बुरा लगता है। वे कहती हैं : "मैं तो आपके पास बिना बुलाये आई हूँ, मेरा अनादर नहीं किया जाना चाहिये। और मैं अपमान की पात्र भी नहीं हूँ।" गौएँ जवाब देती हैं : "देवी, हम आपका अपमान नहीं करतीं, केवल आपका परिभव त्याग करती हैं।" लक्ष्मी खूब ही गिड़गिड़ाती हैं तब गौएँ आपस में विचार-विनिमय करके निश्चय करती हैं :

अवश्यं मानना कार्या तवास्माभिर्यशस्विनि,
शकृन्मूत्रे निवसत्वं पुण्यमेतद्धि नः शुभे।
(अनुशासन, ८२; २४)

हे शुभे, हे यशस्विनि, अवश्य ही हमें आपका मान करना चाहिये। आप हमारे गोबर और मूत्र में निवास करें क्योंकि ये दोनों परम पवित्र हैं।

इसके आगे भी गाय की महिमा का वर्णन करने वाले अध्याय है : यहाँ कहीं भी धर्म या सम्प्रदाय की दृष्टि से गाय की महिमा नहीं कही गई है बल्कि राष्ट्र की संपत्ति के रूप में, पशुधन के रूप में उसकी महिमा कही गई है।

कृष्णप्रेरित इस भीष्मवाणी में अग्नि की शोध की बाबत भी सुन्दर कथानक है। तारकासुर का नाश अग्नि के पुत्र द्वारा ही हो सकेगा। यह जानने के बाद देवतागण अग्नि को ढूंढने निकलते हैं। उस समय अग्नि रसातल में छुपे हैं। यह जानकारी मेढक देवताओं को देता है। अग्नि मेढक को शाप देते हैं कि तुझे रस का अनुभव नहीं होगा, पर देवता मेढक पर अनुग्रह करके कहते हैं कि गरमी में जब जल सूख जायेगा तब भूमि उन्हें ग्रहण करेगी और वर्षा होते ही वे पुनः सजीवन होंगे। इसके बाद अग्नि अश्वत्थ में छुप जाते हैं। यह बात हाथी देवताओं को बता देता है। अग्नि हाथी को शाप देते हैं कि उसकी जीभ उल्टी हो जायेगी, तब देव अनुग्रह करके कहते हैं कि उल्टी जीभ के होते हुए भी तुम सभी खुराक ले सकोगे। तुम आवाज भी कर सकोगे, सिर्फ इतना है कि उस आवाज में अक्षर नहीं होंगे।

इसके बाद अग्नि ने शमीवृक्ष में छुपने का निश्चय किया और तोते ने यह बात देवताओं को बता दी। अग्नि ने तोते को वाचारहित होने का शाप दिया। देवताओं ने तोते का उच्चारण मधुर और कमनीय होगा ऐसा वरदान दिया। अन्त में अग्नि को ढूंढ निकाला गया। अग्नि के गर्भ को गंगा रुद्र के तेज के कारण धारण नहीं करती, अन्त में वह उसे मेरु पर्वत पर रख आती है, वहाँ छः कृत्तिकाएँ उसे धारण करती हैं—उनमें से पैदा होते हैं कार्तिकेय।

इस प्रकार अग्नि की कथा के साथ शिव जिस यज्ञ के गृहस्थ यजमान हैं, ब्रह्मा जिसके होता है और अग्नि जिसकी वेदी है, ऐसे यज्ञ में ब्रह्मा के वीर्य की आहुति से उत्पन्न तीन पुत्रों की कथा भी इस पर्व में आती है। शिव, अग्नि और ब्रह्मा, तीनों इस संतति के पिता होने के लिए आतुर हैं। अंत में मध्यमार्ग स्वीकार किया जाता है। शिव, सूर्य जैसे तेजस्वी भृगु का पुत्र रूप में वरण करते हैं, अग्नि के लिए अंगिरा का पुत्र रूप में वरण होता है और कवि ब्राह्म इसी प्रकार ब्रह्मा का पुत्र बनता है। ये तीनों प्रजापति माने जाते हैं : इन तीनों के पुत्र अधिकतर गोत्रों के अधिपति हैं। भृगु के सात पुत्र हैं, इनमें

च्यवन, वज्रशीर्ष, शुचि, और्व, शुक्र, वरेण्य और सवन हैं। अंगिरा के आठ पुत्र हैं : बृहस्पति, उतथ्य, पयस्य, शान्ति, घोर, विरूप, संवर्त और सुधन्वा तथा कवि के आठ पुत्रों के नाम हैं : कवि, काव्य, धृष्णु, शुक्राचार्य, भृगु, विरजा, काशी और उग्र। महाभारतकार के मतानुसार ये सब हैं आर्यों के पूर्वज—प्रजापतिगण।

जैसे व्यास स्वयं इस कथा के रचयिता हैं, पर जब व्यास एक पात्र के रूप में आते हैं तब तटस्थतापूर्वक उसका निरूपण होता है, उसी प्रकार कृष्ण इस भीष्म-युधिष्ठिर वार्तालाप के समय उपस्थित हैं तब वे भी एक पात्र के रूप में आते हैं। ऐसा होता है तब कवि इस घटना की अधिकृतता सिद्ध करते हैं। यदि भीष्म कृष्ण का नाम लेकर कोई बनायी हुई बात कहें तो कृष्ण तत्काल ही उसका खंडन कर सकते हैं। इसी से कृष्ण की उपस्थिति में जब भीष्म कृष्ण का उल्लेख करते हैं तब वे प्रतीतिपूर्ण ज्ञान के साथ करते हैं।

गृहस्थधर्म क्या हो सकता है, युधिष्ठिर के इस प्रश्न के उत्तर में यह प्रश्न पहले कृष्ण ने पृथ्वी से पूछा था, उसका हवाला देते हुए भीष्मपितामह कृष्ण और पृथ्वी के संवाद का वर्णन करते हैं।

कृष्ण को उत्तर देते हुए पृथ्वी जिस गृहस्थधर्म का वर्णन करती है वह कुछेक कर्मकाण्डों को बाद करने के बाद आज भी सुसंगत है।

पृथ्वी कहती है : देव, पितरों, ऋषियों और अतिथियों की पूजा करनी चाहिये। ऋषियों का पूजन कोई रोज-रोज ऋषियों को निमंत्रित करके या ऋषियों की तस्वीर को पुष्पहार चढ़ाकर नहीं करना है, बल्कि वेद के स्वाध्याय द्वारा ऋषियों का पूजन करना है। यज्ञ-होम द्वारा देवता सन्तुष्ट रहते हैं और अतिथि-सत्कार द्वारा मनुष्य प्रसन्न रहते हैं। पृथ्वी यह भी कहती है :

राजर्त्विजं स्नातकं च गुरुं श्वशुरमेव च,
अर्चयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरोषितान्।

(अनुशासन, ९७; २१)

राजा, ऋत्विज, स्नातक, गुरु और श्वशुर : ये यदि एक वर्ष के अन्तर पर घर आवें तो उनकी मधुपर्क से पूजा करनी चाहिये।

यहाँ 'परिसंवत्सरोषितान्' (एक वर्ष के अन्तर पर) यह शब्द महत्त्वपूर्ण है। गुरु या राजा या श्वसुर वर्ष में एक बार आयें तो

उनकी मधुपर्क से पूजा करनी चाहिये का अर्थ यह है कि ऐसे लोगों को बारंबार शिष्य, प्रजा या जामाता के घर नहीं जाना चाहिये।

यज्ञशिष्ट भोजन लेने के लिए पृथ्वी कृष्ण से आग्रह करती है।

भीष्म अन्त में कहते हैं : "कृष्ण ने इस धर्म का पालन किया है और इससे सुयश प्राप्त किया है। हे युधिष्ठिर, तू भी इस धर्म का पालन करके सुयश प्राप्त कर।"

४८. उमा-महेश्वर संवाद

कृष्ण और शिव दोनों का सायुज्य प्रदर्शित करते अनुशासन पर्व के अध्यायों में कितना मूल महाभारत का और कितना बाद में कृष्ण और शिव भक्तों ने जोड़ा है, यह तय करने का काम विद्वानों का है। पर कृष्ण जब बारह वर्ष की कठोर तपस्या करने गये तब उनके शरीर से प्रगट होता वैष्णवी तेज पहले दाहक बनकर प्रवर्तित हुआ फिर शामक बनकर कृष्ण में समा गया। यह चमत्कार नारद आदि मुनियों ने देखा और उसके बाद इन मुनियों ने कृष्ण की स्तुति की। कृष्ण के अनुरोध करने पर नारद उमा-महेश्वर का अद्भुत संवाद कह सुनाते हैं। शिव के चतुर्भुज और नीलकंठ रूप के बारे में उमा के आश्चर्य से आरंभ होता यह संवाद कृष्ण की महिमा के वर्णन के साथ समाप्त होता है। इसमें ब्राह्मण की महिमा, स्त्रीधर्म, उपवास, ब्रह्मचर्य आदि के बारे में उमा के प्रश्न और महेश्वर के उत्तर प्रगट हुए हैं। शिव यहाँ कृष्ण को अपने से एक बित्ता ऊपर बताते हुए कहते हैं :

> यो हि मां द्रष्टुमिच्छेत ब्राह्मणं च पितामहम्
> द्रष्टव्यस्तेन भगवान् वासुदेवः प्रतापवान्।
> (अनुशासन, १४७; ३८)

जो मेरे और पितामह ब्रह्मा के दर्शन करना चाहता है वह प्रतापी वासुदेव के दर्शन करे तो इतना ही पर्याप्त है।

आगे चलकर कृष्ण और बलराम के स्वरूप का सायुज्य सुन्दर ढंग से प्रगट किया जाता है।

> य एव विष्णुः सोऽनन्तो भगवान् वसुधाधरः,
> यो रामः स हृषिकेशो योऽच्युतः स धराधरः।
> (अनुशासन, १४७; ६०)

जो विष्णु हैं वही वसुधा (पृथ्वी) को धारण करनेवाले अनन्त बलराम हैं, जो बलराम हैं वही कृष्ण हैं, जो कृष्ण हैं, वही बलराम हैं।

विष्णु तथा अनंत और कृष्ण तथा बलराम का यह एक रूपत्व शिव वर्णन करते हैं, उमा सुनती हैं। नारद वर्णन करते हैं। भीष्म और युधिष्ठिर संवाद के अन्तर्गत ऐसा यह संवाद एक बार फिर कृष्ण की उपस्थिति में ही आगे बढ़ता है। नारद प्रस्तुत संवाद के अनुसंधान में ही कृष्ण से कहते हैं :

न हि नः सा रतिः स्वर्गे या च त्वदर्शने विभो।

(अनुशासन, १४८; ११)

प्रभु आपके दर्शन में हमें जो रति है, वह रति स्वर्ग में भी नहीं है।

नारद का कृष्ण के साथ का यह अनुसंधान जीवमात्र के लिए कृष्ण के साथ का अनुसंधान है। आगे दुर्वासा के वरदान में भी हम यह बात देखेंगे। इसके बाद भीष्म विष्णु के सहस्रनाम का वर्णन करते हैं इससे पूर्व शिवसहस्रनाम भी इस पर्व में आ चुके हैं : अब विष्णुसहस्रनाम भी इस पर्व में ही वर्णित होते हैं।

ब्राह्मणों के विशेष प्रभाव की बाबत कार्तवीर्य, अर्जुन और वायु के बीच वार्तालाप होता है। इसमें उतथ्य, अगस्त्य, वसिष्ठ, अत्रि, च्यवन, आदि श्रेष्ठ ब्रह्मणों के प्रभाव की बात आती है। अंगिरस उतथ्य को इसमें प्रथम स्थान दिया जाता है। ब्राह्मण शिरोमणि के रूप में भगवान् व्यास उतथ्य का वर्णन करते हैं। उतथ्य की पत्नी भद्रा का वरुण हरण कर ले जाते हैं, तब समग्र जल को सोख लेनेवाले और जिनकी विनती मात्र से सरस्वती नदी मरुभूमि में विलीन हो गई उस उतथ्य के प्रभाव का वर्णन करके प्रश्न करते हैं—

ब्रवीम्यहं ब्रूहि वा त्वम् उतथ्यात् क्षत्रियं वरम्।

(अनुशासन, १५४; ३२)

इस उतथ्य से वर (श्रेष्ठ) कोई क्षत्रिय हो तो बताओ। इसी प्रश्न के बाद अगस्त्य, वसिष्ठ, अत्रि, च्यवन इत्यादि के बारे में पूछा जाता है। इन पाँच श्रेष्ठ ब्राह्मणों का वर्णन करने के बाद ब्राह्मणों की और अधिक महिमा स्थापित करने के लिए कृष्ण के मुख से अपने पुत्र प्रद्युम्न को संबोधित कर कहा गया दुर्वासा का एक उपाख्यान रक्खा गया है।

इससे पूर्व भीष्म के मुख से कृष्ण की जो महिमा गवायी गयी है

उसके अनेक श्लोकों के समीप ठहरने का मन करता है, वे इतने मधुर हैं, पर हम एक के पास ठहरें :

स एव पार्थाय श्वेतमश्वं प्रायच्छत्
स एवाश्वानथ सर्वाश्चकार,
स बन्धुरस्तस्य रथस्त्रिचक्र-
स्त्रिवृच्छिराश्चतुरश्वस्त्रिनाभिः।
(अनुशासन, १५८; २६)

यह रहस्यगूढ़ श्लोक है। इसकी पहली पंक्ति में कहा गया है : उन्हीं ने पार्थ को श्वेत अश्व प्रदान किये थे और फिर कहते हैं : उन्हीं ने समस्त अश्वों की सृष्टि का निर्माण किया है। वे ही (संसाररूपी) रथ को बाँधने वाले हैं, इस रथ के तीन चक्के हैं, सत्व, रज और तम। ऊर्ध्व, मध्य और अध, यही तीनों इसकी गति हैं। काल, अदृष्ट, इच्छा और संकल्प ये चार अश्व हैं। श्वेत, श्याम और रक्तिम इन तीन रंगों के त्रिविध कर्म उनकी नाभि है। यह रथ कृष्ण के अधिकार में है।

पार्थ माने अर्जुन भी और पृथ्वी का मनुष्य भी। श्वेत अश्व माने विग्रहयुक्त इन्द्रियाँ। यह समग्र सेन्द्रिय जगत, समग्र वासनामय जगत, कृष्ण का सृजन है। अश्व इन्द्रियों के प्रतीक हैं, गति के प्रतीक हैं, वासना के प्रतीक हैं, पुरुषत्व के भी प्रतीक हैं। अस्तु अश्वों की सृष्टि के निर्माता के रूप में कृष्ण का निरूपण गूढ़ अर्थ से भरा हुआ है। भाष्यकार इस पर अनेक पृष्ठ लिख सकते हैं। रथ के त्रिगुणात्मक चक्के हैं, त्रिविध गति है। सत्व के चक्कों पर रथ चलता है तब उसकी गति उत्तम होती है, रजस् के चक्कों पर चलते रथ की गति मध्यम होती है, तमस् के चक्कों पर चलते रथ की गति अधोमुखी होती है। संसार में हम ऐसी त्रिविध गति देखते हैं। सर्वाधिक रहस्यमय बात तो इस रथ में जोते जाते चार अश्वों की है। अश्वों की सृष्टि के निर्माता कृष्ण संसाररूपी ही नहीं, देहरूपी रथ में चार घोड़े जोतते हैं। इनमें सबसे पहला है–काल, काल पर केवल कृष्ण का ही अधिकार है। मनुष्य काल से बँधा है। काल कृष्ण के सिवा अन्य किसी से नहीं बँधा है। अदृष्ट–दूसरा अश्व है। इस संसार में अदृष्ट जैसा कोई तत्त्व ही न होता तो कदाचित् परिस्थिति भिन्न होती। अदृष्ट तत्त्व के कारण आदमी भगवान् के वश में रहता है। कुछ अकल्पनीय है, कुछ ऐसा है जो आदमी की दृष्टि से, समझ से परे

है। तीसरा अश्व है–इच्छा। और इच्छा से भी आगे बढ़कर कोई वस्तु भगवान् ने मनुष्य को दी है तो वह है–संकल्प।

इस श्लोक पर भाष्य लिखना हो तो ग्रंथ कम पड़ेंगे। पर मनुष्य की गति समझ में आ जाय तो एक पल में श्लोक का रहस्य भी समझ में आ जाय। त्रिचक्र, त्रिविध गति और चार अश्व–इसका अभी सघन और भिन्न अर्थघटन हो सकता है। पर इसे पंडितों के लिए छोड़ दें। हमारे लिए तो इतना पर्याप्त है कि यह देहरूपी और संसाररूपी रथ कृष्ण की लीला से चलता है, यदि हम भाग्यशाली पार्थ हैं तो कृष्ण श्वेत अश्व प्रदान करते हैं।

भीष्म द्वारा गायी गयी कृष्ण की महिमा के अन्य श्लोकों का स्पर्श किये बिना, ब्राह्मण की पूजा के फल की बाबत युधिष्ठिर के प्रश्न का कृष्ण द्वारा दिया गया उत्तर देखें। कृष्ण समूचे अनुशासन पर्व में सीधे संवाद में केवल यही बोलते हैं। अन्यत्र वे नारद, शिव आदि की उक्ति में पात्र के रूप में आते हैं। यहाँ कृष्ण शरशय्या पर पड़े पितामह की उपस्थिति में युधिष्ठिर को अपने अनुभव कहते हैं।

दुर्वासा का वर्णन कृष्ण बड़े सरस ढंग से करते हैं : वे हरिपिंगल, (हरित और पिंगल भी) वर्ण है, बिल्व-दंडी (बेल का डंडा हाथ में धारण करने वाले) हैं, चीरवासा (केवल चिथड़े पहिननेवाले हैं), और 'दीर्घश्मश्रु कृशो महान' (बड़ी-बड़ी मूँछ-दाढ़ी वाले) हैं। इस पृथ्वी पर जितने मनुष्य हैं, वे उनमें सबसे दीर्घ—ऊँचे हैं।

ये दुर्वासा बैठकों और सभाओं में पुकारते थे, 'मेरे जैसे दुर्वासा ब्राह्मणों को कौन सत्कारपूर्वक अपने यहाँ रक्खेगा ?' इतना ही नहीं, फिर दुर्वासा चेतावनी दे देते थे, 'मेरे प्रति तनिक भी अपराध करोगे तो मैं क्रुद्ध हो जाऊँगा, यह समझकर मुझे अतिथि बनाइयेगा।' ऐसे क्रोधी मुनि को 'आइये' ऐसा भी कौन कहेगा ? पर कृष्ण ने उन्हें अपने यहाँ बुलाया। दुर्वासा कैसे हैं ? तो बताते हैं कि हजारों आदमी खायें इतना एक बार में खा जायँ, तो कभी थोड़ा-सा अन्न खाकर घर से बाहर निकल जायँ। कभी जोर-जोर से हँसने लगें, कभी भीषण विलाप कर उठें।

ऐसे दुर्वासा क्रोध में आये और कृष्ण के घर में सब रफादफा कर डाला और फिर कृष्ण के पास आकर कहा : "मुझे तो फौरन खीर-

खानी है।" कृष्ण दुर्वासा को जानते थे अस्तु उन्होंने तरह-तरह के पकवान तैयार कर ही रखे थे, उन्होंने फौरन ही गरम-गरम खीर (ज्वलमान वै पायसं) मुनि को दी। मुनि को कोई खीर तो खानी नहीं थी। उन्होंने जरा-सी खीर चखी। फिर कृष्ण से कहा : "कृष्ण अब यह खीर अपने समग्र अंग पर पोत लो" कृष्ण ने बिना सोचे-विचारे सभी खीर मस्तक से लेकर सभी अंगों पर पोत ली। रुक्मिणी हँसती थीं, उस पर भी यह खीर पोती। फिर मुनि रुक्मिणी को रथ में जोत-कर घर से बाहर निकले। कृष्ण की पटरानी दुर्वासा का रथ खींच-कर ले जाय और दुर्वासा चाबुक मारकर रुक्मिणी को चलावें और वह भी मेरी आँखों के आगे (मम पश्यतः) ऐसा कृष्ण कहते हैं। यह देखकर भी कृष्ण रंचमात्र क्रुद्ध नहीं हुए। रुक्मिणी अन्त में थककर गिर गई। मुनि क्रोध में भरकर रथ से कूदकर पैदल ही दक्षिण दिशा में जाने लगे। खीर से चुपड़े कृष्ण दौड़कर उनके पैरों पर पड़ गये और बोले "भगवान प्रसन्न होइये।"

यह तेजस्वी ब्राह्मण कृष्ण के धैर्य की और स्थैर्य की परीक्षा ही ले रहे थे। वे कह उठते हैं :

जितः क्रोधस्त्वया कृष्ण प्रकृत्यैव महाभुज।

(अनुशासन, १५९; ३७)

कृष्ण तूने प्रकृति (स्वभाव) से क्रोध को जीत लिया है।

दुर्वासा प्रसन्न होते हैं, तब वे वरदानों की वर्षा करते हैं। इस समय वे आशुतोष शिव जैसे प्रतीत होते हैं। इनमें का एक सूचक वर-दान ये है :

यावदेव मनुष्याणामन्ने भावो भविष्यति
यथैवान्ने तथा तेषां त्वयि भावो भविष्यति।

(अनुशासन, १५९; ३९–४०)

जब तक मनुष्यों का अन्न में भाव रहेगा तब तक अन्न जैसा ही तेरे में भी भाव रहेगा।

यह अद्भुत वरदान है। अन्न में आदमी का जो भाव है वह कृष्ण में भी रहेगा, इस वरदान का सूचितार्थ तो हरेक आदमी अपने-अपने ढंग से कर सकता है। ऐसा वरदान न तो राम को मिला, न अन्य किसी अवतार को। कृष्ण को ही, यह वरदान दुर्वासा ने क्यों दिया ?

कारण यह कि कृष्ण ने स्वयं अग्नि से पार्थ (पृथ्वी-पुत्र—मनुष्य) के साथ शाश्वत प्रीति का वरदान माँगा था।

फिर दुर्वासा कहते हैं : तूने अपनी देह पर खीर पोती है इस समग्र देह पर चाहे जितने आघात हों तो भी तेरी मृत्यु नहीं होगी। और फिर पितृतुल्य वत्सलतासे दुर्वासा कहते हैं :

न तु पाद तले लिप्ते कस्मात्ते पुत्रकाद्य वै।

(अनुशासन, १५९; ४४)

हे पुत्रक, तूने तेरे पैर के तलुवों पर खीर क्यों नहीं पोती ?

कृष्ण का वध शिकारी के पदतल पर लगे बाण से हुआ था, यह याद आता है।

रुक्मिणी को भी पति के 'सालोक्य की अधिकारिणी' होने का वरदान दुर्वासा प्रदान करते हैं।

अन्त में भीष्म द्वारा दिये गये ज्ञान के पर्व की समाप्ति होती है। और वे भीष्म युधिष्ठिर, कृष्ण आदि से कहते हैं : अब दक्षिणायन पूर्ण हो तब आइयेगा। युधिष्ठिर, समय आया तब, भीष्म पितामह के अन्तिम संस्कार की सामग्री—घी, माला, गंध, रेशमी वस्त्र, चन्दन, अगरु, श्याम चन्दन, विविध रत्न, आदि लेकर पितामह के पास जाते हैं।

भीष्म कहते हैं : ये अट्ठावन दिन मेरे लिए सौ वर्ष जैसे बीते हैं। भीष्म साँसों की लीला समेटते हैं। उस समय माघ का महीना है, शुक्लपक्ष है, जिसका एक भाग बीत गया है और तीन भाग शेष हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि माघ सुदी अष्टमी को भीष्म ने जीवन समेट लिया। (शुक्ल पक्ष का एक भाग गिने तो माघ सुदी पंचमी-वसन्त पंचमी का दिन आता है)। इस प्रकार गणना करे और अट्ठावन दिन पीछे जाय तो भीष्म जब गिरे उस दिन की गणना की जा सकती है। पर यह काम पंचाँगवेत्ताओं पर छोड़ दें।

भीष्म युधिष्ठिर आदि राजाओं को सम्बोधित करते सीख देते हैं। फिर कृष्ण की स्तुति करते हैं। कहते हैं :

त्रायस्व पुण्डरीकाक्ष पुरुषोत्तम नित्यशः,
अनुजानीहि मां कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम।

(अनुशासन, १६७; ३९)

हे कमलनयन पुरुषोत्तम, कृष्ण, वैकुण्ठ, आप मेरा उद्धार करें। मुझे जाने की आज्ञा दें।

यहाँ कृष्ण को तीन सम्बोधन किये गये हैं। इन तीनों की सार्थकता सरलता से समझ में उतर सकने वाली है।

भीष्म प्राणत्याग करते हैं तब गंगा प्रगट होकर अपने पुत्र के लिए शोक करती है। गंगा को सबसे बड़ा दुःख यह है कि परशुराम भी जिसे हरा न सके ऐसा मेरा पुत्र शिखण्डी के हाथों मारा गया। कृष्ण गंगा से कहते हैं, साथ ही युद्ध की कपटनीति के समय गोपित रहा सत्य सृष्टि के सामने प्रगट करते हैं।

स एषक्षत्रधर्मेण अयुध्यत रणाजिरे
धनंजयेन निहितो नैष देवि शिखंडिना।

(अनुशासन, १६८; ३२–३३)

देवि, आपके पुत्र ने क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध किया था और वे शिखण्डी के हाथों नहीं, अर्जुन के हाथों मारे गये।

और फिर कहते हैं : उस समय वे 'अयुध्यमान' थे। हाथ में धनुष-बाण हो ऐसे भीष्म को अर्जुन तो क्या साक्षात् इन्द्र भी नहीं मार सकते थे। वे तो स्वेच्छा से स्वर्गलोक में गये हैं।

गंगा का शोक इस प्रकार कृष्ण दूर करते हैं। गंगा (वार्यवतार) जल में लीन हो जाती हैं। यहाँ समाप्त होता है–अनुशासन पर्व।

४९. मनसैकेन योद्धव्यं

युद्ध के पहले तो वीरत्व, विजय या उन्माद का नशा होता है, परन्तु युद्ध के बाद तो विजय या पराजय दोनों बराबर बन जाते हैं। युधिष्ठिर विजयी राजा है, पर हर प्रकार से दीन और पराधीन स्थिति में रख दिया गया है। मृत स्वजनों को जलांजलि देकर युधिष्ठिर बाहर आते हैं तब––

तं सीदमानं जग्राह भीमः कृष्णेन चोदितः।

(आश्वमेधिक, १;४)

युधिष्ठिर को शिथिल होता देखकर कृष्ण द्वारा प्रेरित भीम ने उन्हें पकड़ लिया।

कृष्ण इस समूची परिस्थिति में स्वस्थ हैं। इतना ही नहीं, पर

जिन्हें अपना कहा है, उनका ख्याल रखते हैं। युधिष्ठिर, यदि कोई सँभाले नहीं तो, गिर जाने की स्थिति में है और उन्हें सँभालने की ताकत केवल भीम में है, इन दोनों बातों का ख्याल कृष्ण को आता है और वे संकेत से युधिष्ठिर का ध्यान रखने को भीम को चेताते हैं।

युधिष्ठिर को शोकग्रस्त देखकर राजा धृतराष्ट्र उन्हें अपार सान्त्वना देते हैं, इसमें एक श्लोक में धृतराष्ट्र की अपनी व्यथा भी गहन वातावरण में आलेखित हुई है :

शौचितव्यं मया चैव गान्धार्यां च महीपते,
ययोः पुत्रशतं नष्टं स्वप्नलब्धं यथा धनम्।

(आश्वमेधिक, १; १०)

धृतराष्ट्र कहते हैं : "हे महीपति, शोक तो मुझे और गांधारी को करना चाहिए, हमारे सौ पुत्र स्वप्न में मिले धन की भाँति नष्ट हो गये हैं।" यहाँ अब तक अपने लिये जो संबोधन व्यवहृत था उस 'मही-पति' संबोधन का प्रयोग धृतराष्ट्र युधिष्ठिर के लिए करते हैं, संदर्भ को देखते हुए यह अत्यंत सूचक है। और स्वप्न में प्राप्त धन जैसे जागते ही नष्ट हो जाता है इसी प्रकार उनके सौ पुत्र आज पृथ्वी पर नहीं हैं।

धृतराष्ट्र जब युधिष्ठिर को सांत्वना देते हैं तब एक दुःखी आदमी दूसरे दुखी आदमी को सांत्वना देता है। सांसारिक सांत्वनाएँ इसी प्रकार की होती हैं। हम शायद ही कभी सामने वाले व्यक्ति का दुःख समझकर उसके लिए आवश्यक सांत्वना देते हैं बल्कि हम भी इतने ही दुःखी हैं, ऐसा कहकर सामने वाले व्यक्ति की वेदना को धार-हीन बनाने और अपने लिए सहानुभूति उभारने की चेष्टा करते हैं। इसी से धृतराष्ट्र के सांत्वना वचनों से युधिष्ठिर चुप हो जाते हैं। इस पर कृष्ण कहते हैं—

अतीव मनसा शोकः क्रियमाणो जनाधिप,
संतापयति चैतस्यपूर्वप्रेतान पितामहान्

(आश्वमेधिक, २; २)

आदमी यदि मरे हुए के बारे में अधिक शोकग्रस्त होता है तो वह इस शोक द्वारा पहले मरे हुए पितामहों को संतप्त कर देता है।

मृत्यु तो प्रकृति है—और उस पर शोक नहीं होता, यह बात कृष्ण सहज भाव से समझाते हैं : कृष्ण के शब्दों से भी युधिष्ठिर को शांति

नहीं मिलती अस्तु अब कृष्णद्वैपायन व्यास युधिष्ठिर के पितामह होने के नाते क्रोध से भरकर और कटु पर सत्य वचन सुनाते हैं। वे कहते हैं :

असकृच्चापि संदेहाश्छिन्नास्ते कामजा मया।
अश्रद्दधानो दुर्मेधा लुप्त स्मृतिरसि ध्रुवम् ॥

(आश्वमेधिक, २; १८)

युधिष्ठिर का शोक कोई निरपेक्ष शोक नहीं है। उसका सन्देह भी निरपेक्ष नहीं है। वह कामजनित है। व्यास ने भी अनेक बार इस सन्देह के निवारण करने का प्रयत्न किया है। परन्तु दुर्मेधा—मिथ्या बुद्धि होने के कारण युधिष्ठिर को इसमें शंका नहीं होती। इससे व्यास को लगता है निश्चय ही युधिष्ठिर ने अपनी स्मृति खो दी है।

व्यास के वचन कठोर हैं, पर उचित हैं। भीष्म इत्यादि द्वारा इतना ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी धर्मराज यदि इस तरह रुदन करें तो या तो वह दंभ होगा या स्मृतिभ्रंश। ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है। ज्ञान का जीवन में विनियोग महत्वपूर्ण वस्तु है। व्यास यही बात युधिष्ठिर को समझाते हैं। कभी-कभी व्यक्ति का अहंकार भी उसे इस हेतु प्रेरित करता है। अस्तु, व्यास युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं--

ईश्वरेण च युक्तोऽयं साध्वसाधु च मानवः।
करोति पुरुषः कर्म तत्र का परिदेवना ?

(आश्वमेधिक, ३; २)

आदमी जो भी अच्छा बुरा कार्य करता है वह ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर करता है, फिर यह परिदेवना, यह शोक किसलिए ?

फिर व्यास युधिष्ठिर को यज्ञ करने के लिए प्रेरित करते हैं। इस समय युधिष्ठिर के उत्तर में उसके शोक के पीछे निहित अनेक कारणों में से एक प्रगट होता है। युधिष्ठिर इस अपार नरसंहार के बाद राजा तो हुए हैं पर उनके खजाने खाली पड़े हैं। दूसरे राजा भी युद्ध के खर्च के बाद एकदम दीनहीन दशा मे आ गये हैं--और कर वसूला जाय, इतनी संपत्ति प्रजा के पास बची नहीं है।

इमं ज्ञातिवधं कृत्वा सुमहान्तं द्विजोत्तम
दानमल्पं न शक्नोमि दातुं वित्तं च नास्ति मे।

(आश्वमेधिक, ३;१२)

हे द्विजश्रेष्ठ, हमने सुमहान ऐसा जातिवध किया है : अब तो अल्पदान देने की शक्ति भी हममें नहीं रही है।

युधिष्ठिर की वेदना में 'जातिवध' एक कारण है, पर साथ ही अल्पदान देने की शक्ति भी नहीं रही है यह दूसरा महत्वपूर्ण कारण है। अश्वमेध यज्ञ करने में तो दान ही सबसे महत्वपूर्ण चीज़ है, दान देने के लिए जिसके पास कुछ भी नहीं है वह महीपति करे क्या ?

इस दरिद्रता को दूर करने के उपाय के रूप में मरुत राजा ने यज्ञ के समय कैसे हिमालय प्रदेश से खजाना प्राप्त किया था इसकी सूचना व्यास देते हैं। यहाँ देवों के पुरोहित बनकर मनुष्यों से यज्ञ न कराने की प्रतिज्ञा करवानेवाले बृहस्पति और उनके तेजस्वी भाई संवर्त की कथा आती है। अंगिरा के आठ पुत्रों में उतथ्य की कथा पहले आ चुकी है। यहाँ संवर्त का प्रताप प्रदर्शित होता है।

युधिष्ठिर को धन मिलता है, फिर भी तृप्ति नहीं होती। उनका शोक नष्ट नहीं होता। तब अब कृष्ण कुछ स्पष्ट वचन कहते हैं--

सर्वं जिह्म मृत्युपदम् आर्जवं ब्राह्मणः पदम्।
एतावान ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ?

(आश्वमेधिक, ११; ४)

कुटिलता मृत्यु का स्थान है : आर्जव या सरलता ब्रह्म का साधन है। यह बात समझ में आयी कि ज्ञान आ गया। तब प्रलाप से क्या लाभ होगा ? अब आगे कृष्ण कहते हैं कि युधिष्ठिर आपका काम अभी पूरा नहीं हुआ है। आपने अभी शत्रुओं को नहीं जीता है। सबसे बड़ा शत्रु तो आपके भीतर बैठा है और आप उसे जानते तक नहीं। इन्द्र ने अपनी देह में प्रविष्ट हो गये वृत्रासुर का किस प्रकार अदृश्य वज्र द्वारा संहार किया था, इसका उपाख्यान कृष्ण कहते हैं--और फिर आधुनिक मनोवैज्ञानिक जिस प्रकार 'साइको सोमैटिक' शब्द को समझाते हैं; श्रीकृष्ण उससे भी अधिक सटीक ढंग से मन और शरीर के रोग की व्याख्या करते हैं—

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपपद्यते॥

(आश्वमेधिक, १२; १)

शरीर के और उसी प्रकार मन के दो प्रकार के रोग होते हैं। पर-

स्पर के कारण से ही ये रोग होते हैं। अर्थ यह कि शरीर के रोग के कारण मन के रोग प्रगट होते हैं या मन के रोग शारीरिक रोग के माध्यम से प्रकट होते हैं। यह द्वन्द्व न हो तो रोग भी न हों। मन और देह दोनों निरामय हों तो दोनों में से एक की व्याधि भी प्रगट न हो; मानसिक रोग को आगे चलकर कृष्ण और स्पष्ट करते हैं। शीत, उष्ण और वायुः देह के इन तीन गुणों की समानता स्वस्थ पुरुष का लक्षण है। सत्त्व, तम, रज—ये मन के गुण हैं। इन गुणों की समानता स्वस्थ मन का लक्षण है। इनमें से किसी एक की वृद्धि हो तो मन बिगड़ता है, सत्त्व भी प्रमाण से अधिक हो, आदमी में ऐसा अहं भाव प्रेरित करे कि वह मनुष्यता का सागर है, दुनियाँ के सभी सद्गुण उसमें हैं, तो यह भी एक प्रकार का मानसिक रोग है। युधिष्ठिर शोक करता है, पर वह भूल जाता है कि जिन्हें मारा था वह मारे जाने के पात्र थे।

उन्हें द्यूतसभा में हुए द्रौपदी के अपमान की स्मृति नहीं है। बन-वास की स्मृति नहीं है क्योंकि द्रौपदी के साथ हुए दुर्व्यवहार का स्मरण नहीं है। यह सब यदि युधिष्ठिर याद करें तो कितना सारा शोक कट-कर अलग हो जाने से कम हो जाय।

परंतु आदमी वास्तविकता से जूझने से डरता है। वह किसी अन्य व्यक्ति से मुक्केबाजी करनी हो तो डरता नहीं है, पर अपने मन के साथ लड़ने में अचकचाता है। कृष्ण युधिष्ठिर को यह रहस्य समझाते हैं :

यच्च ते द्रोण भीष्माभ्यां युद्धमासी दरिंदम्,
मनसैकेन योद्धव्यं तत् ते युद्धमुपस्थितम्।
(आश्वमेधिक, १२;१२)

हे शत्रुदमन, आपने द्रोण और भीष्म के साथ जैसा युद्ध किया था ऐसा ही युद्ध आज आपके सामने आया है। पर यह युद्ध 'मनसा' मन से, तथा 'एकेन' अकेले लड़ना है। मन के साथ अकेले लड़ना यह विषम कार्य है। कारण यह कि इस युद्ध में—

यत्र नैव शरः कार्यं न भृत्यैर्न च बन्धुभिः,
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत् ते युद्धमुपस्थितम्।
(आश्वमेधिक, १२; १४)

इस युद्ध में न बाण काम आते हैं, न सेवक काम आते हैं, न भाई

काम आते हैं। यहाँ भीम या अर्जुन का शौर्य या कहाँ कितनी अक्षौहिणी सेना है यह बात निरर्थक है। यह तो अकेले ही मन के साथ करने का युद्ध है, मन के साथ न लड़ सकें तो फिर आपकी क्या स्थिति होगी यह आप जानें।

कृष्ण ये शब्द केवल युधिष्ठिर से ही नहीं कहते, हम सबसे कहते हैं। मन के साथ का यह घोर युद्ध सभी के समक्ष उपस्थित होता रहता है। बाहर के युद्ध जीतना सरल है, पर यह मन के साथ का युद्ध, यह तो विकट है और यहीं सब लोग गोता खाते रहते हैं। मन के साथ का युद्ध तो भीष्म के साथ लड़ने जैसा ही दुष्कर है, शायद उससे भी ज्यादा दुष्कर है, कारण यह कि भीष्म के साथ लड़ने में तो कृष्ण, अर्जुन, भीम और सात्यकि भी साथ होते हैं। मन के साथ लड़ने में हम एकदम अकेले ही होते हैं। जो यह युद्ध लड़ सकता है उसे ही शायद कृष्ण मिलते हैं। जो कायर होकर युद्ध में से पीछे हटता है वह कृष्ण का नाम तो अनेक बार रटता रहता है तो भी उसे कृष्ण की प्राप्ति नहीं होती।

५०. अनुगीता

कृष्ण सतत पाण्डवों का धर्मबोध करते ही रहते हैं। पाण्डव सतत् यह बोध बिसारते रहते हैं। भगवान और मनुष्य का सम्बन्ध ही इस ढंग से जुड़ा है। भगवान मनुष्य को उसका मार्ग सुझाते हैं, मनुष्य इसके बावजूद संसार-वन में भटकता ही रहता है।

कृष्ण ने कितनी बार अर्जुन का, युधिष्ठिर का प्रबोध किया है? इस बोध पर अधिकृतता की मोहर लगे इस वास्ते विराट-स्वरूप का दर्शन अर्जुन को कराया, इतना ही नहीं, पर शरशय्या पर पड़े भीष्म भी कृष्ण वासुदेव की महिमा का सतत् गान करते हैं।

तथापि पूर्णबोध किसी को भी नहीं होता। मनुष्य अपने ढंग से ठोकर खाकर ही सीखता है। जैसे पिता स्वयं को भोगनी पड़ी, ऐसी कोई विपत्ति अपने पुत्र को न सहनी पड़े, इसकी इच्छा करता है परन्तु पुत्र को तो उसी प्रक्रिया में से गुजरना पड़ता है, वही ठोकर खानी होती है, यही बात कृष्ण और पाण्डवों के बीच फिर-फिर होते संवादों से स्पष्ट होती है।

कृष्ण ने युधिष्ठिर को मन के साथ युद्ध की महिमा समझाई,

पर अभी युधिष्ठिर के आगे छाई धुंध उड़ी नहीं है। अस्तु, कृष्ण अधिक स्पष्टता से बात सामने रखते हैं :—

द्वयक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति न शाश्वतम्॥
(आश्वमेधिक, १३; ३)

दो अक्षर अर्थात् 'मम' मृत्यु का रूप है। त्र्यक्षर अर्थात् 'न मम'—ये तीन अक्षर शाश्वत ब्रह्म है। ममता ही मृत्यु है, ममता का त्याग ही अमृत है।

मृत्यु और अमृत का बोध यहाँ एक ही श्लोक में कृष्ण युधिष्ठिर को समझाते हैं। आदमी की मृत्यु या आदमी का अमरत्व—यह आदमी के अन्दर ही बसा हुआ है। ममता में ही युद्ध के बीज हैं। निर्ममता में अयुद्ध, अमृत है।

संसार के सभी कर्मों के मूल में कामना होती है। इस कामना का निग्रह ही धर्म है। यही मोक्ष का मूल है।

कृष्ण जब यह बात कहते हैं तब वे कामना को जीतने के मनुष्य के मिथ्या आभास देने वाले प्रयत्नों से अनजान नहीं हैं। वे काम तत्त्व के मुख में ये शब्द रखते हैं :—

यो मां प्रयतते हन्तुं ज्ञात्वा प्रहरणे बलम्
तस्य तस्मिन् प्रहरणे पुनः प्रादुर्भवाम्यहम्।
(आश्वमेधिक, १३; १४)

जो मनुष्य शस्त्रबल की अधिकता का अनुभव करके मुझे (अर्थात् काम को) नष्ट करने का प्रयत्न करता है उसके शस्त्रबल में मैं अभिमान रूप में प्रगट हो जाता हूँ।

आदमी काम पर विजय प्राप्त करने हेतु जिन-जिन मार्गों को ग्रहण करता है, उनमें जब तक अहंकार का भाव होता है तब तक काम पर विजय की सिद्धि नहीं होती। बल्कि—

यो मां प्रयतते हन्तुं धृत्या सत्यपराक्रमः।
भावो भवामि तस्याहं स च मां नावबुध्यते॥
(आश्वमेधिक, १३; १५)

सत्य पराक्रमी पुरुष धैर्य के बल से मेरा (अर्थात् काम का) नाश करने की चेष्टा करता है, उसके मानसिक भावों के साथ मैं इतना तद्रूप हो जाता हूँ कि वह मुझे पहिचान नहीं सकता।

इस प्रकार बल, धैर्य, तप आदि में काम का वास हो सकता है, यह बात कृष्ण युधिष्ठिर को समझाते हैं।

इसके बाद युधिष्ठिर के धर्मशासन का अतिसुन्दर वर्णन आता है। आगे कृष्ण अर्जुन संवाद आता है। कृष्ण अब कहते हैं: 'मेरे अब यहाँ रहने का कोई प्रयोजन नहीं है।' और कृष्ण की यह बात स्वीकार करने के अलावा अर्जुन के सामने कोई विकल्प नहीं है।

हमने पहले देखा कि कृष्ण द्वारा पल-पल दिया हुआ ज्ञान अर्जुन पल-पल बिसारता रहता है। भगवान और पार्थ (पृथ्वी का पुत्र-मनुष्य) के बीच यह स्थायी सम्बन्ध है। कृष्ण जाने की बात करते हैं तब अर्जुन फिर वही बात कहता है। वह कहता है :

यत् तद् भगवतः प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्
तत सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतस।

(आश्वमेधिक, १६; ६)

हे केशव, आपने सौहार्दवश पहले मुझे ज्ञान दिया था। मेरा वह सब ज्ञान इस समय भ्रष्टचेतस (विचलित चित्त) होने से नष्ट हो गया है।

कृष्ण ने कुरुक्षेत्र में गीता का बोध दिया था, इसके बाद युद्ध के बीच सतत अर्जुन को अपनी महिमा और सृष्टि की अस्थिरता समझाते रहे। पर आदमी और ईश्वर के बीच जैसा होता आया है वैसे ही आदमी ईश्वर की बात अपनी गरज पूरी होने तक ही याद रखता है और गरज नहीं होती तब भूल जाता है।

अर्जुन भी यह बात भूल गया है। अब कृष्ण द्वारका जाने वाले हैं : तब पुनः एक बार कृष्ण का उपदेश सुनने की उसे इच्छा होती है। और कृष्ण को यह अच्छा नहीं लगता। कृष्ण इस समय अर्जुन से कहते हैं कि मैंने तुझे गुप्तज्ञान दिया, सनातनधर्म तथा शाश्वत लोकों का परिचय कराया था फिर भी आज तू प्रमादवश होकर वह सब भूल गया है। अब तो मैं उन बातों को पूरा याद भी कहाँ से कर सकता हूँ ?

कृष्ण के लिए भी गीता फिर से कहना विकट है। सिद्ध संगीतकार एक ही तान फिर-फिर नहीं छेड़ सकता। कृष्ण भी गीता के ज्ञान के उस स्तर पर फिर यथावत् आ सकें ऐसा नहीं है। कृष्ण का अर्जुन पर का रोष अपार है, वे कहते हैं—

नूनमश्रद्धानोऽसिदुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनंजय ॥

(आश्वमेधिक, १६;११)

तू अश्रद्धावान प्रतीत होता है, अर्जुन ! और तेरी बुद्धि भी मंद लगती है। मैंने जो पहले कहा था वह अब अशेष रूप से फिर कहने के लिए मैं शक्तिमान नहीं हूँ।

कृष्ण वास्तव में अर्जुन से उन्होंने कुरुक्षेत्र में जो कहा था वह ज्यों का त्यों कह सकें यह संभव नहीं है क्या ? यदि ऐसा हो तो कृष्ण परमात्मा हैं तथापि उनके लिए यह मर्यादा ? ऐसा न हो तो कृष्ण ने अर्जुन से जो कहा उसमें पूर्ण सत्य नहीं था क्या ?

कृष्ण इस लौकिक सृष्टि के एक मानव को अलौकिक ज्ञान देते हैं : वे इस समय भी इतने ही उत्कट ढंग से ज्ञान देने को तत्पर हैं पर संयोगों की उत्कटता वे फिर से सृजन नहीं कर सकते। दोनों ओर अठारह अक्षौहिणी सेना खड़ी हो, भीष्म से लेकर भीम तक के महारथियों के शंखनाद हो रहे हों, ऐसे क्षण अर्जुन के मन में जगे निर्वेद का शमन करने हेतु कृष्ण की जो वाणी प्रगट हुई थी वह इस समय हस्तिनापुर स्थित राजमहालय के दीवानखंड में बैठे-बैठे किस तरह प्रगट हो सकती है ? संयोगों के खिंचाव का असर अभिव्यक्ति पर रहता ही है। अभिव्यक्ति भले एक ही हो पर अर्थ बदल जाते हैं। राजमहल के दीवानखाने में कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में प्रगट हुई तीव्रता कहाँ से आ सकती है ? अस्तु, कृष्ण सत्य ही कहते हैं कि उन्होंने जो पहले कहा उसका अब ज्यों-का-त्यों पुनरावर्तन कर सकना संभव नहीं है।

इसका एक और कारण भी है। गीता के ज्ञान का सम्बन्ध उसके बाद के तात्कालिक कर्म के साथ था। 'ततो युद्धाय युज्यस्व' ऐसी बात कृष्ण कहें तब अर्जुन को अपने गाण्डीव का शरसंधान करके युद्ध में जुट जाना था। इस समय अर्जुन के प्रश्न का सम्बन्ध किसी सामाजिक घटना के साथ नहीं है, वैयक्तिक मोक्ष के साथ है। इससे भी उसकी तीव्रता कुरुक्षेत्र में जैसी थी वह वैसी की वैसी नहीं आ सकती थी।

अस्तु, कुरुक्षेत्र में कृष्ण-अर्जुन के बीच जो संवाद हुआ था, उसके ही पुनरावर्तन को कवि ने यहाँ टाला है। भगवान व्यास कवि भी हैं।

वे एक ही बात दुहरायें तो भी उसमें कुछ नया उभरे बिना नहीं रहता। अस्तु, अब कृष्ण अर्जुन को एक बोधकथा द्वारा गीता का ज्ञान प्रदान करते हैं और इसे अनुगीता के रूप में जाना जाता है। कथा में कथा जैसी यह बात है। कृष्ण के यहाँ एक सिद्ध ब्राह्मण आते हैं। कृष्ण उसकी पूजा करके उनसे मोक्ष धर्म की बाबत प्रश्न करते हैं। उत्तर में वह ब्राह्मण कश्यप नामक एक और ब्राह्मण की बात कहते हैं जो किसी सिद्ध महर्षि के पास इस मोक्षधर्म का रहस्य जानने हेतु गया था। वह सिद्ध महर्षि जो बात कहते हैं वह है अनुगीता। गीता भगवान् की वाणी है। दोनों वाणियों की अलग महिमा है तो दोनों वाणियों के बीच अग्रगामी अन्तर भी है।

५१. गीता और अनुगीता

गीता और अनुगीता में तात्त्विक अन्तर है। अनुगीता आश्वमेधिक पर्व के १६वें अध्याय से आरम्भ होती है, सो एकदम ९२वें अध्याय तक चली जाती है। ९२वें अध्याय में कुल १२७३ श्लोक हैं। आश्वमेधिक पर्व के कुल ४२०९ श्लोक में से अधिकतर श्लोक अनुगीता के ही हैं। अवश्य ही ९२वें अध्याय के १२७३ में से केवल ३५ श्लोक अनुगीता के हैं, बाकी के श्लोक वैष्णव धर्म का वर्णन करनेवाले हैं। बीच में १९वें से ३६वें अध्याय तक ब्राह्मण-गीता आती है। इसके कुल ३२५ श्लोक हैं। श्लोक संख्या की दृष्टि से अनुगीता सात सौ श्लोकों की भगवद्गीता की अपेक्षा विपुल है। स्वाभाविक ढंग से ही गीता के सघन ज्ञान के स्थान पर यहाँ उदाहरणों, उपाख्यानों आदि की मदद से साधारण जन के गले उतर सके ऐसा ज्ञान है। गीता कृष्णार्जुन संवाद है। अनुगीता में सिद्ध-काश्यप संवाद, गुरु-शिष्य संवाद आदि विविध प्रकार के संवाद आते हैं। गीता की भाँति अनुगीता भी कृष्ण के श्रीमुख से अर्जुन को सुनाकर कहलाई गई है। पर गीता में कृष्ण अर्जुन के साथ सीधी बात करते हैं। अनुगीता में कृष्ण और अर्जुन के बीच सीधा संवाद नहीं है पर कृष्ण अर्जुन को भिन्न-भिन्न प्रसंग सुनाकर क्लिष्ट ज्ञान प्रदान करते हैं। समूची अनुगीता का ज्ञान-बोध निकट से देखने लायक है, पर हम उसकी एक झलक ही देखें।

कृष्ण अर्जुन से स्पष्ट रूप से कह देते हैं कुरुक्षेत्र में मैंने तुमसे जो

कहा था वह अब वैसे का वैसा पुनः कह सकूँ यह संभव नहीं है। पर मैंने एक ब्राह्मण से प्रश्न पूछा था, उसका ब्राह्मण ने जो उत्तर दिया वह बताता हूँ। हम देख चुके हैं कि यह प्रश्न मोक्ष-धर्म के विषय में था। ब्राह्मण इसके उत्तर में काश्यप तथा सिद्ध ब्राह्मण के बीच हुआ संवाद सुनाता है। अस्तु, कृष्णार्जुन संवाद के अन्तर्गत कृष्ण-ब्राह्मण संवाद आता है और इस दूसरे संवाद के अन्तर्गत काश्यप-सिद्ध संवाद आता है।

यहाँ प्राप्त होता ज्ञान गीता जितना सघन नहीं है। पर साधारण लोगों के लिए अधिक उपयोगी है। शायद अनुगीता के मार्ग से गीता-ज्ञान की ओर जाना अधिक सरल होगा।

उदाहरण के लिए अनुगीता के प्रारम्भ में काश्यप सिद्ध से पूछते हैं :—

कथं शरीरं च्यवते कथं चैवोपपद्यते,
कथं कष्टाच्च संसारात् संसरन् परिमुच्यते।

(आश्वमेधिक, १७; २)

यह शरीर कैसे गल जाता है? दूसरा शरीर कैसे प्राप्त होता है? संसारी जीव इस दुःखमय संसार से किस प्रकार मुक्त होता है?

काश्यप के प्रश्न आगे बढ़ते हैं वे पूछते हैं : जीवात्मा प्रकृति और उससे उत्पन्न होते शरीर का त्याग कैसे करता है? शरीर से मुक्त होकर वह दूसरे शरीर में किस तरह प्रवेश करता है?

काश्यप का तीसरा प्रश्न इससे भी आगे जाता है : आदमी अपने किये शुभाशुभ कर्मों को किस तरह भोगता है? और जब शरीर नहीं रहता तब कर्म कहाँ रहते हैं?

इन प्रश्नों से यह ख्याल आता है कि गीता में भी इन विषयों की विस्तार से छानबीन की गई है। पर गीता में भगवान् के अपने श्रीमुख से दिये गये उत्तर पारे जैसे हैं : सब उसे पचा नहीं सकते। ये अधिकतर लोगों के सिर पर से गुजर जाते हैं। यहाँ, इसी से कृष्ण अपने सघनता से दिये उत्तरों के बदले सिद्ध द्वारा ब्राह्मणों को समझाने के लिए दिये गये उत्तरों का सहारा लेते हैं।

शरीर का त्याग कब होता है, इसके उत्तर में सिद्ध एक मजेदार बात कहते हैं। हम सब आरोग्य के सिद्धान्त जानने के बावजूद उनकी अवगणना करते हैं, उसका उल्लेख यहाँ है। सिद्ध शरीर धारण करने

का निमित्त समझाते हुए कहते हैं : जीव इस लोक में आयुष्य और कीर्ति बढ़े ऐसे कर्म करता है, तब वह मानवदेह धारण करता है। सभी कार्यों का पुण्यफल क्षीण होता है तब आयु क्षीण हो जाती है और आदमी विपरीत कर्म करने लगता है। विनाशकाल में आदमी की विपरीत बुद्धि हो जाती है।

इस विपरीत बुद्धि के लक्षण चौंकाने वाले हैं। ऐसा लगता है कि इस पृथ्वीलोक में अधिकतर लोग अपने कर्मों का पुण्यक्षय होने के बाद आयु क्षीण करने के लिए ही जीते हैं। पुण्यक्षय के बाद आदमी अपना सत्त्व, बल, अनुकूल समय को जानता है लेकिन मन पर अधिकार न होने के कारण कुबेला तथा प्रकृति के विरुद्ध भोजन करता है। हानि पहुँचानेवाली जो भी चीजें हैं उन सबका वह सेवन करता है, कभी वह बहुत ज्यादा खा लेता है, तो कभी खाता ही नहीं, कभी दूषित अन्न या जल ग्रहण करता है : कभी एक दूसरे से विरुद्ध गुणवाले पदार्थों का प्राशन करता है। कभी ठंडा खाता है, कभी बासी अन्न बड़ी मात्रा में खा लेता है। कभी एक बार का अन्न पचने से पहले ही दूसरी बार भोजन करने बैठ जाता है। वह बहुत ज्यादा कसरत करता है। बहुत अधिक स्त्री-संभोग करता है। सतत् कार्य करने के लोभ में वह मल-मूत्र का वेग रोक रखता है। रसाभियुक्त अन्न खाता है। दिन में सोता है। इस प्रकार शरीर में विद्यमान वात-पित्त आदि दोषों को कुपित कर देता है। इस कारण वह प्राणघातक रोग प्राप्त करता है। ऐसा नहीं होता तो गले में फँसरी डालकर या पानी में डूबकर शास्त्रविरुद्ध उपायों से वह शरीर का अन्त करता है।

शरीर नष्ट होने के निमित्त सिद्ध ने समझाये हैं। इन्हें सुनकर हम ज्ञान का नहीं पर जीवन की नियमितता का उपदेश सुन रहे हों ऐसा लगता है।

जीव को पैदा होने के समय जो कष्ट होता है वही कष्ट इस देह का त्याग करते समय भी होता है। आदमी किस स्थिति में देह का त्याग करता है इसके आधार पर 'ब्राह्मणा ज्ञान संपन्ना' (ज्ञानसंपन्न ब्राह्मण) यह जीव पुण्यात्मा है या पापी इसका निर्णय कर सकते हैं।

इस लोक में किये शुभ या अशुभ कर्मों के फल जब तक भोग नहीं

लिये जाते, तब तक वे नष्ट नहीं होते। कर्म के अनुसार विविध देह धारण करके भी कर्म को भोगना ही पड़ता है।

जीव कैसे देह धारण करता है इसका अर्धवैज्ञानिक और अर्ध-शास्त्रीय खुलासा सिद्ध की वाणी में कृष्ण इस प्रकार कहते हैं :

शुक्रं शोणित संसृष्टं स्त्रिया गर्भाशयं गतम्,
क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाशुभम्।

(आश्वमेधिक, १८; ५)

जीव पहले पुरुष के वीर्य में प्रविष्ट होता है, फिर स्त्री के गर्भाशय में जाकर उसके रज से मिल जाता है। इसके बाद उसके कर्मानुसार उसे शुभ या अशुभ शरीर की प्राप्ति होती है।

कर्म के बारे में भी गीता के बोध को और स्पष्ट करते हुए सिद्ध कहते हैं—

ततस्तु क्षीयते चैव पुनश्चान्यत् प्रचीयते।
यावत् तन्मोक्षयोगस्थं धर्मं नैवाववुध्यते।

(आश्वमेधिक, १८; १३)

उपभोग से प्राचीन कर्म का क्षय होता है, पर नये कर्मों का संचय बढ़ता जाता है। जहाँ तक मोक्ष की प्राप्ति में सहायक धर्म का उसे ज्ञान नहीं होता वहाँ तक यह कर्म की परंपरा चालू रहती है।

फिर शुभाशुभ कर्मों का पालन है और कर्मक्षय तथा कर्ममुक्ति के उपाय बताये गये हैं। इनका सार इन दो श्लोकों में है—

सुखदुःख सदा सम्यगनित्ये यः प्रपश्यति।
कायं चामेध्यसंघातं विनाश कर्म संहितम्॥
यच्चर्किंचित्सुखं तच्च दुखं सर्वमिति स्मरन्,
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम्।

(आश्वमेधिक, १८; ३१–३२)

जो मनुष्य सुख तथा दुःख में सम्यक् रहता है तथा दोनों को अनित्य समझता है, शरीर को अपवित्र वस्तुओं का समूह समझता है तथा मृत्यु को कर्म का फल समझता है और सुख के रूप में जो कुछ प्रतीत होता है वह भी दुःख है यह जानता है, वह इस घोर और दुस्तर संसारसागर को तैरकर पार कर लेता है।

जीव को शरीर से अलग जानना, शरीर के भोगों को मृग-जल जैसा

जानना और संसार को व्यर्थ जानकर कृष्ण में प्रीति रखनी तथा कृष्ण का आश्रय लेना यही परम सत्य है।

कृष्ण यह परम रहस्य पुनः एक बार अनुगीता के रूप में कहते हैं, तब भी कहते हैं :

नैतत्पार्थ सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणेति मे मतिः।
नरेणाकृतसंज्ञेन विशुद्धेनान्तरात्मना ॥

(आश्वमेधिक, १९;५१)

पार्थ, मुझे विश्वास है कि जिसका चित्त व्यग्र हो उसे ज्ञान का उपदेश काम नहीं आता। वह इस विषय को सुगमता से समझ नहीं सकता। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है वही इसे जान सकता है।

गीता का नित्य पाठ करनेवाले या गीता पर भाष्य लिखनेवाले स्वयं जिस अश्रद्धा या अशांति का अनुभव करते हैं उसका कारण कृष्ण इस एक श्लोक में कहते हैं और अन्त में कहते हैं : छः महीने तक जो निरंतर योग का अभ्यास करता है उसे योग अवश्य सिद्ध होता है।

योग कोई सहज या सरल वस्तु नहीं है। आप आँख मूंद लें तो इससे समाधि नहीं लग जाती। सहज समाधि शब्द की महिमा कम नहीं है। पर हमने अघटित स्थान पर इस शब्द का प्रयोग करके इसका अर्थ घिस डाला है। सहज समाधि के लिए भी योग का निरंतर अभ्यास जरूरी है।

५२. वाणी और मन

गीता में कृष्ण ने कहा है कि मैं वैश्वानर बनकर प्राण, अपान आदि चार प्रकार के भोजनों को पचाता हूँ। अब इस सूत्रवाक्य को अनुगीता में कृष्ण उदाहरण के साथ समझाते हैं। कृष्ण यहाँ ब्राह्मण-ब्राह्मणी के बीच हुआ संवाद प्रस्तुत करते हैं।

ब्राह्मण अग्निहोत्र आदि सभी ही कर्मकाण्ड छोड़कर बैठा है, इससे ब्राह्मणी के मन में सहज ही उत्कंठा होती है। वह पूछती हैं कि "आप 'न्यस्तकर्म' (अग्निहोत्रादिक कर्मों का त्याग करके बैठे) हैं, मैं आपके अधीन हूँ, भार्या अपने पति के कर्म से प्राप्त होनेवाले लोक को प्राप्त करती है तो मैं किस लोक में जाऊँगी ?"

यह ब्राह्मण 'न्यस्तकर्म' दिखाई देता है, पर वास्तव में वह कर्म से

परे हो गया है। इस अवस्थाभेद की ब्राह्मणी को खबर नहीं है, इसी से ब्राह्मणी की ऐसी जिज्ञासा से ब्राह्मण को बुरा नहीं लगता, वह तो ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मणी ऐसा ही पूछेगी यह जानता है। वह सबसे पहले तो कर्म-अंग के ब्राह्मणी के स्थूल विचार को स्पष्ट करते हुए कहता है :

मोहमेव नियच्छन्ति कर्मणा ज्ञानवर्जिता,
नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन् मुहूर्तमपि लभ्यते।

(आश्वमेधिक, २०;७)

जिसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है, ऐसे लोग कर्म द्वारा मोह का ही संग्रह करते हैं। इस लोक में कोई दो घड़ी भी कर्म किये बिना रह सके यह संभव नहीं है।

'न्यस्तकर्म' इस शब्द का ब्राह्मणी ने प्रयोग किया था, परन्तु ब्राह्मण जानता है कि मनुष्य जन्म में कर्म-संन्यास संभव नहीं है। कर्म को छोड़कर दो घड़ी भी जीना संभव ही नहीं है। मात्र कर्म द्वारा मोह का संग्रह करना या कर्म द्वारा कर्म के क्षय मार्ग पर जाना, यही मनुष्य को तय करना रह जाता है। ब्राह्मण आगे समझाता है : कर्म शुभ और अशुभ दो प्रकार के होते हैं और यज्ञ, अग्निहोत्र आदि उसने क्यों छोड़ दिये इसका खुलासा करते हुए कहता है :

रक्षोभिर्वध्यमानेषु दृश्य द्रव्येषु वर्त्मसु।
आत्मस्थमात्मना तेभ्यो दृष्टयायतनं मया॥

(आश्वमेधिक, २०; ९)

जब राक्षसगण द्रव्य इत्यादि दृश्य पदार्थों से होते कर्म मार्गों का विनाश करने लगे तब मैंने उनसे विरक्त होकर अपने अन्दर स्थित (मेरी दोनों भृकुटियों के बीच स्थित अव्यक्त स्थान को) आत्मा के स्थान को देखा।

ईश्वर को प्राप्त करने का कर्मकाण्ड एक मार्ग है : दूसरा ज्ञानयोग है। ईश्वर का देह में स्थित स्थान, अव्यक्त स्थान को व्यक्त रूप से देखना और उसमें मन पिरोना विकट कार्य है। इस ईश्वर-इस अविनाशी ब्रह्म का यह स्थान ढूँढकर ब्रह्मादि योगी उनकी उपासना करते रहते हैं। यह अविनाशी ब्रह्म सूँघकर, चख कर, स्पर्श से या इन्द्रियों के चरभाव से नहीं जाना जा सकता। उसे केवल मन से ही जाना जा सकता है। वह प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान वायुओं का आसन है।

इन पांच प्राणवायुओं के बीच समान वायु के स्थान पर नाभि-मण्डल है : इसके मध्य में स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि सात रूपों में प्रकाशमान है। नाक, जीभ, आँख, त्वचा, कान, मन और बुद्धि इस अग्नि की सात जिह्वाएं हैं (इनकी सप्तहोता के रूप में कल्पना की गई है)। सूंघने योग्य गंध, चखने योग्य स्वाद, देखने योग्य रूप, स्पर्श करने योग्य वस्तु, सुनने योग्य शब्द, मन से मनन करने तथा बुद्धि से समझने योग्य विषय--ये वैश्वानर की सात समिधा हैं। (ये सात हविष्य के रूप में देखे जाते हैं) सूंघनेवाला, चखनेवाला, देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, मनन करनेवाला और समझने वाला—ये सात श्रेष्ठ ऋत्विज हैं। और अब ब्राह्मण अपने यज्ञ का स्वरूप समझाता है :

हविंष्यग्निषु होतारः सप्तधा सप्त सप्तसु।
सम्यक् प्रक्षिप्यं विद्वांसो जनयन्ति स्वयोनिषु ॥

(आश्वमेधिक, २०;२३)

पहले बताये गये सात होता, पहले कहे गये ये सात हविष्यों का सात रूपों में विभक्त जो वैश्वानर है उसमें हवन करते हैं : (अर्थात् विषयादिक का ही हवन करते हैं, तात्पर्य यह कि नाक, जीभ, आँख, त्वचा, कान तो है ही पर मन के साथ ही बुद्धि इत्यादि का अभिमान या आसक्ति नहीं रखते)। ऐसा विद्वान पुरुष अपनी योनि में से अर्थात् ब्रह्म से प्रज्वलित होनेवाले अग्नि में से पृथ्वी आदि को उत्पन्न कर लेता है। ब्रह्म की साधना सहित ऐसा होम आदमी को ब्रह्म की श्रेणी में पहुँचा देता है। पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, मन और बुद्धि-ये सात योनियाँ हैं, इनके गुण हविष्य हैं, उसका जन्म भी इसी प्रकार ही होता है। ब्राह्मण अपने को 'न्यस्तकर्म' मानती ब्राह्मणी को अपने विशाल और विराट अग्निहोत्र की समझ देते हुए उपसंहार में कहता है :

अनेनैव प्रकारेण प्रगृहीतं पुरातनैः,
पूर्णाहुतिभिरापूर्णास्त्रिभिः पूर्यन्ति तेजसा।

(आश्वमेधिक, २०;२८)

इस प्रकार पुरातन ऋषियों ने घ्राण आदि का रूप वेद में से जाना है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय—इन तीन आहुतियों से समस्त लोक परि-पूर्ण है। ये सब लोक आत्मज्योति से परिपूर्ण हुए हैं।

ब्राह्मण अब यज्ञ के सूक्ष्म-स्थूल रूपों का अधिक बारीकी से पृथक्करण करता है। वह ब्राह्मणी से कहता है : कान, त्वचा, आँख, जीभ, नाक, हाथ, पैर, वाचा, उपस्थ और गुदा : ये दस होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, वाणी, क्रिया, गति, वीर्य, मूत्रत्याग तथा मलत्याग ये दस हविष्य हैं। दिशा, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, प्रजापति, तथा मित्र ये दस अग्नि हैं। दस इन्द्रियरूपी होता, दस देवतारूपी अग्नि में, दस विषयरूपी हविष्य की आहुति देते हैं। इस तरह मेरे अन्तर में निरन्तर एक यज्ञ चलता रहता है : तब मैं अकर्मण्य या कि 'न्यस्तकर्म' कैसे कहा जा सकता हूँ ? ऐसा प्रश्न ब्राह्मण अपनी पत्नी से पूछता है।

गीता में कुछेक पंक्तियों में दिये गये ज्ञान को यहाँ अनुगीता में विस्तार से समझाया गया है। मन और वाणी के बारे में एक आकर्षक संवाद यहाँ आता है। ब्राह्मणी प्रश्न करती है :—

> कस्माद् वागभवत् पूर्वं कस्मात् पश्चान्मनोऽभवत्
> मनसा चिन्तितं वाक्यं यदा समभिपद्यते।
>
> (आश्वमेधिक, २१;१०)

किस कारण से वाणी पहले उत्पन्न हुई ? किस कारण से मन बाद में उद्भूत हुआ ? जब कि मन से चिंतन किया हुआ वाक्य व्यवहार में रक्खा जाता है तब ऐसा व्युत्क्रम किसलिए ?

इसका ब्राह्मण बड़ा रोचक उत्तर देता है : एक बार वाणी और मन दोनों जीवात्मा के पास गये और पूछा : 'हममें से श्रेष्ठ कौन है ?' जीवात्मा का उत्तर स्पष्ट था 'मन श्रेष्ठ है।' पर वाणी अर्थात् सरस्वती बोली "मैं ही आपके लिए कामधेनु रूप होकर सब कुछ प्रदान करती हूँ।"

मन ने तब इतना ही कहा : 'वाणी तूने ही अपने पक्ष की श्रेष्ठता व्यक्त की है अस्तु मैं उच्छ्वास लेकर तुझसे कुछ कहूँगा।'

वाणी-सरस्वती प्राण और अपान के बीच रहती है : जब उच्छ्वास लिया गया तो प्राण अदृश्य हो गया, प्राण की सहायता बिना सरस्वती अकुला गई। वह ब्रह्मा के पास गई और कहा 'भगवान, आप प्रसन्न हों' तब वाणी को पुष्ट करता हुआ प्राण फिर प्रगट हुआ। ब्राह्मण स्पष्ट करता है :

तस्मादुच्छ्वासमासाद्य न वाग् वदति कर्हिचित् ॥

(आश्वमेधिक, २१;२०)

अस्तु उच्छ्वास के समय वाणी कभी भी कुछ नहीं बोलती।

यह समग्र कथा तो भगवान वासुदेव कहते हैं, यह याद है न! उनके द्वारा स्थापित उदाहरण का ब्राह्मण इसके बाद घोष और निर्घोष ऐसी दो वाणियों की बात करता है। (घोष वाणी में सरस्वती प्राणशक्ति पर अवलम्बन करती है, पर निर्घोष वाणी में प्राणशक्ति की अपेक्षा नहीं रहती) और फिर अपनी शुचिस्मिते (जिसका स्मित पवित्र है ऐसी) पत्नी से कहते हैं :

उत्तम रस से स्तूयमान वचनरूपी गाय मनोरथ प्रदान करती है : वह ब्रह्मवादिनी अर्थात् उपनिषद् वचनरूप वह नित्य सिद्ध मोक्ष प्रदान करती है, अर्थात् वचनरूप गौ के चार स्तन हैं : स्वाहाकार, स्वधाकार, नहुतकार, वषट्कार।

दिव्य वचनरूप गाय इन दो प्रभावों से युक्त है : दिव्य माने देवताओं का आवाहन और अदिव्य माने व्यवहार की वाणी। वाणी से भगवान की स्तुति करते हैं तब वह दिव्य रूप होती है : मौसम की या राजकाज की खबर पूछते हैं तब वह अदिव्य होती है। उसका जो सूक्ष्म अन्तर है वह हे शुचिस्मिते, तू स्वयं ही है।

ब्राह्मणी प्रतिप्रश्न करती है : नाथ, जब वाक्य उत्पन्न नहीं हुआ था तब कुछ कहने की इच्छा से प्रेरित सरस्वती देवी ने पहले क्या कहा था?

ब्राह्मण का उत्तर है अनुष्टुप में से व्यास उपजाति की ओर गति करते हैं, वाणी की इस परमस्थिति का वर्णन करते समय—

प्राणेन या संभवते शरीरे
प्राणादपानं प्रतिपद्यते च,
उदानभूता च विसृज्य देहं
व्यानेन सर्वं दिवमावृणोति।
ततः समाने प्रतितिष्ठतीह
इत्येव पूर्वं प्रजजल्प वाणी
तस्मान् मनः स्थावरत्वाद् विशिष्टं
तथा देवी जंगमत्वाद् विशिष्टा ॥

(आश्वमेधिक, २१; २५-२६)

जो वचन शरीर में प्राण से प्रगट होते हैं वे प्राण से चलायमान होकर नाभिस्थान पर अपान के साथ एकता प्राप्त करते हैं फिर उदान के स्थान पर आकर उससे भी एकता प्राप्त कर शरीर को छोड़कर व्यान रूप से सारे आकाश में व्याप्त हो जाते हैं। इसके बाद पुनः पूर्व के अपान में नियत होते हैं इस प्रकार वचनों ने अपने प्रथम प्रगट होने के ढंग का वर्णन किया। इस हेतु ही मन स्थावर रूप होने के कारण श्रेष्ठ है। इसी प्रकार वचन जंगम रूप होने के कारण श्रेष्ठ है।

इन दोनों श्लोकों का अर्थ सूक्ष्म रूप से करने हेतु एक बड़ी पुस्तक भी कम पड़ेगी। तथापि सूक्ष्म अर्थ के सारांश को समझें तो आत्मा उच्चारण के लिए पहले मन को प्रेरित करती है फिर मन जठराग्नि प्रदीप्त करता है। इससे प्राणवायु अपानवायु के साथ मिलता है। इसके बाद यह संयोजित वायु उदान वायु के प्रभाव से ऊपर उठकर मस्तक में टकराता है। वहाँ से व्यानवायु के प्रभाव से कंठ-तालु आदि स्थानों में जाकर वेग से वर्णन उत्पन्न करके बैखरी रूप में मनुष्यों के कान में प्रवेश करता है। जब प्राणवायु का वेग निवृत्त होता है तब वह फिर समान भाव से गति करने लगती है।

कर्मकाण्ड में "प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा" आदि नैवेद्य की आहुतियाँ अनजाने भाव से देनेवाले हम इन शब्दों का वाणी और मन के साथ कैसा गूढ़ और कैसा रहस्यमय सम्बन्ध है, यह जान सकें, तो स्तब्ध रह जाते हैं।

५३. उत्तंक मेघ

ब्राह्मण और ब्राह्मणी के इस संवाद में मन और इन्द्रियों के बीच का विवाद अभी और आगे बढ़ता है। मन कहता है--

आगाराणीव शून्यानि शान्तार्चिष इवाग्नयः,
इन्द्रियाणि न भासन्ते मया हीनानि नित्यशः।

(आश्वमेधिक, २२;१६)

मेरे बिना समस्त इन्द्रियाँ बुझी हुई ज्वालावाली आग तथा सूनेघरों जैसी शोभाविहीन लगती हैं। मन की सहायता बिना नाक गंध ग्रहण नहीं कर सकता, जीभ स्वाद नहीं ले सकती, आँख रूप नहीं

देख सकती, त्वचा स्पर्श नहीं कर सकती और कान शब्द नहीं सुन सकते ।

इन्द्रियाँ इसके जवाब में कहती हैं : 'आप हमारे पदार्थरूप भोग को हमारे बिना भोगते हैं, ऐसा आप मानते हैं, यह सच हो सकता है पर क्या यह संभव है ? संकल्पमात्र से भोग भोगे नहीं जा सकते। साथ ही इन्द्रियों के सबल नियमों का अतिक्रमण भी नहीं किया जा सकता । नाक से रूप का अनुभव करना, आँख से रस का स्वाद लेना या कान से गंध ग्रहण करना अशक्य है । इन्द्रियाँ इन सब दलीलों के बाद कहती हैं :

कामं तु नः स्वेषु गुणेषु संगः
कामं च नान्योन्य गुणोपलब्धिः ।
अस्मान् विना नास्ति तवोपलब्धि-
स्तावदते त्वां न भजेत् प्रहर्षः ॥

(आश्वमेधिक, २२;२९)

यद्यपि हमारा अपने गुणो में इच्छानुरूप संग नहीं है और हमें एक दूसरे के गुणों का ज्ञान नहीं है तो भी हमारे बिना आप किसी भी विषय का अनुभव नहीं कर सकते और हम न हों तब तक आपको हर्ष भी नहीं मिल सकता ।

प्रस्तुत संवाद आगे चलता है तब ब्राह्मण कहता है कि जिसमें संकल्परूप डांस और मच्छर हैं, जिसमें शोकरूप जाड़ा और धूप है, जिसमें मोहांधकाररूपी अँधेरा है, जिसमें लोभ और रोगरूप सर्प है, जहाँ विषयरूपी रास्ता है जिसे आदमी को अकेले ही पार करना पड़ता है, जहाँ काम और क्रोधरूपी शत्रु हैं, ऐसे संसाररूपी दुर्गम पथ का उल्लंघन करके अब मैं ब्रह्मरूपी महावन में प्रवेश कर चुका हूँ। इस महावन में सात वृक्ष (महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध), सात फल (यज्ञ आदि), सात अतिथि (यज्ञ क्रियायें), सात आश्रम (कर्ता), सात समाधियाँ (प्रीति आदि) और सात दीक्षायें (भिन्न-भिन्न धर्मों के ग्रहण करने की) विद्यमान हैं ।

संसार के दुर्गम रास्ते पर मन और इन्द्रियों के विषय-अनुभव माया रचते हैं । इस माया को पार करके ही ब्रह्मरूपी महावन में प्रवेश किया जा सकता है । इन सारी चर्चाओं के अन्त में ब्राह्मण ब्राह्मणी के मूल प्रश्न का उत्तर देता है । 'न्यस्तकर्म' दिखाई पड़ता ब्राह्मण वास्तव में

वह कहता है उसी प्रकार 'विप्रोऽस्मि, मुक्तोऽस्मि, वनेचरोऽस्मि' (ब्राह्मण, मुक्त और ब्राह्म रूपी वन में संचरण करने वाला है। यह ब्राह्मणी भी ब्रह्म को प्राप्त करेगी ऐसा विश्वास यह ब्राह्मण देता है। यह ब्राह्मण और कोई नहीं पर श्रीकृष्ण का ही स्वरूप है। हम भूल गये हों तो याद करें कि यह ब्राह्मण-ब्राह्मणी संवाद कृष्णार्जुन संवाद के अन्तर्गत था। कृष्ण अब अर्जुन से कहते हैं :

मनो मे ब्राह्मणं विद्धि बुद्धि मे विद्धि ब्राह्मणीम्,
क्षेत्रज्ञ इति यश्चोक्तः सोऽहमेव धनंजय।

(आश्वमेधिक, ३४;१२)

अर्जुन, मेरे मन को तूं ब्राह्मण मान और मेरी बुद्धि को ब्राह्मणी समझ और जिसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है वह मैं ही हूँ। अनुगीता में क्रमशः गीता में व्यक्त किये तत्वों की ही मीमांसा आती है। फिर गुरु-शिष्य संवाद के रूप में ब्रह्म भाव, तीनों गुणों की संमिश्रता, तत्वों का आदि-रूप, कालचक्र, धर्म की विविध गतियाँ आदि विषयों पर चर्चा की गई है। यहाँ भी कृष्ण इन गूढ़ और गोपनीय विषयों को गुरु शिष्य संवाद के रूप में आलेखित करने के बाद कहते हैं--

मया तु भरतश्रेष्ठ चिरदृष्टः पिता प्रभुः,
तमहं द्रष्टुमिच्छामि सम्मते तव फाल्गुन।

(आश्वमेधिक, ५१;५०)

अर्जुन, अब मुझे प्रभु स्वरूप पिताजी को देखने की इच्छा हुई है। बहुत दिन हो गये मैंने उन्हें देखा नहीं है। यदि तूं सहमत हो तो उनसे मिलने मैं द्वारिका जाऊँ।

जो कृष्ण अभी तक संसार रूपी दुर्गम पथ का अतिक्रमण करके प्राप्त होते गुणातीत ब्रह्म की बात कर रहे थे वे 'पिता से मिले बहुत समय बीत गया है', ऐसा कहकर संसारी पुत्र की भाँति अपने नगर जाने को उत्सुक हो गये हैं। गुणातीत होने के बाद भी गुणों के माया लोक में किस प्रकार विरक्त होकर घूमना इसका कीमिया कोई कृष्ण से सीखे।

इसके बाद आती है अर्जुन की आर्त-भाव से की गई स्तुति। कृष्ण द्वारा प्रदत्त ज्ञान अर्जुन के मन में उतरा है इसकी खनक इस स्तुति द्वारा भगवान वेदव्यास देते हैं। समस्त प्राणी समुदाय के सृजक और

संहारक उन कृष्ण के विराट स्वरूप को अब अर्जुन ठीक से जान गया है और इसी से तो अपनी प्रार्थना में कहता है—

सुदीर्घेणापि कालेन न ते शक्या गुणा मया,
आत्मा च परमात्माच नमस्ते नलिनेक्षण।

(आश्वमेधिक, ५२; १४)

दीर्घ काल तक गणना करे तो भी आपके गुणों का पार नहीं पाया जा सकता, आप ही आत्मा है और आप ही परमात्मा हैं, हे कमल-नयन, मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

युधिष्ठिर भी कृष्ण को जाने की अनुमति देते हैं। बल्कि कहते हैं कि आपका जाना मुझे अच्छा लगता है ('रोचते में महाबाहो गमनं तव केशव') इसलिए कि आप मेरे मामा मामी से बहुत दिनों से दूर हैं।

साथ ही युधिष्ठिर कृष्ण से कहते हैं मेरे विविध रत्न और धन के भण्डार में से आपको जो कुछ चाहिये वह ले लें। कृष्ण युधिष्ठिर की इस उदारता का बड़ा ही सुन्दर उत्तर देते हैं।

तवैव रत्नानि धनं च केवलं
धरा तु कृत्स्ना तु महाभुजाद्य वै।
यदस्ति चान्यद् द्रविणं गृहे मम
त्वेमव तस्येश्वर नित्यमीश्वरः ॥

(आश्वमेधिक, ५२;५२)

ये रत्न, धन और समग्र पृथ्वी केवल आपकी ही है, इतना ही नहीं मेरे यहाँ जो कुछ भी धन है वह आपका ही है। आप ही उस सब के स्वामी हैं।

कृष्ण हस्तिनापुर से विदा लेते हैं तब महाकवि व्यास एक नाटकीय प्रसंग प्रस्तुत करते हैं। कृष्ण को मार्ग में उत्तंक ऋषि मिलते हैं। यह ऋषि वन में घोर तपश्चर्या कर रहे हैं पर दुनियाँ में क्या हो गया इससे अनजान हैं। वे कृष्ण से कौरवों के साथ ही पाण्डवों के कुशल समाचार पूछते हैं। कृष्ण उत्तर में कहते हैं, 'पाँडु के पाँच पुत्रों को बाद करके समस्त कुरुवंश नष्ट हो गया है।' महाभारत युद्ध के भीषण संहार की बात सुनकर उत्तंक क्रुद्ध हो उठते हैं और कृष्ण को शाप देने को उद्यत हो उठते हैं, इसलिए कि :

त्वया शक्तेनहि सता मिथ्याचारेण माधव,
ते परीताः कुरुश्रेष्ठा नश्यन्तः स्म ह्युपेक्षिताः।

(आश्वमेधिक, ५३;२२)

उत्तंक को लगता है कि कृष्ण समर्थ थे, युद्ध टाल सकते थे तथापि उन्होंने मिथ्याचार का आश्रय लिया और कौरवों को नष्ट हो जाने दिया।

शाप देने को उत्सुक ऋषि को कृष्ण स्वस्थ चित्त से अपनी महिमा समझाते हैं। वे कहते हैं कि कोई भी पुरुष थोड़ी सी तपस्या के बल पर मेरा तिरस्कार नहीं कर सकता और उत्तंक जैसे ऋषि का तप इस प्रकार नष्ट हो जाय यह कृष्ण नहीं चाहते। इससे कृष्ण उत्तंक को पहले तो स्वयं युद्ध टालने के लिए किये प्रयत्नों की भूमिका समझाते हैं और फिर अपने परमात्मा स्वरूप का बोध कराते हैं। उत्तंक को भी कृष्ण का विराट् स्वरूप देखने को मिलता है। कृष्ण उत्तंक को वरदान देते हैं कि जब भी आपको जल पीने की इच्छा हो मुझे याद कीजियेगा। ऐसा कहकर कृष्ण अपने मार्ग पर अग्रसर हुए।

इसके बाद उत्तंक ऋषि एक बार मरुभूमि में घूम रहे थे कि अचानक प्यास से व्याकुल हो गये और श्रीकृष्ण को याद किया। इसी समय कुत्तों की टोली से घिरा निर्वस्त्र एक मातंग (चाण्डाल) जल लेकर आया। उत्तंक को कृष्ण पर क्रोध आया। ब्राह्मण को भला ऐसे मातंग के हाथों जल भेजना चाहिये? अभी मुनि ऐसा विचार कर जल लेने से इनकार करते हैं कि वहीं मातंग अदृश्य हो जाते हैं और कृष्ण आते हैं। कृष्ण खुलासा करते हैं 'ऋषि मैंने आपके लिए अमृत भेजा था, इन्द्र आपके पास अमृत लेकर आने की ना कहता था। उसको मैंने आदेश दिया तो वह मातंग का रूप धरकर आपके पास आया।' उत्तंक के भाग्य में अमृत नहीं निर्मल जल ही लिखा था। अस्तु कृष्ण उन्हें वरदान देते हैं कि आपको जब जब जल पीने की इच्छा होगी तब तब इस मरुप्रदेश में जल से भरे मेघ प्रगट होंगे और वे आपको रस युक्त जल देगें। इतना ही नहीं पर मरुभूमि के इन मेघों को लोग उत्तंक-मेघ के नाम से जानेंगें।

इस अध्याय के अन्त में कवि कहते हैं—

अद्याप्युत्तंकमेघाश्च मरौ वर्षन्ति भारत।

(आश्वमेधिक, ५५;३७)

यहाँ भारत शब्द वैशंपायन जनमेजय को उद्देशित करके प्रयुक्त करते हैं वैशंपायन कहते हैं 'आज भी मारवाड़ में उत्तंक मेघ बरसते हैं।'

कृष्ण रीझते हैं तब देने में कोरकसर नहीं रखते। उत्तंक ऋषि क्रोध के ताप वश हो कृष्ण को शाप देना चाहते हैं। कृष्ण तो इस ताप का शमन अमृत से करना चाहते हैं, पर अमृत तो भाग्य में हो तभी न मिले। नहीं तो होठ तक आया प्याला भी होठ पर नहीं रखा जा सकता। उत्तंक के साथ भी ऐसा ही हुआ। तो भी कृष्ण करुणामय हैं। वे उत्तंक की तृषा मीठी वर्षा से बुझाते हैं। उत्तंक ने यदि अमृत ग्रहण कर लिया होता तो क्या मारवाड़ (मरुभूमि) को हरियाली-फल-फूल पत्ती नहीं मिले होते ?

५४. संजीवन-गीता

कृष्ण द्वारका वापस लौटे तब नगर में उत्सव का वातावरण था। कृष्ण रैवतक पर्वत पर चल रहे यादवों के महोत्सव में भाग लेकर फिर द्वारका जाते हैं और द्वारका में सबसे पहले जिससे मिलने के लिए स्वयं उत्सुक थे उन पिता वसुदेव से मिलते हैं।

कृष्ण महाभारत का घोर युद्ध पूरा होने के बाद, पहली बार ही वापस लौटे हैं। महाभारत में क्या हुआ इसके समाचार वसुदेव तक पहुँचे ही होगे। पर वे कृष्ण के मुख से युद्ध की कथा जानने को आतुर हैं। पिता पुत्र मिलते हैं कि तत्काल ही पिता का प्रथम प्रश्न इस युद्ध के बारे में है।

वसुदेव जी कहते हैं—

त्वं तु प्रत्यक्षदर्शी च रूपज्ञश्च महाभुज,
तस्मात् प्रब्रूहि संग्रामं याथातथ्येन मेऽनघ।

(आश्वमेधिक, ६०;२)

'युद्ध में क्या हुआ इसका यथार्थ वर्णन कर' इतने ही शब्द वसुदेव कहते हैं पर इतने शब्द कहने से पहले वसुदेव यह प्रश्न वे कृष्ण से ही क्यों पूछते हैं इसका रहस्य प्रगट करते हैं! प्रथम तो कृष्ण प्रत्यक्षदर्शी हैं अर्थात् कृष्ण ने अपनी आँखों से यह युद्ध देखा है और फिर वे रूपज्ञ

हैं--रूप को जानने वाले हैं। इन दो शब्दों में पिता अपने पुत्र की विशेषताओं को ठीक-ठीक व्यक्त करते हैं।

कृष्ण उत्तर देते हुए कहते हैं कि इस अद्‌भुत युद्ध का विस्तार से वर्णन करना हो तो सौ वर्ष का समय भी कम पड़ेगा तथापि वे ग्यारह अक्षौहिणी कौरवसेना और उसके सेनानायक भीष्मपितामह तथा सात अक्षौहिणी पाण्डव-सेना और उसके सेनानायक शिखण्डी के बीच आरम्भ हुए युद्ध की मुख्य-मुख्य घटनाओं को सुनाते हैं। भीष्म शरशय्या पर पड़े तब कौरवों की नौ अक्षौहिणी सेना बची थी। पाँच दिन बाद द्रोण गिरे और कर्ण सेनापति बना तब पाँच अक्षौहिणी सेना शेष थी। दो दिन के कर्ण के युद्ध के बाद शल्य सेनापति हुआ तब वह तीन अक्षौहिणी सेना से सुरक्षित था जब कि उसका सामना करने वाले युधिष्ठिर केवल एक अक्षौहिणी सेना से आरक्षित थे। शल्य मारा गया और सरोवर में छिप गये दुर्योधन को पकड़ कर भीम ने उसे गदा युद्ध में मारा और अश्वत्थामा ने वैर के आवेश में पाण्डवसेना का संहार किया, इसके बाद पाँच पाण्डव, सात्यकि और कृष्ण बस इतने ही बचे।

कौरवों के पक्ष में कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा और पांडवों के पक्ष में चला गया युयुत्सु बस इतने ही बच रहे। सात अक्षौहिणी पाण्डवसेना में से केवल सात वीर बचे जब कि कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना में से केवल चार ही जीते बचे।

कृष्ण ने इस प्रकार संक्षेप में महाभारत कथा तो कही पर पिता को दौहित्रवध की बात सुनकर दुख न पहुँचे इसलिए अभिमन्यु के वध का वृत्तान्त कहा ही नहीं। कृष्ण के साथ आयी सुभद्रा यह सुन रही थी। उसने कहा 'आचक्ष्व कृष्ण सौभद्रवधम्' (कृष्ण सौभद्र के वध की बात तो कहें।) और इतना कहते-कहते माँ मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। वसुदेव भी अपने लाडले दौहित्र अभिमन्यु के वध की कथा सुनकर मूर्च्छित हो गये। होश में आये तब वसुदेव कृष्ण को वेदनापूर्ण उलाहना देते हैं—

ननु त्वं पुण्डरीकाक्ष सत्यवाग् भुवि विश्रुतः,
यद्दौहित्रवधं मेद्य न ख्यापयसि शत्रुहन्।

(आश्वमेधिक, ६१;७८)

हे कमलनयन, तूं तो इस धरा पर सत्यवादी के रूप में प्रसिद्ध है

तो फिर तूने महाभारत युद्ध का समूचा वृत्तान्त कहा पर उसमें अभिमन्यु की मृत्यु की बात क्यों न की ?

पिता की वेदना से कृष्ण भी व्यथित हो गये तो भी अपनी व्यथा का भार वातावरण पर न आये इसलिए अभिमन्यु के पराक्रम की, उसके वीरमरण की और सुभद्रा द्वारा उस समय किये गये विलाप की कथा कहकर कृष्ण ने अपने सत्यवादीपन को साबित करना उचित न माना। रत्न को दीपक के प्रकाश की जरूरत होती है क्या ? वसुदेव भूल गये कि कृष्ण ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा था कि पाण्डवों की सात अक्षौहिणी सेना में से केवल पाँच पाण्डव, सात्यकि और कृष्ण सहित केवल सात ही बच रहे थे—बाकी के सभी महाकाल के भोग बन गये थे। कृष्ण ने यह बात कही तो इसमें अभिमन्यु भी मारा गया है यह बात तो आ ही गयी थी।

इधर हस्तिनापुर में भी अभिमन्यु का शोक सभी लोग प्रखरता से अनुभव कर रहे थे। अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा भी कई कई दिनों तक भोजन नहीं ग्रहण कर रही थी, उसके पेट में पल रहा गर्भ दिन प्रतिदिन क्षीण हो रहा था। उत्तरा के पेट में वर्तमान इस गर्भ की बाबत भी सबको चिंता हो रही थी तब महर्षि वेदव्यास ने आकर कहा, 'कृष्ण का वचन मिथ्या नहीं होगा। उत्तरा का पराक्रमी पुत्र भरत कुल का गौरव संजोयेगा।' भगवान वेदव्यास ने युधिष्ठिर को याद दिलाया कि अभी अश्वमेघ यज्ञ करना है और इसके लिए हिमालय से धन ले आना है।

पाण्डव अश्वमेघ यज्ञ के लिए हिमालय में से जो धन ले आये उसका वर्णन आकर्षक है। इस धन से सोलह करोड़, आठ लाख चौबीस हजार भार सुवर्ण था और यह संपत्ति साठ हजार ऊंटों, एक करोड़ बीस लाख घोड़ों, एक लाख हाथियों, एक लाख रथों, एक लाख गाड़ियों और एक लाख हथनियों पर लादकर लाया गया था। यहाँ भगवान व्यास ने एक मजेदार खेल किया है। यह सब गिनती गिनाई पर उनमें 'खराणां पुरुषाणां च परिसंख्या न विद्यते' (गधों और आदमियों की तो गिनती ही नहीं हो सकती, अगणित थे) अन्य प्राणियों के मुकाबले इन दो प्राणियों की गिनती भगवान वेदव्यास भी कर सकते हैं क्या ?

युधिष्ठिर अश्वमेघ यज्ञ करता है और कृष्ण उपस्थित न हों ऐसा

हो सकता है क्या ? इसलिए कृष्ण भी वहाँ आ पहुँचते हैं। पर इस अवधि में एक असामान्य घटना हो जाती है। उत्तरा परीक्षित को जन्म देती है। पर यह बालक 'हर्ष शोक विवर्धन' (हर्ष और शोक की वृद्धि करने वाला) बन गया। तात्पर्य यह कि पुत्र पैदा हुआ इससे सबसे पहले हर्ष प्रगट हुआ पर उस पुत्र को चेष्टाहीन शव के रूप में देखकर दुख हुआ। अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र के असर से उत्तरा के गर्भ से पैदा होने के पहले ही वह मर गया था। स्त्री-वर्ग में विलाप की लहर फैल गई और कुन्ती कृष्ण के पास हाहाकार करती हुई कहती है—

तास्त्वां वयं प्रणम्येह याचामो मधुसूदन,
कुलस्यास्य हितार्थं तं कुरु कल्याणमुत्तमम्।

(आश्वमेधिक, ६६;२६.)

हे मधुसूदन, इस कुल के हित के वास्ते मैं आपके पैरों पर गिरकर याचना करती हूँ कि इस बालक को जीवित करके कुरुकुल का कल्याण कीजिये। सुभद्रा भी कृष्ण से प्रार्थना करती है कि इस बालक को जीवित होना ही चाहिये। वह याद दिलाती है कि अश्वत्थामा ने उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र साधा था तब कृष्ण ने क्रोधावेश में कहा था--

अहं संजीवयिष्यामि किरीटितनयात्मजम्।

(आश्वमेधिक, ६७;११)

मैं अपने प्रभाव से अर्जुन के पौत्र को जीवित करूँगा। सुभद्रा अपने भाई से कहती है कि 'आपके वचन पालन की घड़ी आ गई है।'

कृष्ण उच्चस्वर में सभी स्त्रियों के विलाप को क्षीण कर डाले ऐसे उच्च स्वर में कहते हैं, 'ऐसा ही होगा'। कृष्ण तुरत ही सूतिकागार में गये। सफेद फूलों की मालाओं से सजाये उस खण्ड में चारों ओर जल भरे कलश थे और सरसो बिछा दी गई थी। इस समय द्रौपदी उत्तरा के पास गई और उससे कहा :

अयमायाति ते भद्रे श्वशुरो मधुसूदनः।
पुरार्णाषिरचिन्त्यात्मा समीपमपराजितः॥

(आश्वमेधिक, ६८;९-१०)

भद्रे, देख तो सही। तेरे श्वशुर जैसे मधुसूदन यहाँ आ रहे हैं। अचिंत्यात्मा, अपराजित और पुराण-ऋषि ऐसे कृष्ण आ रहे हैं।

द्रौपदी ने कृष्ण का जो वर्णन किया वह अद्भुत है। वह यों तो उत्तरा को सचेत करती है कि इस प्रसूति गृह में कोई पुरुष आ रहा है। इसलिए कि यह शब्द सुनते ही उत्तरा सबसे पहले तो अपने आँसू रोककर शरीर को वस्त्र से ढांक देती है, जो सच पूछिये तो केवल औपचारिक है। कारण यह कि कृष्ण कोई सामान्य पुरुष तो हैं नहीं। वे तो अचिन्त्यात्मा है--चिंतन में आ न सकें ऐसे विराट पुरुष हैं; अपराजित हैं और पुरातन ऋषि हैं। कृष्ण के लिए इन तीन विशेषणों द्वारा द्रौपदी ने जो कहा है उसकी ही मीमांसा करने में तत्वज्ञों ने हजारों शब्दों का उपयोग किया है।

उत्तरा हृदय वेधी विलाप करती है और कृष्ण से अपने बालक को जीवन दान देने के लिए विनती करती है। इसमें एक स्थान पर तो कवि ने वेदना को उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। उत्तरा मूर्च्छा दूर होते ही उस मृत पुत्र को गोद में लेकर कहती है--

धर्मज्ञस्य सुतः स त्वमधर्मनाववुध्यसे,
यस्त्वं वृष्णि प्रवीरस्य कुरुषे नाभिवादनम्।

(आश्वमेधिक, ६९;६)

बेटे, तूं तो धर्मज्ञ पिता का पुत्र है और तूं अधर्म का आचरण करता है इसका तुझे पता नहीं है वृष्णिवंश के श्रेष्ठवीर भगवान श्रीकृष्ण सामने खड़े हैं और तू उन्हें प्रणाम नहीं करता ?

कृष्ण स्वस्थचित्त यह सब देख रहे हैं फिर वे आगे आते हैं। आचमन करके अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र को ठंडा कर देते हैं और तब बोलते हैं--ये छह श्लोक महाभारत के शिरमौर जैसे हैं, इतना ही नहीं पर कृष्ण के व्यक्तित्व को समझने के लिए कुंजी जैसे हैं। कृष्ण ने इतने थोड़े शब्दों में अपना ऐश्वर्य गीता में भी प्रगट नहीं किया था। यह छह श्लोकों की गीता **'संजीवन गीता'** के नाम से प्रस्थापित की जा सकती है, इतनी अद्भुत है। कृष्ण के इस अनुष्टुप के बारह चरणों में कहे गये एक सौ बानवे अक्षरों में परमात्मा का ऐश्वर्य अनन्य रीति से उभर आता है।

कृष्ण उत्तरा के पुत्र को किस प्रकार सजीव करते हैं, यह भी एक रहस्य है। वे कोई मंत्र, तंत्र या चमत्कार नहीं प्रयुक्त करते, पर सत्य के बल से ही इस बालक को जीवित करते हैं। महाभारत की रचना के बहुत समय बाद अस्तित्व में आई एक जातक कथा में सत्यसंजीवनी

का एक लघु प्रसंग आता है, उसका मूल भी कृष्ण के जीवन की इस अनन्य घटना में ही निहित है।

५५. कृष्ण का सत्य

कृष्ण के ये छह श्लोक समग्र महाभारत में विशिष्ट हैं। कृष्ण के व्यक्तित्व को समझने की कुंजी भी इनमें है। उत्तरा के हृदय-विदारक विलाप के बाद कृष्ण उत्तरा को संबोधित करते हुए इस दिव्य वाणी का उच्चारण प्रारंभ करते हैं। उत्तरा ने उनके हृदय को आर्द्र कर दे ऐसे विलाप का आरंभ अपने मृत पुत्र को कृष्ण को प्रणाम करने को कहकर किया था और अन्त में भी उसने मृत परीक्षित को बुद्धिमान लोकनाथ कृष्ण के पुंडरीकपलाश जैसे चक्षु में चक्षु पिरोने की विनती की थी।

कृष्ण इस समय पाण्डवों के अन्तःपुर में रोने कलपने से क्षुब्ध वातावरण में हैं, पर वे निश्चल हैं, स्वस्थ हैं। उन्होंने अश्वत्थामा द्वारा उत्तरा के गर्भ पर चलाये गये ब्रह्मास्त्र को मिथ्या करने की प्रतिज्ञा की थी। इसी से कृष्ण आरंभ करते हैं--

न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद् भविष्यति,
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम्।

(आश्वमेधिक, ६८;१८)

'उत्तरा मैं मिथ्या नहीं बोलता' इन शब्दों से कृष्ण आरंभ करते हैं। अत्यधिक शोक से ग्रस्त उत्तरा के लिए कृष्ण के ये प्रथम शब्द ही आश्वासन देने वाले हैं। इन शब्दों में आत्मविश्वास की खनकार है। वे आगे कहते हैं : 'मैंने जो कहा वह सत्य होकर ही रहेगा।' इतने ही शब्द पर्याप्त थे, पर कृष्ण जानते हैं कि रुदन और विषाद में डूबी इन स्त्रियों को अपनी महिमा की बाबत सचेत करने के लिए और अधिक स्पष्ट वाणी जरूरी है अस्तु वे कहते हैं--देख, उत्तरा तेरे इस पुत्र को मैं सभी देहधारियों की नजरों के सामने सजीवन करता हूँ।'

देहधारियों की नजरों के सामने सजीवन करने की बात कृष्ण सूचक ढंग से कहते हैं। 'देही' देहधारी का अर्थ ही मर्त्य अथवा मरणशील होता है। देह का पतन होना ही है। ये सब मरने वाले हैं। मृत्यु और जीवन इन दो शब्दों को कृष्ण भिन्न रूप से देखते हैं। वे इन

सब मरणशील जीवों की नजरों के सामने एक मृत्यु प्राप्त देही को सजीवन करते हैं।

यह पहला श्लोक उत्तारा को संबोधित है पर बाद के श्लोकों में कृष्ण अपने ही दिव्य-रूप को संबोधित कर रहे हों ऐसी छटा से बोलते हैं। इस दिव्य वाणी के प्रत्येक शब्द के पास रुकने लायक है। कृष्ण कहते हैं—

नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन,
न च युद्धात् परावृत्तस्तथा संजीवतामयम्।

(आश्वमेधिक, ६९;१९)

प्रथम दो चरण में कृष्ण कहते हैं 'मैंने जो खेल खेल में भी कभी मिथ्या-उच्चारण न किया हो तो........' फिर आगे कहते है 'और युद्ध में से कभी भी पीछे न हटा होऊं तो यह बालक सजीवन हो जाय।'

कृष्ण हमेशा सत्य बोले हैं? व्यवहार की भूमिका पर बहुत से प्रसंग ऐसे हैं जब कृष्ण ने छल का भी आश्रय लिया है। पर कृष्ण 'सत्य' नहीं 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग करते हैं अर्थात् अकारण, कृष्ण ने कभी भी अकारण कुछ कहा या किया नहीं है। उनके कथन में यदि कभी विरोधाभास लगे तब भी समग्र रूप से देखने पर उसकी संगति निखर आये बिना नहीं रहती। युद्ध में से पीछे हटने में भी थोड़ा विरोधाभास है। जरासंध के मथुरा पर किये आक्रमण की अवधि में कृष्ण के व्यवहार की भूमिका का अर्थ लगायें तो कृष्ण पीछे हटे थे, पर वे जरासंध के समक्ष युद्ध में से तनिक भी निवृत्त नहीं हुए थे। जरासंध जब तक जीवित रहकर अधर्म और अनीति का शासन चलाता था तब तक कृष्ण ने चैन की साँस नहीं ली। युद्ध यहाँ लड़ाई मैदान के अर्थ में नहीं है, पर धर्म गोप्ता के रूप में और अधर्म से लड़ने वाले योद्धा के रूप में कृष्ण के व्यक्तित्व को लक्ष्य में रखें तो ये एक-एक शब्द सच्चे हैं। कृष्ण भी इस समय अपने जीवन की इष्ट सिद्धियों को विधि के क्रम के सामने दाँव पर लगा रहे हैं। एक मृत्यु को जीवन में बदलने के लिए स्वयं से जो कुछ संपन्न हैं वह सब सामने के पलड़े पर रखने को तैयार हैं।

कृष्ण आगे बढ़ते हैं:

यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणश्च विशेषतः
अभिमन्योः सुतोजातो मृतो जीवत्वयं तथा।

(आश्वमेधिक, ६९;२०)

यदि मुझे धर्म और ब्राह्मण विशेष प्रिय हों तो जन्मते ही मृत्यु पाया अभिमन्यु का यह पुत्र सजीवन हो।

मोटे तौर पर देखें तो यहाँ भी विरोधाभास है : कृष्ण धर्म प्रिय हैं, तो भी धर्म हमेशा उनके काम नहीं आया है। दुर्योधन तथा भीम के बीच महायुद्ध होता है तब कृष्ण कहते है 'धर्म से ये (अर्थात् दुर्योधन) नहीं मरेगा।' दुर्योधन को अधर्म से मारने की प्रेरणा कृष्ण ही देते हैं। यह तो अभी हाल की बात है और यहाँ कृष्ण धर्म की शपथ लेकर कहते हैं तो इसमें धर्म कहां है ?

पर और अधिक विचार करें तो ध्यान आवेगा कि-अधर्मी को धर्म द्वारा जीता रखना तो धर्म नहीं है। अधर्म धर्म द्वारा जिये तब अधर्म को टिका रखने वाला धर्म धर्मत्व खो बैठता है। वहाँ ऐसे धर्म का त्याग करके अधर्म का अंगीकार करना ही इष्ट मार्ग है। अधर्म से अधर्म का हनन किया जाय तब अधर्म का आवरण उड़ जाता है : रह जाता है मात्र धर्म।

धर्म और ब्राह्मण के लिए कृष्ण की निष्ठा—ब्राह्मण यह कृष्ण के लिए कोई जाति वाचक शब्द नहीं है। जो ब्रह्म को जानता है और ब्रह्म को जानने में दूसरों के लिए उपयोगी होता है वह ब्राह्मण है ऐसा अर्थ कृष्ण का अभिप्रेत है।

अब कृष्ण आगे कहते हैं :

यथाहं नाभिजानामि विजयेतु कदाचन,
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः ॥

(अश्वमेधिक, ६९;२१)

मैंने अर्जुन का कभी भी विरोध किया हो ऐसा मुझे ज्ञात नहीं। इस सत्य के बल पर यह मृत शिशु जीवित हो जाय।

मानव सम्बन्धों की गौरव गाथा यहाँ है। कृष्ण और अर्जुन के सम्बन्ध में कहीं विरोध नहीं है। कृष्ण और अर्जुन का सम्बन्ध पुराण के दो पात्रों के बीच का ही सम्बन्ध नहीं है, भगवान और मनुष्य के बीच का सम्बन्ध भी है। कृष्ण ने अग्नि से यह वरदान माँगा था— 'प्रीति पार्थेन शाश्वतीम्' पार्थ के साथ-अर्थात् पृथा के पुत्र के साथ याने मनुष्य के साथ सदा सर्वदा मेरी प्रीति डोर बंधी रहे। उनकी यह प्रीति बराबर टिकी रही हो और उसमें कहीं भी विरोध न रहा हो तो उसके प्रताप से यह मृत बालक जी उठे-ऐसा कृष्ण कहते हैं। यहाँ मैत्री के

सत्य का भी वर्णन है। कृष्ण का अर्जुन के प्रति सखा भाव है। इसी से कृष्ण और अर्जुन की इस मैत्री में कहीं भी विरोध नहीं है, इसकी चर्चा भी कृष्ण करते हैं। मैत्री के सत्य के बल पर मृत्यु जीवन में बदल जाय ऐसा संकल्प कृष्ण करते हैं।

कृष्ण अपनी इस छह श्लोक की संजीवनी गीता के पांचवें श्लोक में अभी और भी बड़ा दावा करते हैं। वे कहते हैं :

यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ,
तथा मृतः शिशुस्यं जीवतादभिमन्युजः।

(आश्वमेधिक, ६९;२२)

यदि सत्य और धर्म में मेरी नित्य निष्ठा रही हो तो अभिमन्यु का यह मृत बालक सजीवन हो जाय।

सत्य और धर्म ये दोनों शब्द कृष्ण के समग्र जीवन-कार्य-सन्दर्भ में देखने लायक हैं। कृष्ण कभी भी मिथ्या नहीं बोलते, तो कभी भी सत्य में से अपनी स्थिति को चलायमान नहीं करते, वे हमेशा सत्य में ही स्थिर हैं। सत्य और धर्म कृष्ण के जीवन के साथ संगत शब्द हैं। कृष्ण की प्रतिष्ठा इन दोनों शब्दों में हुई है। सत्य बड़ा छलनामय शब्द है। सत्य का एक रूप सापेक्ष है। एक का सत्य दूसरे का सत्य न भी हो सके। पर सत्य का एक निरपेक्ष रूप है जिसमें केवल योगी ही पहुँच सकते हैं। सत्य के इस निरपेक्ष रूप तक पहुँचने वाले विरल महामानवों में कृष्ण एक हैं।

कृष्ण अन्त में कहते हैं :

यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया।
तेन सत्येन बालोऽयं पुनः संजीवतामयम् ॥

(आश्वमेधिक, ६९;२३)

मैंने कंस और केशी का धर्म के अनुसार वध किया हो तो इस सत्य के प्रताप से यह बालक जी उठे।

कृष्ण के जीवन की विवादास्पद घटनाओं में कंसवध मुख्य है। भानजे ने मामा की हत्या की और धर्म से की इस मुद्दे पर जरासंध ने राजपुरुषों को उसकाया था। केशी के वध के समय भी कृष्ण ने धर्माचरण नहीं किया था, ऐसा आक्षेप भी हुआ था।

कृष्ण ने ये दोनों हत्याएँ धर्म से की थीं। केशी अश्व का रूप लेकर कृष्ण को मारने हेतु आया था। कृष्ण ने उसके मुँह में अपना हाथ

रखकर उसकी साँस अवरुद्ध करके उसे मरण-शरण किया था। कंस को तो उन्होंने चाणूर मुष्टिक के साथ हुए मल्ल युद्ध से थके रहने के बाद किया था। कृष्ण द्वारा की गई ये हत्याएँ धर्म से, धर्म के लिए और धर्म द्वारा ही हुई थीं।

कृष्ण ने अपनी संजीवन गीता में जो शब्द कहे उनमें श्रद्धा की अनुगूंज है। यह श्रद्धा कर्म में मोक्ष पाती है। इसलिए कि यह मात्र श्रद्धा का उद्‌गार नहीं है, यह सत्य का प्रयोग है। इस सत्य के बल पर मृत परीक्षित को कृष्ण जीवित करते हैं।

कृष्ण ने ज्यों ही ये शब्द कहे कि सत्य और धर्म की सजीवनी से मृत बालक में चेतना प्रगट हुई और परीक्षित के अंग में संचालन हुआ। यह कृष्ण के सत्य की और धर्म की जय थी।

५६. नकुलोपाख्यान

अर्जुन अश्वमेध यज्ञ के लिए अश्व के पीछे विजययात्रा पर जाता है, तब त्रिगर्तों के साथ, वज्रदत्त के साथ, सैन्धवों के साथ, मागधों के साथ और गान्धारों के साथ उसे युद्ध छेड़ना पड़ता है। अर्जुन के ये युद्ध अवलोकनीय हैं, वह कहीं भी प्रतिस्पर्धी को मारने का विचार नहीं करता। वह उनको युधिष्ठिर के यज्ञ में पधारने का आमंत्रण देता है।

इसमें एक युद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अर्जुन का पुत्र बभ्रु-वाहन पिता से मिलने, उनका स्वागत करने जाता है। तब अर्जुन उसे उलाहना देता है। अश्व पकड़कर अर्जुन को युद्ध देने के बदले वह सरलता से शरणागति स्वीकार करता है, यह देखकर अर्जुन तिरस्कार-युक्त वचन बोलता है। नागकन्या उलूपी इस अवसर पर उपस्थित होती है और वह बभ्रुवाहन से अर्जुन की ललकार का उचित उत्तर देने को कहती है। इस युद्ध में बभ्रुवाहन के हाथों अर्जुन की मृत्यु होती है।

स्वयं पिता का हत्यारा है यह मानकर बभ्रुवाहन और पति की मृत्यु के बाद जीने का क्या काम यह मानकर चित्रांगदा मृत्यु का संकल्प करके उपवास व्रत लेकर बैठ जाते हैं। तब उलूपी कहती है कि अर्जुन मरा नहीं है। नर और नारायण का, अक्षर और पुरुषोत्तम का सम्बन्ध अर्जुन और कृष्ण के बीच है और साक्षात् अक्षर स्वरूप अर्जुन जीता नहीं जा सकता, ऐसा कहते हुए उलूपी कहती है—

ऋषिरेष महानात्मा पुराणः शाश्वतोक्षरः ।
नैनं शक्तो हि संग्रामे जेतुं शक्रोऽपि पुत्रकः ।।

(आश्वमेधिक, ८०;८)

हे पुत्र, यह महात्मा नर नामक पुरातन ऋषि है, यह शाश्वत अक्षर स्वरूप है, युद्ध में इन्द्र भी इसे पराजित नहीं कर सकते।

ऐसा कहकर उलूपी दिव्य मणि बभ्रुवाहन को देती है, जिसके स्पर्श-मात्र से अर्जुन सजीवन हो उठ बैठता है।

युद्धभूमि में बभ्रुवाहन के साथ ही चित्रांगदा और उलूपी को देखकर अर्जुन को आश्चर्य होता है तब उलूपी स्पष्ट करती है कि अर्जुन ने शिखण्डी की आड़ लेकर गंगापुत्र भीष्म का वध किया था। इससे वसुओं का शाप लगा था। इस शाप से मुक्ति दिलाने के लिए ही मुझे यह उपक्रम करना पड़ा।

अर्जुन इस युद्ध से वापस लौटता है तब महाभारतकार एक रोचक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं। युधिष्ठिर और कृष्ण दोनों एक साथ हैं। कृष्ण धीरे से कहते हैं: अर्जुन अश्व के साथ अब निकट आ रहा है। विश्वसनीय दूत ने मुझे बताया है कि अनेक युद्ध करके वह दुर्बल हो गया है। अब अश्वमेध की तैयारी कीजिये। पर साथ ही अर्जुन ने इस दूत द्वारा दो सन्देश भेजे हैं एक तो यह कि 'राजसूय यज्ञ के समय जो दुर्घटना हुई थी वह इस बार फिर न हो इसका ध्यान रक्खा जाय। मैं नहीं चाहता कि परस्पर द्वेष से पुनः राजकुल का नाश हो।' 'दूसरे मेरे साथ मेरा परमप्रिय पुत्र बभ्रुवाहन आ रहा है। उसका विधिपूर्वक विशेष सत्कार कीजियेगा।'

अर्जुन के ये दोनों संदेश कृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं इसका तात्पर्य है कि इसमें कृष्ण की सहमति है। राजसूय यज्ञ के समय दो घटनाएं हुई थीं: एक तो अग्रपूजा के कारण उत्पन्न हुए कलह में शिशुपाल का वध हुआ था, दूसरा द्रौपदी द्वारा दुर्योधन का अपमान हूआ था। कृष्ण जानते हैं कि ये दोनों घटनाएं ही कुरुक्षेत्र के मूल में थीं। इस कारण इन दोनों घटनाओं को पी गये राजपुरुषों में उत्पन्न द्वेष ही द्यूत और कुरुक्षेत्र की ओर परिस्थिति को खींच ले गयी थी। कोई भी व्यक्ति जब महान सिद्धि प्राप्त करता है तब उसका इसपर गर्व दूसरों में इर्ष्या प्रेरित करता है। जबकि इसके प्रति नम्रता दूसरों में आदर प्रेरित करती है। अर्जुन के संदेश के निमित्त से कृष्ण युधिष्ठिर से एक तो

यह बात कहना चाहते थे। दूसरे बभ्रुवाहन अर्जुन की वनयात्रा के दौरान हुए सम्बन्ध से उत्पन्न संतान है। उसका उचित सत्कार न हो तो जैसे कर्ण को हीनकुल का दंश जीवन भर बना रहा वैसे ही बभ्रुवाहन को भी, वह पाण्डवों के सम्मानित राजवंश का नहीं है, इस बात का दुख रहेगा।

कृष्ण अर्जुन के इन संदेशों को युधिष्ठिर तक पहुँचाते हैं, तब युधिष्ठिर एक सूचक प्रश्न पूछते हैं। अर्जुन के समग्र व्यक्तित्व को उभारने वाला यह प्रश्न है।

> किं निमित्तं स नित्यं हि पार्थः सुखविवर्जितः,
> अतीव विजयो धीमन्निति मे दूयते मनः।
> संचिन्तयामि कौन्तेयं रहोजिष्णुं जनार्दन,
> अतीव दुखभागी स सततं पाण्डुनन्दनः।
> (आश्वमेधिक, ८७;३-४)

हे कृष्ण, जब मैं एकान्त में बैठकर अर्जुन के बारे में सोचता हूँ तो यह सोचकर खिन्न हो जाता हैं कि हम सब भाईयों में अर्जुन सबसे ज्यादा दुख भोगता है। पाण्डुपुत्र अर्जुन सुख से वंचित क्यों है यह बात मेरी समझ में नहीं आती।

यहाँ महत्त्व युधिष्ठिर के सवाल का ही है। अर्जुन सब पाण्डवों में सब से ज्यादा दुख भोगता रहा है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में जब द्रोणाचार्य से पूछा कि आपने सभी राजपुत्रों को विद्या दी तब क्या अर्जुन को कुछ विशेष दिया था?—तब आचार्य ने उत्तर में यही बात कही थी : आचार्य की विद्या तो सब के लिए बराबर थी पर अर्जुन को दुख और योग ये दो अधिक मिले। इसी से वह आगे निकल गया।

कृष्ण का उत्तर तो थोड़ा दिल्लगीभरा है। अर्जुन के पैर की पिंडलियां ज्यादा मोटी हैं, इसलिए उस पर दुख पड़ता है—ऐसा कृष्ण कहते हैं। द्रौपदी कृष्ण का यह उत्तर सुनकर टेढ़ी नजर से कृष्ण की ओर देखती है।

अश्वमेध यज्ञ सफलता पूर्वक सम्पन्न हुए। फिर एक आश्चर्यजनक घटना हुई। युधिष्ठिर के दान से ऋषि और ब्राह्मण प्रसन्न हुए तब एक न्यौला आकर यज्ञ की निंदा करते हुए कहता है कि यह तो रंक ब्राह्मण द्वारा जौ की लपसी से किये दान यज्ञ की तुलना में भी नहीं आता। सुवर्ण की आधी देहवाले नेवले ने यह कथा सुनाई कि एक

दरिद्र ब्राह्मण कुटुम्ब में ब्राह्मण, ब्राह्मणी, उनका पुत्र और पुत्र वधू ये चार व्यक्ति थे। ब्राह्मण को कहीं से थोड़े जौ मिले, इसकी लपसी बनाकर अनेक दिन के उपवास के बाद इस कुटुम्ब के लिए पारण करने का अवसर आया था। पर लपसी तैयार हुई ही थी कि आँगन में अतिथि आये। इस अतिथि को ब्राह्मण अपने हिस्से की लपसी दे देता है पर उसकी क्षुधा शान्त नहीं होती। ब्राह्मणी अपना भाग दे देती है, अन्त में पुत्र और पुत्रवधू भी अपना भाग दे देते हैं तब अतिथि की क्षुधा सन्तुष्ट होती है। तब वहाँ बिखरे जौ और अन्न के कणों में लोटने से नेवले का सिर सोने का हो जाता है। तबसे इस नेवले को एक सेर जौ की लपसी द्वारा इस ब्राह्मण ने जो यज्ञ किया था उसके तौल का कोई यज्ञ दिखाई नहीं देता।

युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ के बारे में रहा सहा गर्व भी गल जाय ऐसी यह घटना है। यज्ञ के बारे में एक और काँटे की बात यहाँ है। अगस्त्यमुनि ने जब यज्ञ आरंभ किये तब इन्द्र ने मेघवर्षा बन्द कर दी। यह यज्ञ बारह वर्ष चलनेवाला था और बारह वर्ष अनावृष्टि रहे तो क्या होगा इसकी चिंता में ऋषिगण विकल हुए। तब अगस्त्य कहते हैं कि इन्द्र ऐसा करेगा तो मैं चिन्ता-यज्ञ (चिंतन द्वारा, विचार मात्र से किया जाता यज्ञ) करूँगा, या मैं स्पर्श-यज्ञ करूँगा अथवा तो ध्यान-यज्ञ करूँगा, या फिर बीज-यज्ञ करूँगा। और इनके बावजूद यदि इन्द्र वर्षा नहीं होने देगा तो—

स्वयमिन्द्रो भविष्यामि जीवयिष्यामि च प्रजाः।

(आश्वमेधिक, ९२; २)

तो मैं स्वयं इन्द्र बन जाऊँगा और प्रजा की रक्षा करूँगा।

यज्ञ की महिमा व्यक्त करते अगस्त्य के ये शब्द यज्ञ का अति-विशाल अर्थ व्यक्त करते हैं। यज्ञ में हिंसा हो या नहीं यह प्रश्न भी यहाँ उठा है और 'न हिंसा धर्म उच्यते' (हिंसा धर्म नहीं है) ऐसा कहकर यज्ञ में पशुवध का निषेध किया गया है।

कृष्ण ने आरंभ में ही युधिष्ठिर से यह यज्ञ अन्य राजपुरुषों में ईर्ष्या उत्पन्न न करे, इस ढंग से करने को कहा था, यज्ञ के अन्त में आया नकुल आख्यान युधिष्ठिर के रह सहे गर्व को भी गला डालता है और ऐसी शरणागत स्थिति में युधिष्ठर कृष्ण से वैष्णवधर्म का रहस्य पूछते हैं और कृष्ण उत्तर में कहते हैं :

धर्मः श्रुतो वा दृष्टो वा कथितो वा कृतोऽपि वा,
अनुमोदितो वा राजेन्द्र नयतीन्द्रपदं नरम्।
(आश्वमेधिक, ९२;५३)

हे राजन्, सुना हुआ या देखा या कहा या किया या अनुमोदित किया धर्म मनुष्य को इन्द्र के पद तक पहुँचा देता है।

और इन शब्दों से दाक्षिणात्य अधिक पाठ में दिये वैष्णव धर्म ने लगभग बारह सौ श्लोकों द्वारा दिया गया वैष्णव धर्म का बोध प्रारंभ होता है।

५७. देहोत्सर्ग

कुरुक्षेत्र के युद्ध में महाकवि व्यास ने जो निरूपण-युक्ति की थी वही मौसलपर्व में प्रयुक्त हुई है। सभी यादवों का आन्तरिक युद्ध में संहार हुआ है, ऐसे समाचार युधिष्ठिर को मिलते हैं।

निधनं वासुदेवस्य समुद्रस्येव शोषणम्,
वीरा न श्रद्दधुस्तस्य विनाशं शार्ङ्गधन्वनः।
(मौसल, १;१०)

श्रीकृष्ण की मृत्यु तो समुद्र सूख जाय ऐसी ही असंभव लगती थी अतः पाण्डववीरों ने सारंगपाणि के विनाश की बात पर विश्वास नहीं किया। कृष्ण के पुत्र साम्ब को स्त्री-वेश में विश्वामित्र, कण्व तथा तपोधन नारद के सामने प्रस्तुत करके उसके गर्भ से क्या पैदा होगा ऐसे प्रश्न करते यादव-युवकों को इन मुनियों से सर्वनाश का शाप मिलता है। यह शाप देने के बाद तत्काल ही मुनिगण कृष्ण से मिलने जाते हैं। कृष्ण ऐसा घोर शाप सुनकर लेशमात्र भी विचलित नहीं होते। महामुनि वहाँ एक चरण इस प्रकार कहते हैं :

अन्तज्ञो मतिमांस्तस्य भवितव्यं तथेति तान्॥
(मौसल, १;२४)

कृष्ण के लिये यहाँ दो विशेषण हैं : अन्तज्ञ और मतिमान्। कृष्ण अन्त क्या है यह जानते हैं। वे मतिमान् हैं। यदुवंशियों का इस प्रकार नाश होनेवाला है, यह बात कृष्ण जानते हैं। इसीसे कहते हैं कि ऋषियों ने जो कहा वही होगा।

कृतान्तमन्यथा नैच्छत्कर्तुं स जगतः प्रभुः ॥

(मौसल, १;२५)

कृष्ण जगत् के प्रभु हैं। जो कृतान्त है उसे अन्यथा करना नहीं चाहते।

यादवों के विनाश और कृष्ण-बलराम की जीवनलीला सिमट जाने की निश्चित भावी को कृष्ण अन्यथा करना नहीं चाहते।

अलबत्ता, यादवगण मदिरापान पर रोक लगाकर इस विनाश को टालने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु कृष्ण को तो गांधारी का शाप याद है।

महाभारत-युद्ध के समय जो संयोग थे वे फिर उपस्थित हो गये हैं। छत्तीस साल बाद आकाश में नक्षत्रों की पुनः वही स्थिति आती है। कृष्ण स्वयं ही इस संहार की अनिवार्यता समझते हैं। इसीसे वे यादवों को तीर्थयात्रा के लिए प्रभास-क्षेत्र में जाने की आज्ञा देते हैं। एक रात सपने में द्वारकावासियों को काले रंग की स्त्री सफेद दाँत दिखाकर क्रूरतापूर्वक हँसती, घरों में घुसती, स्त्रियों के सौभाग्य-चिह्न लूटती दौड़ती थी, ऐसा दिखाई दिया।

जो घटना कुरुवंशियों में हुई थी वही यदुवंशियों में हो रही थी। कुरुक्षेत्र में जाति-संहार हुआ था। कृष्ण की आँखों के आगे यह संहार हुआ था। यहाँ भी सात्यकि 'केशवस्य समीपतः' (कृष्ण के पास होकर) कृतवर्मा का मस्तक उड़ा देता है। 'कृष्णस्य पश्यतः' (कृष्ण के देखते-देखते) सात्यकि को जूठे बरतनों से क्रूर ढंग से मार डाला गया था। फिर कृष्ण स्वयं इस जाति-वध में भाग लेते हैं। परवाने आग में कूद पड़ें वैसे यादवगण भी विनाश की ज्वाला में कूद पड़े। कृष्ण ने देखा कि संहार अब पूर्ण होनेवाला है तब उन्होंने बाकी बचे यादवों का भी संहार कर डाला।

अब कृष्ण दारुक को अर्जुन को बुला लाने हस्तिनापुर भेजते हैं। जिस बभ्रु के कारण मूसलपर्व उठ खड़ा हुआ उसे स्त्रियों की रक्षा हेतु द्वारका भेज रहे थे तभी किसी लुब्धक (शिकारी) का मूसलयुक्त तीर उसका नाश करता है। अब बचे हैं केवल कृष्ण और बलराम। बलराम को अपनी राह देखने का कहकर कृष्ण स्त्रियों की रक्षा का प्रबन्ध करने द्वारका जाते हैं। वे पिता वसुदेव से अर्जुन आवें तब तक कुल की समस्त स्त्रियों की रक्षा करने को कहते हैं—

दृष्टं मयेदं निधनं यदूनां
राज्ञां च पूर्वं कुरुपुंगवानाम्
नाहं विना यदुभिर्यादवानां
पुरीमिमामशकं द्रष्टुमद्य ।

(मौसल, ४;९)

मैंने इस समय यदुवंशियों का विनाश देखा है। इससे पहले मैंने कुरुपुंगवों का संहार भी देखा था। अब यादववीरों बिना इस द्वारका में रहना मेरे लिए संभव नहीं है। फिर 'रामो वनान्ते प्रतिपालयन्मामा स्तेऽद्याहं तेन समागमिष्ये' (बलराम वन में मेरी राह देखते बैठे हैं। मैं जाकर उनसे मिलूंगा) ऐसा कहकर कृष्ण द्वारका से चल देते हैं। वे बलराम से मिलने जाते हैं। पर बलराम के साथ मिलने का उनका वचन वन में है या वन से परे उस परमधाम में ?

कृष्ण जब बलराम के पास आते हैं, तब बलराम समाधिस्थ थे : उनके देह का चैतन्य शेषनाग का स्वरूप लेकर सागर में समा जाता है। यह चमत्कार है कि कुंडलिनी जो प्राण-शक्ति मानी जाती है वह सर्पशक्ति देह में से निकले, तब यह देह निर्जीव बन जाती है इस बात का ही संकेत है क्या ?

कृष्ण बलराम को परमधाम में जाते देखते हैं, उसके बाद 'जानन् सर्वा गतयो दिव्यदृष्टिः' (दिव्य दृष्टि से सभी गतियों के जाननेवाले) कृष्ण शून्य वन में विचरण करते हैं और फिर एक स्थान पर जाकर बैठते हैं और दो घटनाओं का चिंतन करते हैं। इनमें प्रथम तो वे गांधारी के शाप का स्मरण करते हैं और फिर दुर्वासा के कहने पर समग्र देह पर खीर का लेप किया पर पैर के तलुवों पर नहीं किया, इससे पैर के तलुवे वध्य रह गये, इस घटना का स्मरण करते हैं। इसके बाद वे यदुकुल और कुरुकुल के विनाश का स्मरण करते हैं।

दूसरों के लिए मृत्यु अचानक बिना चेतावनी आते अतिथि जैसी है। पर कृष्ण जैसे महात्मा के लिए तो वह इच्छा-मृत्यु है। कृष्ण इस क्षण गांधारी और साथ ही दुर्वासा के शब्दों को सत्य सिद्ध करना चाहते हैं। उनका परमधाम जाने का समय आ पहुँचा है, यह वे जानते हैं। इससे उन्होंने 'ततश्चकारेन्द्रियसंनिरोधम्' अपनी इन्द्रियों का संनिरोध किया, और--

देवोऽपि सन् देहविमोक्षहेतो-
र्निमित्तमैच्छत् सकलार्थतत्त्ववित्,
स संनिरुध्येन्द्रिय वांगमनास्तु
शिश्ये महायोगमुपेत्य कृष्णः।

(मौसल, ४;२१)

कृष्ण स्वयं देव हैं फिर भी देह के विमोक्ष के लिए वे निमित्त शोध रहे थे, कृष्ण बलराम की भाँति समाधि अवस्था में ही देह का त्याग करते हैं। पर गांधारी तथा दुर्वासा के वचनों को सार्थक करने का निमित्त भी ढूँढ़ते हैं। उन्होंने इन्द्रियों का निरोध करके महायोग का आश्रय लेकर पृथ्वी पर शयन किया।

कृष्ण के लिए इतना ही पर्याप्त था, पर निमित्त की शोध तो थी ही। जरा नामक लुब्धक वहाँ आता है। वह मृगासक्त है। उसे यहाँ-वहाँ सर्वत्र मृग ही दिखाई पड़ते हैं। कृष्ण को भी वह मृग ही समझता है और उन्हें बाण मारता है। बाण कृष्ण के तलवे में लगता है। फिर अपने शिकार को लेने वह आगे बढ़ता है तब—

अथापश्यत पुरुषं योगयुक्तं
पीताम्बरं लुब्धकोऽनेकबाहुम्।

(मौसल, ४;२३)

वह देखता है योगयुक्त, पीतांबरधारी अनेकबाहु पुरुष।

शिकारी यह मानकर कि स्वयं से महान् अपराध हुआ है, कृष्ण के दोनों पैर पकड़ लेता है। योगयुक्त कृष्ण ने अभी श्वास को अंकुश में रखा है। वे इस शिकारी को आश्वासन देते हैं और अपनी लक्ष्मी से आकाश को व्याप्त कर ऊर्ध्व में चले जाते हैं।

महाभारत में कृष्ण का प्रथम प्रवेश होता है द्रौपदी-स्वयंवर के समय। तब भी व्यास उनके प्रवेश को तनिक भी नाट्यात्मक नहीं बनाते। धृष्टद्युम्न की अतिथियों की सूची में कृष्ण भी अनेक में एक गिन दिये जाते हैं।

ऐसे दीर्घ जीवन के बाद कृष्ण के देहविलय के क्षण को भी व्यास तनिक भी नाट्यात्मक नहीं बनाते। कृष्ण सहजभाव से इन्द्रिय-निरोध करके योगयुक्त बनकर आकाश में अपनी लक्ष्मी प्रभा को व्याप्त करके ऊर्ध्व में चले जाते हैं।

महाभारत में कृष्ण का प्रवेश और महाभारत में से कृष्ण की

बिदाई, ये दोनों महत्त्व की घटनायें हैं। इन दोनों घटनाओं में कृष्ण का असामान्यत्व प्रगट होता है। व्यास किसी नाट्यात्मक वर्णन द्वारा इस असामान्यत्व को स्थापित नहीं करते, वे इस सामान्य से कितना परे हैं यह बताकर ही इस असामान्यता को प्रगट कर देते हैं। यहाँ कृष्ण व्याध को आश्वासन देने के बाद ही देह का त्याग करते हैं, उनकी आदमी के लिए हार्दिकता किस हद तक है इसका ध्यान इस छोटी-सी घटना से ज्ञात होता है। मृग समझकर स्वयं जिसे तीर मारा वह परमपुरुष कृष्ण हैं ऐसा उस शिकारी को कृष्ण के देहोत्सर्ग के बाद समझ में आया होता तो वह जिन्दगीभर के लिए दुखी हो गया होता। पर यह तो होनेवाला ही हुआ ऐसा उसे आश्वासन देने के बाद ही वे देह-त्याग करते हैं। कृष्ण की महत्ता जैसे बड़े प्रसंगों में प्रगट होती है वैसे ही इन छोटी घटनाओं में भी वह अधिक उत्कटता से प्रगट होती है।

५८. नारायणविहीन नर

अर्जुन अनेक बार द्वारका आया है, सुभद्रा के साथ प्रथम नेत्रोन्मीलन और कृष्ण की प्रेरणा से उसका हरण भी द्वारका में घटित घटनाएँ हैं, कुरुक्षेत्र के युद्ध में कृष्ण की सहायता माँगने अर्जुन आता है, यह घटना भी द्वारका में ही हुई थी। पर इस बार का अर्जुन का द्वारका-प्रवास असामान्य है। इस बार द्वारका में कृष्ण नहीं हैं और जिनके पराक्रम की कथाएँ भारतवर्ष में कही जाती थीं वे यादववीर भी नहीं हैं। उसने तो जिसका नाथ मर गया है ऐसी नारी जैसी द्वारका देखी। अर्जुन को देखकर ताजा वैधव्यप्राप्त यदुवंशी स्त्रियाँ रोने लगती हैं, 'हीना कृष्णेन पुत्रैश्च' (कृष्ण और साथ ही पुत्रों से हीन)। ऐसी इन स्त्रियों को देखना भी अर्जुन के लिए सह्य नहीं था। वे बेहोश हो जाते हैं तब सत्राजित् की सत्यभामा तथा रुक्मिणी उन्हें होश में लाती हैं।

अर्जुन वसुदेव के पास जाते हैं। सामान्य रीति के अनुसार बुजुर्ग अपने से छोटों का मस्तक सूँघकर उन्हें आशीर्वाद देते हैं, पर वसुदेव अर्जुन का मस्तक भी सूँघ नहीं सकते, कारण यह कि इसी क्षण उन्हें कृष्ण, बलरामसहित पुत्र-पौत्रादि की याद आ जाती है। वसुदेव

अर्जुन को आलिंगन देते हैं और कहते हैं : जो प्रद्युम्न और सात्यकि तुम्हारे और कृष्ण के प्रीतिभाजन थे, वे ही इस वृष्णिवंश के नाश के मूल में थे। इतना ही नहीं पर—

प्रत्यक्षं भवतश्चापि तव पौत्र परंतप,
अश्वत्थाम्ना हतश्चापि जीवितस्य तेजसा।
(मौसल, ६;१६-१७)

अश्वत्थामा द्वारा हत तुम्हारे पौत्र को तुम सबके देखते हुए कृष्ण ने जीवित किया था। अब वही कृष्ण अपने वंश का नाश देखते रहे, उन्होंने किसीको भी बचाने की इच्छा व्यक्त नहीं की।

अपना पुत्र, जीवनकाल में भगवान् के रूप में पूजित पुत्र, इस प्रकार चला जाय तब वसुदेव की क्या स्थिति हुई होगी ?

मौसल पर्व के पाँचवें अध्याय में कृष्ण देहत्याग करते हैं पर इसके बाद की प्रत्येक घटना पर छाये रहते हैं। वसुदेव की स्थिति विकट है तो अर्जुन की स्थिति कम दयनीय नहीं है। वह वसुदेव से कहता है :

नाहं वृष्णिप्रवीरेण बन्धुभिश्चैव मातुल,
विहीनां पृथिवीं द्रष्टुं शक्यामीह कथंचन।
(मौसल, ७;२)

हे मातुल (मामा) वृष्णि-प्रवीर अब नहीं रहे और नहीं रहे हैं मेरे बन्धु। अब कृष्ण-विहीन पृथ्वी देखी नहीं जाती।

कृष्ण के जाने के बाद पाण्डवों के लिए भी जीवन जीने योग्य नहीं रहा, अब हमारा भी काल आ पहुँचा है, ऐसा अर्जुन कहता है। तथापि पिता की व्यथा के सामने अर्जुन के विषाद की कोई बिसात नहीं है। अब द्वारका में कृष्ण नहीं हैं। द्वारका तो कृष्ण द्वारा बसाया नगर था। कृष्ण की आज्ञानुसार द्वारका से दूर रहनेवाला सागर अब द्वारका पर चढ़ आयेगा, ऐसा अर्जुन शेष यादवों से कहता है आज से सातवें दिन स्वयं यादवस्त्रियों, बच्चों और वृद्धों को लेकर इन्द्रप्रस्थ की ओर रवाना होंगे ऐसा अर्जुन कहता है। यादव एक बार फिर प्रस्थान की तैयारी करते हैं।

अर्जुन वह रात कृष्ण के भवन में बिताता है। वहाँ जाते ही—

महता शोकमोहेन सहसाभिपरिप्लुतः।
(मौसल, ७;१४)

महान् शोक और मोह में वह डूब जाता है। अनुष्टुप् के एक ही चरण में अर्जुन के शोक को महाकवि अभिव्यक्ति देते हैं। जहाँ कृष्ण

नहीं हैं ऐसा कृष्ण का निवास-स्थान ! अर्जुन तो इसका अनुभव कर चुका है। कुरुक्षेत्र में वे उसके रथ पर से उतरे कि तुरन्त ही वह भकभकाकर जलने लगा था। वही दाह आज द्वारका, कृष्ण के भवन और कृष्ण से इस लोक में त्यक्त हुए अर्जुन अनुभव कर रहे हैं।

दूसरे दिन सबेरे अर्जुन को एक और विषादपूर्ण खबर मिलती है– वसुदेव योगयुक्त समाधि लेते हैं इसकी। वसुदेव को पुत्र-पौत्रों की कमी नहीं थी, पर जीवन के अन्तिम क्षण में जब उनके क्षर देह को सती होने को उत्सुक उनकी चार पत्नियों–देवकी, भद्रा, रोहिणी और मदिरा के साथ चिता पर रखा जाता है, तब अर्जुन अग्निदाह प्रदान करता है। इसके बाद अर्जुन जहाँ वृष्णि-वंशियों का संहार हुआ था, उस स्थल पर जाकर कृष्ण और बलराम की देह शोधकर उनका अग्निसंस्कार करते हैं। कृष्ण के भगवच्चरित्र का निरूपण करने के बाद महाकवि व्यास कृष्ण के मानवी परिणाम को सँजोकर रखते हैं। शिकारी के तीर से बिंधे कृष्ण के क्षर देह का भी सामान्य मानवी शरीर की भाँति ही अन्तिम संस्कार किया गया।

इसके बाद कृष्ण का अभाव परिस्थिति में कितना परिवर्तन ला सकता है इसे प्रदर्शित करता एक सूचक प्रसंग आता है। पंचनद प्रदेश के दस्युओं, आभीरों का दल अकेले अर्जुन की शरण में चल रही असंख्य स्त्रियों को लूटने के लिए हमला करता है। विराट्नगर की सीमा पर अर्जुन ने भीष्म-कर्णयुक्त कौरव-सैन्य का अकेले हाथ विनाश किया था वह घटना याद आती है। वही अर्जुन हैं, वही गांडीव है, फिर भी––

प्रेक्षतस्त्वेव पार्थस्य वृष्ण्यन्धकवरस्त्रियः,
जग्मुरादाय ते म्लेच्छाः समन्ताज्जनमेजय।

(मौसल, ७;६३)

अर्जुन के देखते हुए वे म्लेच्छ वृष्णि और अन्धक वंश की स्त्रियों का अपहरण कर ले गये। कृष्ण नहीं हैं तो अब अर्जुन भी वही का वही नहीं रह गया है, उसकी दिव्य शस्त्रों की जानकारी भी नहीं रही है, इतना ही नहीं, उसके बाण भी अक्षय नहीं रहे हैं। हमारे लोककवि ने महाकवि व्यास के श्लोक के आधार पर ही वह प्रचलित उक्ति कही है––

काबे अर्जुन लूंटियो वोही धनुष, वोही बाण।

कृष्ण ही मानव-देह का चैतन्य है। जहाँ तक भगवान् का स्पर्श या भगवान् की करुणा है, वहीं तक सब कुछ है। एक बार भगवान् की करुणा गई तो फिर मनुष्य में कुछ भी बाकी नहीं रहता। भगवान् जहाँ तक मनुष्य के साथ हैं वहाँ तक मनुष्य के सामने सारी दुनिया आ जाय तो भी उसका पराजय नहीं हो सकता। भगवान् यदि मनुष्य को त्याग दें तो इससे बड़ी दूसरी कोई पराजय नहीं है। भगवान् द्वारा त्यक्त होने का अर्थ क्या है इसका ध्यान यदि किसी स्थूल घटना द्वारा प्राप्त करना हो तो गांडीव धनुष साथ होने के बावजूद वीर अर्जुन की नजर के सामने दस्युओं और आभीरों ने यदुवंशी नारियों का अपहरण किया, इस घटना को निकट से देखना चाहिये। हमारी जो कुछ संप्राप्ति है उसमें कृष्ण ही हैं। हमारी जो कुछ हानि है उसमें कृष्ण का ही अभाव है। यह रहस्य महाकवि व्यास अपनी रचना जब परा-काष्ठा पर पहुँचती है तब अत्यन्त उत्कटता से प्रगट करते हैं।

अर्जुन यह बात ठीक से समझ गया है इसीसे वह महामुनि व्यास के पास जाकर समूची परिस्थिति का वर्णन करते हुए कहता है: जिनका स्वरूप अप्रमेय है, जो शंख-चक्र-गदा धारण करते हैं, जिनकी चार भुजाएँ हैं, पीतवसन है, जो श्याम हैं और पद्मदल जैसी आँखों-वाले हैं वे कृष्ण--

यश्च याति पुरस्तान्मे रथस्य सुमहाद्युतिः,
प्रदहन रिपुसैन्यानि न पश्याम्यहमच्युतम्।
येन पूर्वं प्रदग्धानि शत्रुसैन्यानि तेजसा,
शरैर्गाण्डीव निर्मुक्तैरहं पश्चाच्च नाशयम्,
तमपश्यन् विषीदामि घूर्णामीव च सत्तम।

(मौसल, ८;२०-२२)

वे महान् द्युतिवाले भगवान् अच्युत मेरे रथ के आगे चलते थे और शत्रुदलों को भस्म करते थे, उन्हें अब मैं नहीं देखता। वह भग-वान् ही सबसे पहले अपने तेज से शत्रु-सेना प्रदग्ध करते थे। उसके बाद गाण्डीव धनुष से मैं उस सैन्य का नाश करता था। अब वे भग-वान् आज मेरे आगे नहीं हैं, इससे मैं विषाद में डूबा हूँ और मुझे चक्कर आ रहा है।

आगे अर्जुन कहता है: विष्णु गये इस समाचार मात्र से मैं दिशाओं

का ज्ञान भूल गया हूँ। जाति-वध तो पहले हो ही चुका था, अब कृष्ण गये तो उनके साथ मेरा पराक्रम भी नष्ट हो गया है।

अर्जुन नर है–मनुष्य है। कृष्ण हैं–नारायण-भगवान्। मनुष्य को मनुष्य चाहे कितनी ही विषम परिस्थिति में रख दे पर भगवान् उसके साथ हों तो उसकी कोई हानि नहीं होती। अर्जुन की यह प्रतीति हमने यहाँ अनुभव की है।

महाकवि व्यास जो भी घटनाएँ हुईं उनकी यथार्थता को तर्कसंगत बनाने का प्रयत्न करते हैं। यादवों पर मुनियों का शाप था। जब अपहृत यादव-सुन्दरियाँ पूर्व जन्म में अप्सराएँ थीं तब 'दस्युओं के हाथ में पड़ने के बाद आपका उद्धार होगा' ऐसा अष्टावक्र मुनि ने उन्हें शाप दिया था। जो कुछ हुआ वह सब कृष्ण 'नहीं हुआ' कर सके होते। परन्तु कृष्ण मुनियों का शाप टालना नहीं चाहते, इसीसे यह परिस्थिति सृजित हुई।

अर्जुन कृष्ण के पौत्र वज्र का इन्द्रप्रस्थ के राजा के रूप में अभिषेक करते हैं। इन्द्रप्रस्थ के निर्माण में श्रीकृष्ण का अंशदान बहुत बड़ा था। पाण्डवों को हिस्से में जो जंगल मिला था उसे कृष्ण की सहायता से वैभवशाली इन्द्रप्रस्थ के रूप में बदला जा सका था। उसी इन्द्रप्रस्थ में अब यादवों को शरण मिलती है। मथुरा से द्वारका गये यादव अब पंजाब के आभीरों द्वारा लूटे जाने के बाद इन्द्रप्रस्थ में आबाद होते हैं।

५९. महाप्रस्थानिक पर्व

अब महाभारत अपनी पराकाष्ठा के पर्व से पहले के महाप्रस्थानिक पर्व पर पहुँचता है। पाण्डव विचार करते हैं कि अब कृष्ण नहीं हैं तो क्या करना चाहिये। युधिष्ठिर महाप्रस्थान का विचार करते हैं। जीवन के पार के प्रदेश की तरफ गति को महाप्रस्थान का नाम देना, यह महाकवि की कलम ही कर सकती है। युधिष्ठिर कहते हैं–

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महामते,
कालपाशमहं मन्ये त्वमपि द्रष्टुमर्हसि।

(महाप्रस्थानिक, १;३)

काल ही सभी भूतों को पकाता है, विनाश की ओर ले जाता है।

अब मैं काल के बन्धनों को स्वीकार करता हूँ। तूं भी उस तरफ देख।

अर्जुन इसके उत्तर में कहता है 'कालः कालं'। (काल तो काल ही है) यही अभिप्राय अन्य भाइयों का भी हुआ।

फिर महाप्रस्थान की यात्रा का विवरण है। इसमें अर्जुन की तरफ पक्षपात रखनेवाली द्रौपदी सबसे पहले गिरती है। विद्वत्ता का गुमान रखनेवाले सहदेव उसके बाद गिरते हैं। रूपमानी नकुल, प्रतिज्ञा पूरी न कर सकनेवाला अर्जुन और बल-गुमान करनेवाला अत्याहारी भीम एक के बाद एक गिरते हैं। इसके बाद इन्द्र रथ के साथ युधिष्ठिर का स्वागत करने आते हैं तब युधिष्ठिर श्वान के रूप में एकदम हस्तिनापुर से साथ आ रहे धर्म के बिना सदेह स्वर्ग में जाना पसन्द नहीं करते, यह प्रचलित प्रसंग भी आता है।

अन्तिम स्वर्गारोहण पर्व की अधिकतर घटनाओं से हम परिचित हैं। युधिष्ठिर अन्त में देहत्याग करके स्वर्ग में पहुँचते हैं तब पुनः एक बार कृष्ण का उल्लेख आता है।

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम्
तेनैव दृष्टपूर्वेण सादृश्येनैव सूचितम्।

(स्वर्गारोहण, ४;२)

वहाँ युधिष्ठिर ने देखा कि गोविन्द ब्राह्म विग्रह से संपन्न हैं। पहले उन पर दृष्टि पड़ी थी इसीसे रचित सादृश्य के कारण ही युधिष्ठिर कृष्ण को पहचान सके। कृष्ण के मनुष्यरूप और भगवान्रूप इन दोनों में बहुत अन्तर था। पर एक सादृश्य भी था। इसी सादृश्य के आधार पर ही युधिष्ठिर उन्हें पहचान सके।

कृष्ण का सबसे अन्तिम उल्लेख महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व के उपसंहार के प्रकरण में आता है। सभी पात्रों का इस लोक के पार के प्रदेश में क्या हुआ इसका आकर्षक समापन करते हुए भगवान् वेदव्यास अन्त में कहते हैं—

यः स नारायणो नाम देवदेवः सनातनः,
तस्यांशो वासुदेवस्तु कर्मणोऽन्ते विवेशऽह।

(स्वर्गारोहण, ५;२४)

वे जो नारायणनाम से प्रसिद्ध सनातन देवाधिदेव हैं उनके अंश

वसुदेवनंदन श्रीकृष्ण थे। वे अपना अवतार-कार्य पूरा करके अपने स्वरूप में फिर तद्रूप हो गये।

इसके बाद प्रत्येक धर्मग्रंथ के उपसंहार की परंपरानुसार श्रवण-माहात्म्य आता है: प्रत्येक धर्मग्रंथ के श्रवण का माहात्म्य होता है। इससे स्वर्ग, सिद्धि, विजय आदि मिलें ऐसी संभावनायें होती हैं। महाभारत के श्रवण या पाठ में ये सब संभावनायें वास्तविक लगती हैं। मनुष्यविषयक ऐसा पारदर्शी काव्य संसार में दूसरा कोई भी नहीं है। आदमी, उसका अहंकार, उसकी प्रतिभा, उसकी महत्ता, उसका स्वार्थ, उसकी संकुचितता, उसकी ईर्ष्या उसका प्रेम, उसका भाव, उसकी भक्ति, उसकी दिशाशून्यता, उसकी तन्मयता, उसकी गति, उसकी स्थिति, उसकी मति, इन सबका ऐसा विविधलक्षी चित्र पहले या बाद में कहीं भी देखने में नहीं आया है। तीन कृष्णों की यह कथा है यह तो हमने आरंभ में ही देखा। इनमें के एक कृष्ण वासुदेव तो सनातन देवाधिदेव के ही अवतार हैं, दूसरे अर्जुन, इनका उल्लेख भी बारंबार कृष्ण के रूप में आता है। संजय धृतराष्ट्र का संदेश लेकर आता है तब उसने 'एकासनस्थितौ कृष्णौ' (एक आसन पर बैठे दो कृष्ण-कृष्ण और अर्जुन) का उल्लेख किया है। महाभारत-युद्ध के बीच में भी अर्जुन का कृष्ण के रूप में उल्लेख हुआ है। तीसरे हैं महाभारत के रचयिता और महाभारत के महत्त्वपूर्ण पात्रों में से एक कृष्णद्वैपायन व्यास। इन तीन कृष्णों की कथा की समाप्ति इनमें के कवि कृष्ण (द्वैपायन) के शब्दों से होती है। वे अपने पुत्र शुकदेव से समग्र कथा कहने के बाद उसका सार कहते हैं: इस सार में इस कथा में जो कुछ कहा गया है उसका अर्थ है। दाक्षिणात्य प्रति के अधिक श्लोक और ७०३३ उवाच-मंत्रों के साथ एक लाख दो सौ सत्तर धन पौने तीन चरण के इस ग्रंथ का चार ही श्लोकों में संक्षेप देना, यह अद्भुत घटना है। इसे भारत-सावित्री के रूप में जाना जाता है: भारत-साबित्री का प्रथम श्लोक है:

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च,
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे।

(स्वर्गारोहण, ५;६०)

मनुष्य इस संसार में हजारों माता-पिताओं और स्त्री-पुत्रों का संयोग-वियोग अनुभव कर चुका है, करता है और करता रहेगा:

प्रथम श्लोक से ही कवि हमें एक शाश्वत सत्य की ओर सजग करते हैं। महाभारत के संयोग कोई कथा मात्र नहीं हैं, वे तो मनुष्यों के भावतंत्र के सत्य हैं। माता-पिता, स्त्री या पुत्र इन सबका संयोग और वियोग यह कोई कर्ण, द्रौपदी, अर्जुन या धृतराष्ट्र का ही भावी नहीं है। ये संयोग-वियोग भूतकाल में थे, आज हैं और आगे भी होते रहेंगे।

कवि आगे कहते हैं :

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च,
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्।

(स्वर्गारोहण, ५;६१)

मूढ़ मनुष्य को हर रोज हर्ष के हजार अवसर आते हैं, भय के सौ स्थान आते हैं पर जो जानकार हैं, जो पंडित हैं उन पर इनका प्रभाव नहीं पड़ता।

यहाँ कवि ने हर्ष के स्थान हजारों की संख्या में गिनाये हैं और भय के सैकड़ों की संख्या में। यह क्रम सही है। मनुष्य को जीवन 'सुख-अल्प' से भरा लगता है, कारण कि सुख के हजार क्षण भय के एक क्षण के भार के नीचे दब जाते हैं। आदमी सुख के लिए कृतज्ञ नहीं होता पर भय के लिए हमेशा फरियाद करता है। इसीसे उसे हर्ष की विपुलता और भय की अल्पता का ख्याल नहीं आता। जो यह जानता है उसे हर्ष या भय स्पर्श नहीं करते।

अब आगे कवि अधिक बुलन्दी से कहते हैं—

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे,
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

(स्वर्गारोहण, ५;६२)

ऊँचे हाथ करके मैं उच्च स्वर में कहता हूँ पर कोई मेरी बात नहीं सुनता (धर्म से मोक्ष तो मिलता है पर) धर्म से काम और अर्थ भी मिलता है, तब फिर धर्म का सेवन लोग क्यों नहीं करते ?

यहाँ व्यास एक महान् सत्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। प्रत्येक युग में लोग अधर्म की बात करते हैं, भ्रष्टाचार की बात करते हैं, अनर्थ की बात करते हैं, कारण यह कि धर्म का पालन करनेवाले तो कम ही होते हैं। धर्म से मोक्ष मिलता है यही एक बात हमारे मन में जम गयी है। अर्थ और काम के वास्ते तो हम अधर्म का ही आश्रय

लेते हैं। संसार में हमें अर्थ और काम की खपत है, मोक्ष की नहीं। अस्तु, धर्म का रास्ता हम बचा जाते हैं। महाकवि व्यास तो अपने दोनों हाथ ऊँचे करके पुकार-पुकारकर कहते हैं: धर्म से अर्थ और काम दोनों मिलते हैं। आप धर्म का सेवन करें।

अन्तिम श्लोक में कवि तीनों श्लोकों का उपदेश घनीभूत रूप में देते हैं। इसके लिए वे छंद बदलते हैं। अनुष्टुप् के बदले मिश्र उपजाति में कहते हैं—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः,
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।

(स्वर्गारोहण, ५;६२)

काम से, भय से, लोभ से या प्राण बचाने के लिए भी धर्म का त्याग न करो। धर्म नित्य है। सुख और दुःख अनित्य हैं, उनका हेतु अनित्य है।

जो नित्य है उसमें मति स्थिर करना, यही समूचे महाभारत का उपदेश है।

यहाँ प्रश्न यही होता है कि धर्म माने क्या? यह प्रश्न इसलिए होता है कि पूरा महाभारत पढ़ने के बाद भी शाश्वत धर्मगोप्ता कृष्ण वासुदेव के चरित्र को और धर्म के उनके व्यवहार में रखे अर्थ-घटन को हम पूरा-पूरा प्राप्त नहीं कर सकते। धर्म के विषय में बहुत बड़ी व्याख्या मुझे नहीं आती। धर्म की व्याख्या देनी हो तो मैं इतना ही कहूँगा कि मनुष्य और भगवान् जिससे जुड़ते हैं वही धर्म है। मनुष्य और भगवान् के बीच का सम्बन्ध यह हर आदमी को अपने ढंग से रचना है।

अनुकथन

कृष्ण-कथा कभी भी पूरी नहीं होती। उसका वर्णन करने की हमारी शक्ति ही सीमित है। हमारी सीमा आती है तब हम उस कथा को अधूरी छोड़ देते हैं। कृष्ण के साथ मेरा अनुबन्ध कब आरंभ हुआ इसका मुझे ध्यान नहीं है। कृष्ण की लीला अगम्य है। वह चुपचाप कब हमारे जीवन में प्रविष्ट हो जाती है इसका ध्यान ही नहीं आता। वास्तव में कृष्ण ही प्राण-स्वरूप हैं और वे हमें त्याग देते हैं तब हमारी यह देह अर्जुन के रथ की तरह भभककर जल उठती है। कृष्ण हमें कब आलिंगन देकर तृप्त करते हैं और कब कहीं ढूंढ़े न मिलें इस प्रकार खो जाते हैं, इसका हमें तनिक भी ख्याल नहीं आता। मेरी कविता में पहली कृष्ण-कविता कब, किस वय में लिखी गई इसका स्मरण नहीं है। कृष्ण मेरे लिए सर्जन का विषय नहीं हैं, स्वयं सर्जनहार हैं। अस्तु, मैं कृष्णकाव्य लिखता हूँ ऐसा कहता हूँ तब पूरी नम्रता भी धारण करूँ तो भी अहंकार आ जाता है। सच तो यह है कि कृष्ण ने कब मेरी कविता में प्रवेश करना पसंद किया इसका पता उन्होंने मेरी स्मृति में नहीं रहने दिया।

१९६२ में भारतीय विद्या भवन से जुड़ा तब भवन के कुलपति और मेरी गद्य-सर्जकता के प्रेरणारूप बने श्री कन्हैयालाल मुंशी अंग्रेजी में अपना महान् उपन्यास 'कृष्णावतार' लिख रहे थे। उसके गुजराती अवतरण के साथ प्रथम भाग के आधे प्रकरण के बाद से आठवें भाग के बारहवें प्रकरण तक मैं प्रगाढ़ रूप से जुड़ा रहा। इस बारहवें प्रकरण के आगे कृष्ण की कथा मुंशीजी ने समाप्त नहीं की, पर कथा कहती उस कलम को कृष्ण ने थोड़ा क्रूर बनकर रोक दिया। साहित्यकार मुंशी मुझे हमेशा पसन्द आये हैं पर उनके 'कृष्णावतार' की मेरे चित्त पर गहरी छाप पड़ी है। वे यह रचना कर रहे थे तब उनके बहुत पास रहने का अवसर मिला। इसे मैं कृष्ण की कृपा ही मानता हूँ। मेरा पहला उपन्यास, भवन से जुड़ने के बाद, मुंशीजी के अन्तरंग संपर्क में आने के बाद लिखा गया, यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है, पर उपन्यास-लेखन की दीक्षा अप्रत्यक्ष रूप से मुझे मुंशीजी से मिली, इस

हकीकत का ही इसमें संकेत है। कृष्ण द्वारा दिया गया यह विरल वरदान है।

मुंशीजी के कृष्ण की शोध में जब आत्मीय रूप से एकरस बन गया, तब १९५६ में लिखे एक गीत में प्रगट हुई माधव की शोध करने की मेरी प्यास उत्कट बनी, 'माधव क्यांय नथी मधुवन मां' (माधव कहीं नहीं हैं मधुवन में) यह गीत लिखा तब कृष्ण की इतनी ही बेचैन शोध मुझे आधुनिक जीवन में, बीसवीं सदी का सातवाँ दशक पूर्ण हो रहा होगा तब करनी पड़ेगी इसकी कल्पना भी न थी। इस उत्कट शोध में व्यथा थी और उस व्यथा के वरदानस्वरूप 'माधव क्यांय नथी' उपन्यास अवतरित हुआ। सर्जकता के प्रयास के साथ का सम्बन्ध मैं स्वीकार करता हूँ, परन्तु सर्जकता एक वरदान है इस विषय में मेरे मन में शंका नहीं है। मुझे उत्तम कविता लिखनी है ऐसा मेरा संकल्प कभी भी फलित नहीं हुआ—सिवा इसके कि वह संकल्प मेरे हाथों अच्छी-अच्छी कविता लिखी जाय ऐसे मेरे सर्जकता के संकल्प के साथ एक ही बिन्दु पर आया। 'कहो अने कशुंक नीपजे' (कहो और कुछ पैदा हो) ऐसी कितने ही मित्रों की विरल शक्ति को भी मैं वरदान ही मानता हूँ। मुझे यह वरदान नहीं मिला। पर 'माधव क्यांय नथी' के पचीस के लगभग पृष्ठ आज भी मैं पढ़ता हूँ तब मैंने नहीं लिखे पर किसी परमशक्ति ने लिखाये हों ऐसा अनुभव किये बिना नहीं रहता। यहाँ मैं किसी चमत्कार का आश्रय लेना नहीं चाहता। प्रत्येक सर्जन एक चमत्कार है और यह अनुभव मैंने ही पहली बार किया है ऐसा नहीं है। प्रत्येक सर्जक के पास कुछेक ऐसी पंक्तियाँ कि कुछेक ऐसे पृष्ठ होते हैं जिसकी रचना का श्रेय वह इस परमशक्ति को—अथवा उस परम सर्जकता को देने में हिचक अनुभव नहीं करता।

'माधव क्यांय नथी' आरंभ हुआ उससे पहले मुंशीजी का 'कृष्णावतार' लिखा जा रहा था। पूरा हुआ उसके बाद भी मुंशीजी का 'कृष्णावतार' का लेखन जारी था। श्रीमती लीलावती मुंशी ने एक बार एक छोटे-से समूह के समक्ष प्रश्न किया था—"हरीन्द्र, मैंने सुना है आप भी 'कृष्णावतार' लिख रहे हैं।" तब मैंने कहा था—"मम्मी, कृष्णावतार तो बापाजी का ही सर्जन है। कृष्ण की खोज करने की

प्रेरणा मुझे उत्कटता के साथ 'कृष्णावतार' में से मिली है। मैंने तो अपनी खोज की आत्मकथा लिखी है, 'कृष्णावतार' लिखने की मेरी औकात नहीं है।'' ये शब्द मैंने पूरी नम्रता से कहे थे और आज वे सभी शब्द कृतज्ञता के साथ पुनः एक बार लिखता हूँ।

१९७६ के अन्त में कभी एस० एन० डी० टी० विद्या संस्था तथा विलेपारले स्त्री संस्था के संयुक्त तत्त्वावधान में एक व्याख्यान-शृङ्खला में मुझे कुछ बोलना ही है ऐसी सुरेश (दलाल) की आज्ञा हुई तब उस आदेश को अस्वीकार करने के लिए बहुत बहानेबाजी की थी। एस० एन० डी० टी० के शिक्षण सातत्य विभाग की हेमाबहन ने दो-तीन बार फोन किया तब 'मुझे बोलने से बख्श दें तो अच्छा हो' ऐसी दलीलें करता रहा। पर कृष्ण पुनः मुझे अपने पास बुलाना चाहते थे, सुरेश ने कहा—''कोई दलील नहीं चलेगी। तुम्हें दो घंटे बोलना ही है—कृष्ण के किसी भी विषय पर।'' 'कृष्ण और मानव सम्बन्ध' यह विषय तय तो कर डाला, पर फिर कृष्ण की शोध कहाँ की जाय यह प्रश्न हुआ। 'माधव क्यांय नथी' लिखा तब अधिकतर श्रीमद्भागवत और हरिवंश का और कुछ अंश में महाभारत का सहारा लिया था : इस बार महाभारत में के कृष्ण का सहारा लेने का विचार किया और मूल महाभारत के पास जाने की तो तनिक भी हिम्मत नहीं हुई, पर स्व० श्री करसनदास माणेक की 'महाभारत-कथा' के तीनों भागों के पास पहुँच गया। इस पुस्तक का उपशीर्षक है 'व्यास ना पगले-पगले'। एक बार 'महाभारत-कथा' पढ़ना शुरू किया तब उसे छोड़ना अशक्य था। महाभारत के अनेक संक्षेप हुए हैं, हमारे यहाँ (गुजराती में) नानाभाई ने और अंग्रेजी में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने भी यह कार्य किया है। पर स्व० माणेक की तुलना में इनमें से कोई भी नहीं आता। कारण यह कि माणेकजी ने अपनी ओर से कुछ भी नहीं लिखा है। उन्होंने महर्षि व्यास में से ही कुछ उत्पन्न किया है। मुझे जो प्रवचन करना था उसका काम इन तीन पुस्तकों से निपट गया होता, पर माणेकजी ने ये तीन ग्रन्थ अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए नहीं लिखे, महाभारत की प्रतिष्ठा करने के लिए लिखे हैं। ये तीन भाग पढ़ने के बाद समग्र महाभारत के पास जाने का मन न हो यह संभव ही नहीं है। डॉ० प्रतापराय मोदी, प्रो० रतिलाल जानी और प्रा० रविशंकर

जोषी से संस्कृत पढ़ी थी तो भी संस्कृत में कभी भी गहरे प्रवेश नहीं कर पाया था। परन्तु विद्या भवन की लाइब्रेरी में महाभारत के पंडित सातवलेकरजी के मूल और हिन्दी अनुवाद के साथ और काशी से प्रकाशित अनुवाद के साथ ही गीता प्रेस के मूल के साथ हिन्दी अनुवाद की पुस्तकें डॉ० निपुण पंड्या ने उपलब्ध करा दीं। इनमें से इस व्याख्यान के लिए थोड़े से पृष्ठ लिखे गये। तब तो महाभारत पर एक उड़ती नज़र ही डाली थी।

ये लिखित पृष्ठ कौन छापेगा? ऐसा गंभीर, बीच-बीच में संस्कृत अवतरणों के साथ का लंबा तीन-चार भागों में छापना पड़े ऐसा आलेख इस युग में कौनसा संपादक छापने को तैयार होगा? तो भी इसे संक्षिप्त करके, प्रकाशित नहीं करना है, ऐसा संकल्प पक्का था। मैंने थोड़ी हिचकिचाहट के साथ अपने मित्र और 'समर्पण' के संपादक घनश्याम देसाई को ये पृष्ठ दिये, कहा--"यदि पसन्द आये तो ही प्रकाशित कीजियेगा, बहुत लंबा है।" 'समर्पण' में तीन हफ्ते तक चलेगा' घनश्याम ने उसे छापना शुरू किया। दो सप्ताह बाद कहा-'‘हरीन्द्रभाई, आप इसे आगे चलाना चाहते हों तो विस्तार की चिन्ता न करें।" और मूल महाभारत के पास व्यवस्थित रूप से जाने की स्व० माणेकजी की वृत्ति को उन्होंने आगे ठेला। मूल महाभारत के पास गया तब पहली बार 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' का ख्याल आया। मैंने कविता लिखी है या उपन्यास लिखा है इसका तो गर्व ही पिघल गया, पर किसीने भी कविता या उपन्यास लिखा है इसका अहसास भी पिघला दिया इस महाकवि ने। इसमें भी जब कर्ण को हड्डियों के ढेर पर बैठकर सुवर्ण-पात्र में पान करते युधिष्ठिर दिखे यह प्रसंग आया तब तो हममें से कोई भी आधुनिक है, इसका गर्व भी गल गया।

'कृष्ण अने मानव संबंधों' का विचार मेरे मन में प्रेरित हुआ-सुरेश के आग्रह से और यह मेरे लिए तीन वर्ष तक तप बना रहा घनश्याम के प्रेम और प्रेरणा से। कोई समझदार आदमी प्रशंसा करे तो अच्छा लगता है यह पचास वर्ष की वय में भी स्वीकार करते हुए मुझे शरम नहीं लगती। घनश्याम ने तो मुझसे कहा ही, पर बाद में उमाशंकर, सुन्दरम, बेटाइ जैसे हमारे कवियों की ओर से भी प्रोत्साहन के पत्र मिले। इतना ही नहीं, हमारे युवा कवियों रमेश पारेख,

अनिल जोषी या मनोज खंडेरिया ने भी इसमें कितना कुछ मन का छूता है इसका अनुभव कराया।

जो कुछ सबको स्पर्श करता था वह महाकवि व्यास को ही अर्पण था इस बात से पूर्णतः सचेत हूँ तो भी एक प्रमुख उद्योगपति फोन करके इस आलेख की प्रशंसा करें और प्रकाशित करने में कोई कठिनाई हो तो कहें ऐसा सूचित करें या कोई गायनेकोलाजिस्ट (स्त्री-रोग चिकित्सक) डॉक्टर अपनी व्यस्त प्रैक्टिस के बीच रविवार को सबेरे समय निकालकर घर आकर आलेख के बारे में अच्छे शब्द कहें और साथ ही इसके प्रकाशन में मदद रूप होने की जिज्ञासा प्रदर्शित करें, अनेक अपरिचित और परिचितों के पत्र आवें, जिज्ञासाएँ आवें, तब मन में होता है कि कृष्ण वास्तव में कुछ करते हैं। इतना ही नहीं, पर हमारी परीक्षा भी लेते हैं। एक ओर इन सबका आनंद मन में हो, दूसरी ओर यह तो अन्ततोगत्वा व्यास और कृष्ण का ही है इसकी चेतना हो तब खुशी के साथ लघुता का भी अनुभव होता है।

१९७७ से १९८० का यह समय मेरे लिए महत्त्व का समय रहा है और उसमें कृष्ण का सान्निध्य अनेक बार सान्त्वनारूप बना है तो बहुत बार समस्यारूप। कृष्ण के सतत् साथ रहने के उपरान्त भी और कृष्ण के स्वमुख से गीता सुनने के बाद भी यदि अर्जुन कृष्ण को न पा सका तो हम तो किस खेत की मूली हैं इसका भी ख्याल आया। सुन्दरम ने एक पत्र में लिखा–"आप कृष्ण के साथ हैं पर कृष्ण आपकी बहुत मदद करते हों ऐसा नहीं लगता।" बहुत ही मर्मस्पर्शी वाक्य था यह। कृष्ण अपने साथ रहनेवालों को बहुत तपाते हैं। मेरे अस्तित्व के साथ कई प्रकार से घुल-मिल गये मेरे मित्र मकरन्द दवे, ये आलेख पढ़कर मुझे चंग पर चढ़ाते तो साथ ही साथ कहते–'ये कृष्ण तो हमें भट्ठी में लगातार तपाते हैं।" भारतीय विद्या भवन के प्राण समान श्री सु० रामकृष्णन के साथ एक बार पंडरीमलाई स्वामिगल से मिलने का सौभाग्य हुआ था तब उन्होंने कृष्ण के बारे में एक सरस बात कही थी। उन्होंने कहा था–"कृष्ण बड़ी मुश्किल से रीझते हैं। कालान्तर में दूसरे सब देवी-देवता अनेक बार रीझते और खीजते हैं पर कृष्ण पर शायद ही कोई असर होता है।" अस्तु, कृष्ण को रिझाना बहुत ही कठिन है पर जब वे रीझते हैं तब ये अथोर बरसते हैं। फिर वे कोई

कमी नहीं रहने देते। कृष्ण के भक्त को वे रीझें इतनी देर–फिर भले वह जन्म-जन्मान्तर का समय ही क्यों न हो, पर राह देखनी चाहिये।

तीन वर्ष बाद जब महाभारत का अन्तिम श्लोक पढ़ना पूरा किया तब ये शब्द अधिक प्रखरता से याद आये। सुन्दरम और मकरन्द-भाई ने दो भिन्न-भिन्न छोरों से जो बात कही वह एक परम सत्य की प्रतीति करानेवाली थी।

'कृष्ण अने मानव सम्बन्धो' लिखा जा रहा था तब कई प्रकार से एक आलंबन रहता था। अब कृष्ण के साथ का यह स्थूल सम्बन्ध पूरा होता है। थोड़ा भय जागता है—कृष्ण मुझे त्याग तो नहीं देंगे न ? दुनिया सारी त्याग दे पर कृष्ण स्वीकारें तो हम कभी भी परि-त्यक्त नहीं होंगे। दुनिया सारी स्वीकारे और कृष्ण त्याग दें तो हम कभी भी कहीं के नहीं रहते।

मुझे कृष्ण में श्रद्धा है। वे क्रूर हैं, पर हृदयहीन नहीं, वे तपाते हैं, पर खपाते नहीं। 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' कहनेवाले कृष्ण किसीका भी किसी प्रकार हनन कर सकते हैं ? इसीसे कृष्ण तज नहीं देंगे ऐसी श्रद्धा है। कभी वे इस देह को त्याग देंगे, तब यह रथ भभक-कर जले इसकी भी चिंता नहीं है। कृष्ण अगम हैं। वे कब हमारे द्वारा क्या कराते हैं यह हम नहीं जानते।

कृष्ण की कथा यहाँ अधूरी छोड़ता हूँ। मूल संस्कृत बूझने की और जानने की मेरी कमी के फलस्वरूप कई कमियाँ रह गई होंगी इसके लिए विद्वज्जनों से क्षमा-याचना करता हूँ। सभी पाठकों के प्रेम और सद्भाव के लिए कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। जिनके नाम यहाँ नहीं ले सका हूँ ऐसे असंख्य विद्वज्जनों के प्रेम का भाजन बन सका इसे कृष्ण का वरदान मानता हूँ और नारायणस्वरूप कृष्ण तथा अक्षर-स्वरूप अर्जुन को प्रणाम करके विश्राम लेता हूँ।

•

संशोधन-पत्र

पृष्ठसंख्या	श्लोकसंदर्भ	संशोधित श्लोकसंदर्भ	पाठ	संशोधितपाठ
१ आदि पर्व	१६७;१५३	६१;९०	देवीं सरस्वतीं व्यासंततो	देवी सरस्वतीचैवततो
२	१८८;१७	१७७;१६	—	—
	१८७;३०	१७६;२९-३०	मालांचसमुपादाय कांचनीं समलंकृताम,	वीरकांस्यमुपादाय कांचनं समलंकृतम्,
	१८९;१२	१७८;१२	—	—
३	१८९;९	१७८;९	—	—
४	२७४;१६	१९४;१६		
,,	२०७;२६	१९७;२५	यतः कृष्णः ततः सर्वेयतः	यतः कृष्णस्ततस्तेः स्युर्यतः
५	१९१;२०	१८०;१८	—	—
,,	२०९;२८	१९९;२७	—	—
६	२३६;८	२२५;८	वरंवृणीतं	वरान्वृणीतंतुष्टोऽस्मि दुर्लभानप्यमानुषान्
,,	२३६;१३	२२५;१३	—	—
९	२१०;३	२००;३	कथं च पञ्च	कथं वा पञ्च
,,	२१०;१८	२००;१७	—	—
१०	२१५;३०	२०५;२६	—	—
११	२१५;३४	२०५;२९	—	—
,,	२१४;२९	२०४;२८	—	—
,,	२१६;२८	२०६;२७	—	—
१२	२२१;१५	२११;१५	—	—
१३	२२१;१६	२११;१६	—	—

१४	२२३;१०	२१३;१५	—	—
१५	२३२;३१	२१२;३०	कृतंतेनपदंमम्	पदंतेन कृतं मम्
१६	२२३;९	२१३;९	—	—
१८ सभा०	१५;१५	१५;१६	—	—
३७ उद्योग	२८;२	२८;२	कृतस्नोवर्मः	वर्मः कृतस्नो
४६	४८;४६	४८;६	ततः च संजयं	ततः स संजयं
५६ 'साहंकेशग्रहं' उद्योग०		८०;२४		
९२	१५८;३४	१५८;३४	तव फाल्गुन	तव फल्गुन
९६ भीष्म	३;५४	४;५	—	—
,,	३;८५	४;३५	क्षयवन्वोभवल्युत	क्षयवन्तोभवन्त्युत
९७	३;६०	४;११	—	—
८८	४;२०	५;२०	भूमौ चजयते	भुमौ हिजयते
			विनश्यति	प्रणश्यति
			सनातनम्	परायणम्
,,	९;३	१०;३	—	—
९९	१३;२	१४;१२	—	—
,,	१३;१३	१४;१३	सशेतेनिहतोभूमौ	सशेतेनिष्ठनन्भूमो-
			वातभग्न	वातरुग्ण
,,	२१;१३	२१;१३	तद्यथा ···	अन्यथा····
१००	गद्य—३री पंक्ति—भीष्मपर्व के तेरह श्लोकों में यह स्तोत्र आता है।			
,,	२३;१८ —	D		
,,	२३;२८ —	D		
१०१	२५;१ —	२३;१		
१०२	२५;२६–२७	२३;२६–२७		
१०३	२६;११	२४;११		
१०६	—	—	निर्द्वंदो	निर्द्वंद्वो
१५५	४३;१९	४१;१४	उत्सृज्य	योद्धव्ये
,,	४३;२३–२४	४१;१८–१९	—	—
१५८	४३;४२	४१;३७	भूतोऽस्म्यर्थेन	हृतोऽस्म्यर्थेन
,,	४३;४७	४१;४२	हतोपायं	जयोपायं

१५९	४३;४८	४१;४३	न तावन्मृत्यु-कालोऽपि	न शत्रुं तात पश्यामिस मरे यो जयेत् माम् न तावन्मृत्युकालो मे
,,	४३;५७	४१;५२	योत्स्येहं	योत्स्यामि
,,	४९;५९–६०	४१;५४–५५	—	—
१६०	४३;६६	४१;६१	श्रुत्वा तु महद-प्रियम्	श्रुत्वा सुमहदप्रियम्
,,	४३;७३	४१;६९	—	—
१६१	४३;९२	४१;८७	—	—
१६२	५५;१६	५१;१६	प्रव्यथते	विव्यथते
,,	५५;३७	५१;३७	—	—
१६३	५८;४२	५४;४०	—	—
१६३	५९;४२	५५;४१	यस्तेभिकांक्षितः	यः कांक्षितस्त्वया
,,	५९;४३	५५;४१	प्रहरस्व	प्रहरास्मै
१६४	५९;७३	५५;७०	—	—
,,	५९;८३	५५;८०	—	—
,,	५९;८४	५५;८२	यान्तुशिनिप्रवीर	यान्त्वेवशिनिप्रवीर
१६५	५९;८६	५५;८६–८७	बिसृज्य बाहान्	चिसृज्य वाहान्
,,	५९;९७	५५;९४	नमोऽस्तु ते माधव-चक्रपाणे रथोत्तमात्सर्व····	नमोऽस्तुतेशाङ्र्ग-रथांगपाणे रथोत्तमाद् भूत
१६६	५९;९८	५५;९५	हतस्यापि	हतस्येह
,,	५९;१०१	५५;९८	हरिंकिरीटी	हरिंकिरीटमाली
१६७	६५;७	६१; ७	—	—
,,	६५;१५–१६	६१;१४–१५	—	—
१६८	६६;१४	६२;१४	—	—
,,	६६;२५	६२;३४	राजन् सर्वमयो	राजन् सत्त्वमयो
१६९	६८;१२	६४,१०	—	—
१७०	८०;११	७६;११	—	—
,,	८१;९	७७;११	सर्वथाहं तु	सर्वथाऽहं तु
१७१	९६;५–६	९२;५–६	—	—

,,	९७;४१	९३;३९		
१७२	९८;२९	९५;३	परबश्यताम्	परवाच्यताम्
,,	१०६;३८–९	१०२;३६	—	—
,,	१०६;३९	१०२;३७	—	—
१७३	१०६;६५	१०२;६०–६१		
,,	१०६;७३	१०२;६७–६८	ममेष शपेकेशवशस्त्रेण	ममैष शपे माधव सख्येन
१७४	१०७;२९	१०३;२९	—	—
,,	१०७;२९	१०३;२९	फाल्गुनः	फल्गुनः
,,	१०७;३३	१०३;३३	दास्यामिफाल्गुनार्थे	वैदद्यामर्जुनार्थे
१७५	१०७;३७	१०३;३६	—	—
,,	१०७;८५-८६	१०३;८०	लोकेषुमांहन्याद्यः समुद्यतम	लोकेषुयो मांहन्यात्समुद्यतम्
१७६	—	१०३;८९	सैन्य मे	मे सैन्य
,,	१०७;९५	१०३;८९	—	—
,,	१०७;९६	१०३;९३	संषुगे	संयुगे
१७७	११७;२४	११२;१००	—	—
१७८	११९;३२-३३	११४;३१	ना भवेद्गोप्ता	न भवेद्गोप्ता
,,	११९;३५	११४;३३		
,,	११९;३७	११४;३५	युद्धे बुद्धि	युद्धाद्बुद्धि
१७९	११९;६१	११४;५५	मुक्ता सर्वेऽव्यवच्छिन्ना	विमुक्ताअव्यवच्छिन्ना
,,	११९;६५	११४;६०	समाविशन्ति	ममाविशन्ति
१८०	११९;८७–८८	११४;८१	एवं भूतस्तव शिताग्रः	एवं विभोतव शिताग्रेः
,,	१३;३	१४;३	—	—
१८१	१२०;३६	११५;३४	—	—
१८२	१२२;५	११७;५	नित्यमक्षिगतस्तव द्वेष्योऽर्हतवसर्वत्र	नित्यं चाक्षिगतस्तव द्वेष्योऽत्यन्तमनागाः
१८३	१२२;७	११७;७	परिरम्यैकपाणिना	परिष्वज्यैकबाहुना

,,	१२२;९	११७;९	नतवाधिरथः पिता	विदितो नारदान्मम
,,	१२२;१६	११७;१४	चास्त्रसंधाने	भारसंधाने
			फाल्गुनेनासि	फल्गुनेनासि
१८४	१२२;२४	११७;२२	—	—
,,	१२२;२५	११७;२३		
	वसुदेवसुतो ''' दृढ़व्रतः वसुचैवशरीरंच ''' यश		वसुचैव शरीरं च पुत्रदारं तथा यशः सर्वं दुर्योधनस्यार्धेत्यक्तं मे भूरिदणिणा ।	
१८५ द्रोणपर्व	२;६	—	लोकेह्यस्मिन्	अस्मिंल्लोके
			कुवितार्य	कुविताद्य
१८६	८;२९	७;२९	—	—
,,	११;३६	१०;३६	—	—
१८७	११;४४–४५	१०;४४	चास्त्रेणमृत्योः	शस्त्रेणमृत्योः
			कश्चिन्निवार्यते	विमुच्यते
,,	१२;१७	११;१७	पांडवास्तमनुव्रता	कौन्तेयास्तमनुव्रता
१८८	२२;२०	२१;२०	—	—
,,	२९;२२	२८;१९	संयन्तास्वामिति चानघ	संयन्तास्मि जनार्दन
१८९	२९;४२	—	—	—
,,	३५;२४	३४;२४	—	—
१९०	५४;४०	—	ना''''भास्ममैषीः	नः''''मास्मभैषीः
,,	६१;१०–११	—	—	—
१९१	७४;२५	५२;२४	दुःखोषित	दुःखोचित
१९२	७५,३	५३;३	—	—
१९३	७६;२०	५३;५	—	—
,,	७९;३३	५६;३०	यस्तचानु	यस्तमनु
१९४	८६;२	६२;२	—	—
,,	९१;६	६६;६	प्रसादादिच्छेयं ''''प्रभो	प्रसादादिच्छामि ''''विभो
१९५	९१;३०	६६;२९	—	—
,,	९१;३३	६६;३२	—	—
,,	९१;३४	६६;३३	—	—

,,	९२;२४	६७;२४	—	—
१९६	९९;६	७४;६	—	—
,,	९९;५४	—	—	—
१९७	९९;५५	—	—	—
,,	१००;२१	७५;२०	—	—
१९८	१०१;३	७६;३	बाल:	बाल
,,	१०२;४	७७;४	—	—
,,	१०३;७	७८;७	द्यूतमायत्तं	द्यूतमायत्तं
१९९	११३;३१-२२	८८;२६	युद्धते····	····युद्धतो ····जीवन यास्यति–मोक्ष्यसि
२००	१३०;२०	१०५;१७-१८	राजस्तत्र	राजन्नत्र
,,	१३७;३१	—	—	—
,,	१३७;३३	—	—	—
२०१	१४१;९२	११४;६७	—	—
,,	१४३;४०	११८;२३	—	—
२०२	१४३;६१	११८;४३	—	—
,,	१४६;६४	—	—	—
२०३	१४६;१३३	—	—	—
२०४	१४७;२६	१२२;२६	—	—
,,	१४८;३३	१२३;२८	—	—
,,	१७०;९	१३५;८	सर्वामिशंकी	सर्वातिशंकी
२०५	१५०;९	१२५;७	—	—
,,	१५८;१३	१३३;१३	—	—
,,	१५८;२३	१३३;२३	—	—
,,	१५८;३४	१३३;३३	—	—
२०६	१५८;७०	१३३;६४	—	—
,,	१७३;१९	१४८;१५	—	—
२०७	१८०;३	१५५;३	वातोद्धूत	वातोद्धूत
२०८	१८०,१७	१५५;१७	भवांश्चक्रंवाहं	भवांश्चक्रंबाह
,,	१८०;२४	१५५;२४	—	—
२०९	१८२;१४	१५७;१४	—	—

,,	१८४;४६	१५९;४२	—	—
२१०	१९०;४७	१६४;९९	नभवांस्त्रातु····वचः	सभवांस्त्रातु····भवेत्
,,	१९०;५६	१६४;१०७	चतुरंगुलमुच्छितः कहाः स्पृर्श	चतुरंगुलउत्तरः कहास्पृश
२१२ कर्ण	१६;३६	❀	—	—
२१३	६८;२६-२७	४८;१४	तत्केशवाय प्रयच्छ रणे केशवस्य तदाह निष्यत्	तत्केशवाय प्रदाय रणे चेद्दुरात्मन् ततोऽहनिष्यत्
,,	६९;२	४९;२	—	—
२१४	६९;३२	४९;२८-२९	—	—
,,	७०;५९	४९;११५	ह्यावां	आवां
२१५	७९;३९	५७;२३	ह्यन्यं	ऽप्यन्यं
२१६	७९;५२	५७;३६	कृतार्थोऽद्य····वाप्यवा	कृतार्थो····तावथव
,,	७९;६७	❀	—	—
२१७	८३;२०-२१	❀	—	—
२१८	८३;२३-२३	❀	—	—
,,	८४;१६	६२;१४	—	—
२१९	८६;६	❀	—	—
,,	८६;१७	❀	—	—
,,	८७;३	६३;३	द्वाविवार्कौ समुद्गतौ	द्वाविवार्कौ समागतौ
२२०	८७;६४	६३;४७	विजयोदेव	देव विजयो
,,	८७;७३	❀	—	—
,,	८७;१०५	६३;७६	स्थानात् शुष्येदपि महोदधिः तत्वा हन्यात् कर्णोधनंजय	स्थानाच्छीर्येतानेकधाक्षितिः त्वा कर्णोहन्याद्धनंजयम्
२२१	८८;२७	८८;२४❀	—	—
२२२	९०;२६	६६;८	न मादशाः जिह्मयुद्धा	न मादशा शाठ्ययुक्ता
२२३	९०;४८	❀	—	—
२२४	६७;३	६७;५	—	—
२२५	९२;१२	६८;१०	देवं ध्रुवं पार्थवशात्	दैवं यत्रत्स्ववशं

,,	९४;४८	६८;४८	यमाश्रित्या करोद् वैरंपुत्रस्ते सगतो- दिवम्	सदानृणां प्रियोदाता प्रिदयानो दिवंगतः,
,,	९६;३१	६९;२५	—	—
२२६	१;३५	१;३३	धृतराष्ट्रस्त्रयोरथाः	धार्तराष्ट्रस्तथा त्रयः
,,	४;४२	३;४१	—	—
२२७	५;५	४;५	—	—
,,	५;४६	४;४४	विशेषेण	सुहृद्भिश्च
२२८	७;२९	६;२६	—	—
,,	७;४०	६;३६	द्रोणभीष्मार्णवं	भीष्मद्रोणार्णवं
२२९	१६;१८	१५;१७-१८	मद्रकाधिपम्	मद्रकेश्वरम्
,,	१७;५४-५६	१६;५३-५४	पतमान इव चाभवत्	तपमान इव सोऽभवत्
२३०	१९;२९	१८;२७	सत्ययशोनिधिः	धर्म यशोनिधिः
२३१	२२;२३	२६;२१	—	—
,,	२९;२६	२८;२०-२४	तथा दृष्ट्वा महाराज एकः स पृथिविपतिः प्राङ्मुखः	बलक्षयं तथा दृष्ट्वा स एकः पृथिविपतिः प्राङ्मुखः
२३२	३१;६	३०;६	—	—
२३३	३१;४५	३०;४२	नह्यु्त्सहाम्यहं	न म्युत्सहाम्यहं
,,	३१;५८	३०;५४	—	—
,,	३१;६९-७०	३०;६५	जीवयेय महं	जीवयेयं त्वहं
२३४	३२;५२	३१;४९	—	—
,,	३३;७-८	३२;७	—	—
,,	३३;८	३२;८	—	—
२३५	३३;१६-१७	❀	राजेति पुनः	राजेति वै पुनः
२३६	५८;१०	५७;९	—	—
२३७	६०;३९	५९;३५	अस्तु एतद्	अस्तु एवम्
,,	६०;४४	५९;४०	निकूति प्रियः	निकृति प्रियः
२३८	६१;३७-३८	६०;३७	संयुतौ	संयुगे
२३९	—	—	नोपासिताश्चव	नोपासिताश्चैव
,,	६१;४९	❀	—	—

,,	६१;५१	६०;६७	—	—
,,	६१;५३-५४	६०;५०	सानुगश्चैव स्वर्गं	सानुबन्धश्च स्वर्गं
२४०	६१;५८	६०;५४	—	—
,,	६२;१३	६१;१३	अथादीप्तो	अथदीप्तो
,,	६२;१९	६१;१९	—	—
२४३	६२;२७	६१;३१	—	—
२४४	६३;४५	६२;४३	—	—
,,	६३;५९-६०	६२;५६	तच्छृणु	सुव्रते
,,	६३;६४	६२;५९	—	—
२४६	६५;२९	६४;२८	—	—
२४७	सौप्तिक १;४५-४६	१,४४	प्रासः	प्रास
२४८	१;६९	१;६६	मोहादपनीयते	मोहादपचीयते
,,	२;६	२;६	ह्यनुत्थानं च दैवतम्	ह्यनुत्थानस्य दैवतम्
			पूर्वस्तत्र विनिश्चयः	पूर्वंकस्तत्र निश्चयः
२४९	३;३	३;३	बुद्धिर्या या	बुद्धिसा सा
२५०	४;२२	४;२१	—	—
,,	४;३०	४;२९	—	—
,,	४;३१	४;३०	च तानहं	हि तानहं
			सत्तम	मातुल
,,	५;१८	५;१६	—	—
२५१	५;२८	५;२६	—	—
२५२	७;५	७;५	सुविशुद्धेन	प्यसुचिन्त्येन
२५३	७;६२-६३	७;६०-६१	—	—
,,	७;६५	७;६३	—	—
२५४	८;२२-२३	८;२०	—	—
,,	८;१५२	८;४४	—	—
,,	८;१५४-१५५	८;१४६-१४७	—	—
२५५	९;५४	९;५३	—	—
२५७	१२;३६	१२;३५	त्वयासह	येत्युत
२५९	१६;१६	❀	जग्धं	दग्धं
२६०	१८;२१	१८;२१	स्थाप्य	प्रास्यत्

२६२ स्त्री	४;१८	❀	—	—
२६४	८;२६-२७	८;२४	—	—
,,	९;१४	❀	—	—
,,	१२;७	११;७	यच्चावधीत् पितृन भ्रभृन गुरु पुत्रान्	यदावधीत् पितृन् भ्रातृन् गुरुन्
२६५	१२;१३	११;१३	—	—
२६६	१२;२९	११;२९	न त्वेतत् ते क्षमं राजन् हन्यास्तवं	नचते तत्क्षमं राज- हन्यास्त्वं
२६७	१४;८	१३;८	शिवमाशास्व	शिवमाशास्स्व
,,	१४;९	१३;९	—	—
२६८	१४;१९	१३;१७	किंतु कर्मा	यत्तु कर्मा
२६९	१५;२	१४;२	धर्मस्त्रासात्	धर्मसुत्रासात
,,	१५;१५	१४;१४	—	—
२७०	१५;३०	१५;६-७	—	—
,,	पंक्ति १८	—१५;७	एतदृष्ट्वा	दृष्टवा
२७१	२५;३४	२५;३१	—	—
,,	२५;४४-४५	❀	—	—
२७२	२५;४८	❀	—	—
,,	२७;१२-१३	२७;११	—	—
२७३	२७;२९	❀	—	—
,, शांति	१;३९	१;३८	—	—
२७४	१;४२	१;४१	—	—
,,	७;४२-४३	७;३९	सुखानिच निर्ममः क्वचित्	तथैव च विज्वरस्तथा
,,	३७;२१	३८;२१	—	—
२७५	४६;५	४६;५	काष्ठकुड्य	स्थाणु कुड्य
२७६	४६;१२	४६;११	—	—
,,	४६;२२	४६;२२	चातुर्विद्यं राजधर्मांश्च- निखिलान	चातुर्वेद्यं चातुर्वर्ण्यस्य धर्मं च
२७७	४७;२६	४७;१६	—	—
२८०	५०;१७	५०;१७	उपदेष्टुभवान्शक्तो	भवान्ह्युपदिशेच्छ्रेयो

,,	५०;२८	५०;२८	गुणौर्युक्तः	गुणैस्तुल्यः
२८१	५०;३८	५०;३६	—	—
,,	५२;५	५२;५	मोक्षाणां सोऽर्थ	शास्त्राणां सोऽर्थान्
२८५	५३;१५	५३;१४-१५	—	—
२८५	५४;१२	५४;१२	नान्यस्तु देवकी-पुत्रात्	नान्यस्त्व देवकीपुत्रा
२८७	५४;२०	५४;१९	स्थास्यते	स्थास्यन्ति
,,	५५;११	५५;११	धर्मराजोयुधिष्ठिरः	धर्मराजो सःयुधिष्ठिरः
२८९	२०७;१-२	२००;१-२	—	—
,,	२०७;५	२००;५	—	—
२९०	२०७;४६	❀	—	—
२९१	२०७;४६	❀	—	—
,,	२०७;४९	२००;४६	—	—
,,	२०९;३६	❀	—	—
२९२	२०९;३६	❀	—	—
,,	२०९;३६	❀	—	—
,,	२०९;३६	❀	—	—
,,	२०९;३६	❀	—	—
२९३	२१०;९	२०३;८	—	—
२९४	अनुशासन १;१	१;१	श्रुत्वेद	कृत्वेद
२९५	१;९	१;७	—	—
,,	१;२२	१;१५	—	—
२९६	१;२४	१;१७	—	—
,,	१;३५	१;२८	—	—
,,	१;५०	१;४३	प्रचोदित्तोऽहं कालेन	कालेनाहं प्रणुदितः
२९७	१;८०	१;६३	नैह्यहं	नैवाहं
,,	१;७२	१;६५	—	—
,,	१;७९	१;७२	—	—
२९९	६;४४	६;४४	प्रहासुमुपगच्छति	म्लानिमुपगच्छति
३००	७;३३	७;२२	—	—
३०३	१२;५०	१२;४५	पुंस्त्वं नेच्छामि	प्रसन्ने त्वयि
,,	२;५२	१२;४७	—	—

,,	१३;६–	❀	—	—
३०४	१४;१३	❀	—	—
३०६	१९;९१-९२	२०;६४-६५	सहस्रे किलनारीणां प्राप्येतैका	सहस्रैका यता नारी प्राप्नोतीह
३०८	५१;२२	५१;२२	वर्णेषु चोत्तमाः	वर्णमहत्तमाः
			पुरुष व्याघ्र	पृथिविपाल
,,	८२;२४	८१;२३	निवसत्वं	निवस नः
३१०	९७;२१	१००;२१	—	—
३११	१४७;३८	❀	—	—
,,	१४७;६०	❀	—	—
३१२	१४८;११	❀	—	—
,,	१५४;३२	१३९;३१	—	—
३१३	१५८;२६	१४६;२४	एव पार्थाय.... प्रायच्छत्	एवाश्वः.... प्रयच्छत्
			स बन्धु	बन्धु
			चतुरश्वस्त्रिनाभिः	चतुरस्रश्च तस्य
३१५	१५९;३७	१४४;३३	—	—
,,	१५९;३९-४०	१४४;३५	—	—
३१६	१५९;४४	१४४;३९	—	—
,,	१६७;३९	१५३;३८	त्रायस्व.... नित्यशः	D
३१७	१६८;३२-२३	१५४;२९	अयुध्यत	युध्यमानो
			देवि	नुन्न
३१८	आश्वमेधिक १;१०	१;९	महीपते	विशांपते
			ययोःपुत्रशतं	पुत्रैर्विहीनो राज्येन
			नष्टं स्वप्नलब्धं यथा धनम्	स्वप्नलब्धधनो यथा।
३१८	२;२	२;२	चैतस्य	वैतस्य
३१९	२;१८	२;१७-१८	असकृच्चापि	असकृच्चैव
,,	३;२	३;१	च युक्तोऽयं	नियुक्तोऽयं
३२१	१२;१२	१२;११	—	—
,,	१२;१४	१२;१२	—	—
३२३	१३;३	१३;३	च भवेन्मृत्युर्न	द्व्यक्षरोमृत्युर्न

,,	१३;१४	१३;१२	—	—
,,	१३;१५	१३;१६	—	—
३२४	१६;६	१६;६	यत् तद् भगवत	यत्तद् भवता
			भ्रष्ट चेतसा	नष्ट चेतसा
३२५	१६;११	१६;१०-११	ह्यसि पांडव	श्चासि पाण्डव
			न च शक्यंपुनर्वक्तु	नशक्यं तन्मया भूय-
			मशेषेणधनंजय	स्तथा वक्तुमशेषतः

३२६––५१ गीता और अनुगीता

३री पंक्ति–"१२७३ श्लोक हैं—"के आगे जोड़ें–(दक्षिणात्य प्रति के वैष्णवधर्म सहित)

६ठी पंक्ति–'३५ श्लोक अनुगीता' के स्थान पर पढ़ें "५३ श्लोक अनुगीता"

३२९	१८;१३	१८;१२	—	—
,,	१८;३१-३२	१८;३०-३१	दुखंसर्वमिति	सर्वदुःखमिति
३३०	१९;५१	१९;५१	विशुद्धेनान्तरात्मना	विदग्धेनाकृतात्मना
३३१	२०;७	२०;७	मुहूर्तमपि	मौर्त मित्युप
,,	२०;९	२०;९	वर्त्मसु	कर्मसु
			तेभ्यो दृष्टयायतनं	तेन दृष्टमायतनं
३२२	२०;२८	२०;२७	पूर्णास्त्रिभिः	पूर्णास्तेऽभि
३२३	२१;१०	२१;५	—	—
३२४	२१;२०	२१;१५	—	—
,,	२१;२५-२६	२१;२०-२१	वाणी	चापि
३३६	२२;२९	२२;२९	अस्मान् विना	अस्मानृते
			स्तावदते त्वां न	स्त्वामप्युतेऽस्मान्न
			भजेत प्रहर्षः	भजेत हर्षः

३३७ = छूट––"गुरुशिष्य संवाद के रूप में आलेखित करने के बाद कहते हैं : के आगे जोड़ें––

अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यं च विद्धि में

(आश्वमेधिक ५०;४५)

हे महाबाहु, मैं हो गुरु हूँ और मेरा मन ही शिष्य है।

कृष्ण की लीला अपार है। गीता के ज्ञान की विस्तृत मीमांसा–सभी अनुगीता कहने के बाद कृष्ण पुनः प्राकृत मानवी के रूप में आ जाते हैं और कहते हैं :––

,,	५१;५०	५०;४९	फाल्गुन	फल्गुन
३३८	५२;१४	५१;१४	परमात्मा च	परमो वक्तुं
,,	५२;५२	५१;५०	—	—
३३९	५३;२२	५२;२२	शक्तेन हि	हि शक्तेन
			ते परीताः	उपचीर्णाः
			नश्यन्तस्म ह्युपे-क्षिताः	यस्त्वेवान्समुपेक्षया।
,,	५५;३७	५४;३५	—	—
३४०	६०;२	५९;२	रूपज्ञश्च	कार्यज्ञश्च
३४१	६१;७८	६०;७	मेद्य	मेऽद्य
३४३	६६;२६	६५;२६	—	—
,,	६७;११	६६;११	—	—
,,	६८;९-१०	६७;९	—	—
३४४	६९;६	६८;६	सत्वमधर्मनाव-बुध्यसे	संस्त्वमधर्ममवबुध्यसे
३४५	८;१८	६८;१८	—	—
३४६	६१;१९	६८;१९	—	—
,,	६९;२०	६८;२०	—	—
३४७	६९;२१	६८.२१		
३४८	६९,२२	६८,२२		
,,	६९,२३	६८,२३	संजीवतामयम	संजीवतामिह
३५०	८०,८	८३,८	पुराणः शाश्व-तोक्षरः	पुरुषः शाश्वतोऽव्ययः
३५१	८७,३-४	८९,३-४-५	किं निमित्तं स नित्यं हि	मन्निमित्तं हि स सदा
			धीमन्निति	धीमानिति
			कौन्तेयं रहोजिष्णुं	वार्ष्णेय सदा कुन्ती
			जनार्दन	सुतं रहः,
			पाण्डुनन्दनः	कुन्तिनन्दनः
३५२	९२,२	९५;२१	—	—
३५३	९२;५३	९२;५३—❀	—	—
,, मौसम	१;२४	२;१३	—	—

३५४	१;२५	२;२५	—	—
३५५	४;९	४;८	पुरीमिमामशक द्रष्टुमद्य	मां द्रष्टुमिहाद्य शक्तः
३५६	४;२१	४;२१ ❀	—	—
,,	४;२३	५;२०	—	—
३५८	७;२	८;२	बन्धुभिश्चैव शक्यामीहकथंचन	मधुभिश्चैव शक्तश्चिरमिह प्रभो
३५९	७;६३	८;६१	—	—
३६४	८;२०-२२	८;२०-२२	पश्याम्यहमच्युतम् पश्चाच्च नाशयम्	पश्याम्हमद्यतम् पश्चाद्वयनाशयम्
३६१महाप्रस्थानिक	१;३	१;३	कालपाशमहं	कर्मन्यासमहं
३६२स्वर्गारोहण	४;२	४;२	सादृश्येनैव सूचितम्	सादृश्येनोप सूचितम्
,,	५.२४	५;२४ ❀	—	—
३६३	५;६०	५;४७	—	—
३६४	५;६१	५;४८	—	—
,,	५;६२	५;४९	—	—
३६५	५;५२	५;५०	—	—

●

संकेत : संशोधित श्लोक संख्या——सातवलेकरजी की आवृत्ति के अनुसार है।

❀ गीता प्रेस की आवृत्ति में।

श्लोक संख्या नहीं दी है——दाक्षिणात्य पाठ से लिया है,

या गीता प्रेस के श्लोक के आगे (—— ❀) रक्खा है।

(D) निकाल दें, छोड़ दें।